सुकवि-समीक्षा

[हिन्दी के प्रमुख प्राचीन और अर्वाचीन
कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन]

लेखक

डा० दशरथ ओझा
एम० ए०, पी-एच० डी०

डा० विजयेन्द्र स्नातक
एम० ए०, पी-एच० डी०

शिक्षा भारती, दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
१९५८

मूल्य
पांच रुपए

शिक्षा भारती
१. रामकिशोर रोड, दिल्ली

हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली द्वारा मुद्रित

भूमिका

हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन प्रमुख कवियों का आलोचनात्मक परिचय प्रस्तुत करने के उद्देश्य से 'सुकवि-समीक्षा' का प्रणयन किया गया है। हिन्दी साहित्य का 'आदि-काल' जिसे अपभ्रंश काल भी कहते हैं, साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हीन नहीं है किन्तु उस काल की अभिव्यंजना परवर्ती काल से सर्वथा भिन्न है, अतः हमने इस संग्रह में उस काल के किसी कवि की समीक्षा नहीं की है। हिन्दी का अभिव्यंजना सौष्ठव भक्तिकाल से निखरना प्रारम्भ हुआ और शनैः-शनैः भाषा की दृष्टि से वह परिनिष्ठित होता गया। भक्तिकाल में निर्गुण, सगुण और प्रेममार्गी शाखा के कवियों में कबीर, सूर, तुलसी, जायसी, मीराबाई जैसे समर्थ कलाकार उत्पन्न हुए, फलतः यह काल हिन्दी साहित्य में स्वर्णकाल के नाम से प्रसिद्ध हो गया। हमने 'सुकवि-समीक्षा' में इस काल के सभी प्रति-निधि कवियों को विस्तारपूर्वक स्थान दिया है।

भक्तिकाल के बाद रीतिकाल का इतिहास-ग्रंथों में स्थान है। रीति शब्द से काव्यांगों का बोध होता है किन्तु इस काल के सभी कवि आचार्य कोटि के काव्य-शास्त्री नहीं थे। यथार्थ में अधिकांश कवियों की दृष्टि शृंगार रस और नायक-नायिका भेद से आगे नहीं गई। संख्या की दृष्टि से तो इस काल में शताधिक अच्छे कवि उत्पन्न हुए किन्तु उनमें से प्रतिनिधि कवियों का ही हमने चयन किया है। केशव, देव और भूषण इस काल की विविध शैलियों के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। आचार्यत्व का प्रदर्शन करने में केशव की समता करने वाला कोई दूसरा कवि नहीं है। रीतिबद्ध कवियों में महाकवि देव का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। भूषण का स्थान शृंगार विरोधी काव्यधारा प्रवाहित करने के कारण मूर्धन्य पर है। वीर रस के अवतार के रूप में भूषण हिन्दी साहित्य में पूजित हैं। इस प्रकार प्राचीन कवियों के विशाल समूह में से हमने केवल आठ कवियों का चयन किया है।

अर्वाचीन कवियों के चयन में व्यक्तित्व एवं प्रवृत्तिगत वैशिष्ट्य का विशेष ध्यान रखा गया है। भारतेन्दु युग का प्रतिनिधित्व स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जितना अच्छा करते हैं उतना उस युग का अन्य कोई कवि नहीं कर सकता। द्विवेदी युग में 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त ही सब दृष्टियों से प्रतिनिधि कवि हैं। छायावादी युग के प्रतिनिधि 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' और महादेवी की समीक्षा उनके क्रमिक विकास को दृष्टि में रख-कर लिखी गई है। माखनलाल और 'दिनकर' दोनों ही राष्ट्रीय भावनाओं के गायक समर्थ कवि हैं। इस प्रकार इन नौ कवियों की आलोचना हिन्दी की आधुनिक काव्यधारा का सम्पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने में सहायक हो सकती है।

'सुकवि-समीक्षा' का कतिपय विशेषताओं का उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक न होगा। समीक्षा लिखते समय प्रारम्भ में जीवनवृत्त तथा रचनाओं का परिचय दिया गया

है, तदनन्तर काव्य-सौष्ठव एवं अभिव्यंजना कला के आधार पर मूल्याङ्कन की शैली से सरस एवं सरल भाषा में आलोचनात्मक अध्ययन है। पुस्तक के कलेवर को ध्यान में रखते हुए, संक्षेप में, कवि की मूल प्रवृत्तियों का ही पर्यालोचन इसमें उपलब्ध होगा। अध्ययन को मौलिक एवं ठोस बनाने के लिए कवियों के अन्तरतम में पैठने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया है। साहित्यिक शैली में लिखा कवियों का यह परिचय पाठक को मुग्ध कर सके और समीक्षा के नीरस वातावरण से दूर रसलीन होकर वह इन कवियों का अध्ययन कर सके, यही हमारा ध्येय रहा है।

हिन्दी-साहित्य प्रेमी पाठकों तथा विद्यार्थियों ने यदि इस पुस्तक को पढ़कर कवियों से परिचय प्राप्त किया तो हम अपना परिश्रम सफल समझेंगे।

दशरथ ओझा
विजयेन्द्र स्नातक

क्रम

प्राचीन कवि

अर्वाचीन कवि

प्राचीन कवि : डा० दशरथ ओझा
अर्वाचीन कवि : डा० विजयेन्द्र स्नातक

प्राचीन कवि

१. महात्मा कबीर

जीवन वृत्त

संस्कृत और हिन्दी दोनों के प्राचीन साहित्यकारों के लिए यह प्रसिद्ध है कि उनकी जन्म या मरण तिथियां निर्विवाद रूप से प्राप्य नहीं हैं। कबीर भी इस नियम के अपवाद नहीं हैं। विभिन्न अनुसन्धान-कर्त्ताओं ने विविध रूप से कबीर की जन्म-मरण सम्बन्धी तिथियाँ स्थिर करने का प्रयास किया है पर फिर भी यह विवाद ज्यों का त्यों बना है। कबीर ने अपने जीवन के विषय में यत्र-तत्र उल्लेख किया है। अतः उनके जीवन पर प्रकाश डालने के लिए कबीर के ग्रन्थों और विभिन्न विद्वानों के निबन्धों का अवलोकन करना अनिवार्य है।

इनके जन्म के विषय में कबीर-पंथियों में यह दोहा प्रसिद्ध है—

चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठये।
जेठ सुदी बरसायत को, पूरनमासी प्रगट भये॥

इस दोहे के साधारण अर्थ से कबीर का जन्म संवत् १४५५ ज्येष्ठ पूर्णिमा, सोमवार के दिन ठहरता है। परन्तु ज्योतिषियों के अनुसार संवत् १४५५ की ज्येष्ठ पूर्णिमा के दिन सोमवार नहीं पड़ता। डा० श्यामसुन्दरदास का कथन है कि यदि, चौदह सौ पचपन साल गये, का अर्थ १४५५ वर्ष व्यतीत हो जाने पर, ऐसा लें तो संवत् १४५६ की ज्येष्ठ पूर्णिमा उनका जन्म दिन ठहरता है। परन्तु ज्योतिष की गणना के अनुसार उस दिन भी सोमवार नहीं पड़ता। संवत् १४५५ की ज्येष्ठ की अमावस्या को चन्द्रपवार पड़ता है। बरसायत को, वट सावित्री का अपभ्रंश माना है। 'वट सावित्री' का व्रत भी ज्येष्ठ की अमावस्या को होता है। अतः उनका जन्म ज्येष्ठ अमावस्या चन्द्रवार को मान लेना उपयुक्त होगा।

कबीर के जन्म के संबंध में कई कथाएं और किंवदंतियां प्रचलित हैं। उनमें से एक बहुत प्रसिद्ध है। कहते हैं, काशी में रामानन्द का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामी जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह अपनी लज्जा छिपाने के लिए तथा समाज के भय से लहरतारा तालाब पर फेंक आई। पर सुयोग से थोड़ी ही देर बाद नीरु जुलाहा अपनी द्विरागत पत्नी नीमा के साथ उधर जा निकला। इस सुन्दर बालक को देख कर पत्नी के मना करने पर भी उसे घर ले आया। यही बालक कालान्तर में महात्मा कबीर बना।

मुसलमान घराने में लालित-पालित होते हुए भी कबीर में हिन्दू भाव से भक्ति करने की प्रवृति दिन पर दिन प्रबल होती गई। वे राम नाम जपा करते थे और कभी-कभी

तिलक भी लगाते थे। उस समय स्वामी रामानन्द का यश चतुर्दिक फैल रहा था। स्वामी जी वर्णाश्रम धर्म के पक्षपाती होते हुए भी अपने विचारों में संकीर्ण न थे। कबीर के हृदय में उनकी शिष्यता प्राप्त करने का विचार उत्पन्न हुआ। परन्तु उन्हें एक आशंका थी कि सम्भवतः वे मुझे मुसलमान जानकर शिष्य न बनावें अतः एक दिन वे रात्रि के पिछले पहर में पंचगंगा अथवा मणिकर्णिका घाट की सीढ़ियों पर जा पड़े जहां से रामानन्द जी स्नान करने के लिये उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अंधेरे में रामानन्द जी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानन्द जी चट बोल उठे, 'राम राम कह'। कबीर ने इसी को गुरु मंत्र मान लिया और वे अपने को रामानन्द जी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग करते और जीविकार्थ जुलाहे का व्यवसाय भी करते थे।

कबीर-पंथ में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफी फकीर को ही कबीर का गुरु मानते हैं। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर को राम नाम की दीक्षा रामानन्द जी से प्राप्त हुई थी क्योंकि कबीर स्वयं कहते हैं—

कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द,

और **काशी में हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चिताये,**

कबीर ने दूर-दूर तक देशाटन किया। हठयोगियों तथा मुसलमान फकीरों का सत्संग किया। फलतः हो सकता है कि सूफी सन्त शेख तकी का उन पर अधिक प्रभाव पड़ा हो।

इनकी मृत्यु के विषय में भी अनेक मत हैं। भक्त-माल में एक दोहा मिलता है जिसके अनुसार संवत् १५४९ में ये काशी से महगर चले गये थे और वहां अगहन सुदी एकादशी को स्वर्ग सिधारे थे। यह तिथि ठीक नहीं ज्ञात होती क्योंकि संवत् १५५१ में तो ये सिकन्दर लोदी से मिले थे जिसका कबीर ने स्वंय वर्णन किया है।

कबीर-पंथियों में एक दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् पन्द्रह सौ पछत्तरा, कियो मगहर को गौन।
माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥

संवत् १५७५ में इन्होंने मगहर को गमन किया और उसी वर्ष माघ शुक्ला एकादशी को इनका देहावसान हुआ। यह तिथि ठीक प्रतीत होती है क्योंकि इस में सिकन्दर लोदी-जिसका राजत्वकाल संवत् १५७४ से १५८३ तक था,—से मिलना भी सम्भव है।

रचनाएं

कबीर के नाम पर चलने वाली पुस्तकों की संख्या कई दर्जनों तक पहुंचती है परन्तु इनमें अधिकांश वस्तुतः कबीर की लिखी नहीं हैं। कबीर साक्षर नहीं थे; यह तो वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

मसि कागद छुओ नहीं, कलम गही नहीं हाथ।

अतः कबीर के पदों का उनके शिष्यों ने संकलन किया होगा। इसलिए यह बता सकना

कठिन है कि कौन-सी रचना कबीर की है और कौन-सी परवर्ती काल के उनके भक्तों की। उनकी रचनाओं का कोई भी संग्रह ऐसा नहीं मिला है जिसके बारे में निस्संदिग्ध होकर यह कहा जा सके कि यह उनके समय की रचना है।

कबीर ग्रन्थावली : श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित, जिसकी आधारभूत प्रति के सम्बंध में यह दावा किया गया है कि यह कबीरदास की मृत्यु के १५ वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी अतः वह अत्यधिक प्रामाणिक हो सकती है। परन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में यह सिद्ध किया है कि यह दावा गलत है। कारण बताते हुए द्विवेदी जी लिखते हैं कि डा० श्यामसुन्दरदास जी ने इस ग्रन्थ के सम्पादन में दो प्रतियों से सहायता ली है जिनमें 'क' प्रति १५६१ की बताई जाती है और 'ख' प्रति संवत् १८८१ की। परन्तु दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। दोनों की लिपि भी एक-सी है अतः प्रो० जुल्स ब्लाख का यह अनुमान है कि दोनों के लिपिक समकालीन थे, जिससे जान पड़ता है कि दोनों प्रतियों के लेखन-काल में बहुत अधिक अन्तर नहीं है। इसका एक प्रमाण तो यह है कि दोनों पुस्तकों में रमैनी शब्द का व्यवहार है जो बहुत बाद में सन्त साहित्य में प्रचलित हुआ है। सम्भवतः पहली प्रति भी १८वीं शती के अन्तिम भाग में संकलित हुई है।

आदि ग्रन्थ के पद : सिक्खों के गुरु ग्रंथ साहब का संकलन संवत् १६६१ में माना जाता है। इसमें कबीर की बहुत-सी वाणियों का संकलन किया गया है। आदि ग्रन्थ से इन वाणियों को उद्धृत करके डा० रामकुमार वर्मा ने इन्हें पृथक रीति से मुद्रित कराया है। इस संग्रह में ऐसे पद जरूर हैं जो सं० १६०५ तक कबीर-लिखित माने जाते थे। कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह यही है। परन्तु ग्रन्थ साहब में ही, वही पद जो कबीर के नाम से संगृहीत हैं, दूसरे सन्तों के नाम से मिल गये हैं। इससे यह सिद्ध है कि आदि ग्रन्थ में संगृहीत कबीर के पदों की प्रामाणिकता भी विश्वसनीय नहीं है। फिर भी प्राचीनता की दृष्टि से इसका महत्व है।

बीजक : तीसरा संग्रह, जो प्रामाणिक माना जाता है, बीजक है। यह कबीर-पंथी सम्प्रदाय में सबसे अधिक मान्य है। कबीर ने इस ग्रन्थ को अपने दो शिष्यों जगजीवनदास और भगवानदास को दिया था। भगवानदास द्वारा स्थापित गद्दी इस समय छपरा जिले के धनौती मठ में है। वर्तमान बीजक १८वीं शताब्दी में धनौती मठ से प्रकाशित हुआ है, ऐसा कहा जाता है। कबीर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को समझने के लिये इस ग्रन्थ को प्रमाण माना जाता रहा है। इस पर कई महत्वपूर्ण टीकाएं लिखी जा चुकी हैं, जिनमें दो टीकाएं अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। एक तो पूरनदास की लिखी हुई टीका है जो पहिले पहल १८९२ में प्रकाशित हुई थी। दूसरी टीका रीवां नरेश विश्वनाथसिंह जू देव की है जो प्रथम बार बनारस से छपी थी। बीजक की टीकाओं में यह सबसे अधिक पांडित्यपूर्ण है परन्तु इसमें साकेतवासी राम का प्रतिपादन है अतएव सम्प्रदाय में इसका आदर नहीं।

मान्य विद्वानों ने कबीर की वाणी के तीन भाग किये हैं—रमैनी, साखी और सबद।

रमैनी : बीजक का अति महत्वपूर्ण अंश रमैनी है। इसमें साधारणतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा संकलित किया गया है। इनमें से कुछ रमैनियां आदि-ग्रन्थ में मिलती हैं जिन्हें किसी राग के नाम से ही लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि आदि ग्रन्थ के संकलित होने तक रमैनी शब्द का प्रयोग नहीं होता था। बीजक में 'ग्यान चौतिसी' तथा आदि ग्रन्थ में 'बावन आखरी' जिनको कहा गया है, कबीर ग्रन्थावली की 'ख' प्रति में उनकी संज्ञा रमैनी है। अतः यह अनुमान करने में कोई बाधा नहीं कि रमैनी शब्द का प्रचलन बाद में हुआ। दोहा-चौपाई में लिखी गई तुलसीदास की रामायण से कबीर-पंथियों को अपनी रामायण लिखने का प्रोत्साहन मिला और १८वीं ई० शताब्दी में किसी समय दोहा-चौपाई में लिखित पदों को रमैनी कहा जाने लगा। बाद में चल कर कबीर-पंथियों ने जो कुछ लिखा उसे कबीर कृत रमैनी मान लिया गया। इन बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि बीजक का वर्तमान रूप १८वीं शताब्दी में कभी प्राप्त हुआ होगा।

साखी : कबीर की रचनाओं में साखी और सबद पर्याप्त पुराने हैं। साखी शब्द का अर्थ है साक्षी अर्थात् वे वाक्य मानो गुरु के मुख से प्रत्यक्ष उपदेशों के रूप में निकले हैं। गुरु के उपदेशों को ही गुरु की साखी माना जाता था। गुरु के उपदेशों को चाहे वे किसी भी छन्द में हों, साखी कहा जाता था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने साखी से दोहे को अलग गिनाया है—"साखी सबदी दोहरा"— जिससे दो बातों का पता लगता है। एक तो यह कि सभी दोहे साखी नहीं होते और दूसरे यह कि साखी दोहे से भिन्न छन्दों में भी लिखी जा सकती है।

सबद : सबद वस्तुतः गेय पद हैं। इनकी परम्परा बहुत पुरानी है। बीजक में जो पद संगृहीत हैं उनमें खण्डन-मण्डन और ज्ञान की कथनी की प्रवृत्ति अधिक है और ग्रन्थ साहब तथा कबीर ग्रन्थावली में संगृहीत पदों में भक्ति और आत्म-समर्पण के भावों की प्रधानता है।

कबीर की भाषा एवं रचना शैली

कबीर साहब की रचनाओं के संबंध में विभिन्न परम्पराओं के रहते हुए उनकी भाषा-शैली निर्णय कर लेना सरल नहीं। जिन लोगों ने इस ओर प्रयत्न किया है उन्होंने अधिकतर अपने अनुमान का आधार उसी रचना संग्रह को बनाया है जिसकी ओर उनका विशेष ध्यान गया है, और ऐसे संग्रहों की भाषा में बहुत कुछ अन्तर पाए जाने के कारण, उनमें स्वभावतः मतभेद ही दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए 'कबीर बीजक' की भाषा के विषय में लिखने वालों का कहना है कि वह बनारस, मिर्जापुर एवं गोरखपुर के आस-पास की बोली है। कबीर ग्रन्थावली को देखकर इसकी भाषा को पंचमेल खिचड़ी का नाम दिया गया। किसी-किसी को इसमें पंजाबीपन की अधिकता दिखाई पड़ी।

कबीर बीजक में एक साखी है जिसमें लिखा है कि हमारी बोली पूरब की है। उसके आधार पर कुछ लोगों ने कह दिया है कि कबीर तो स्वंय ही अपनी भाषा का निरूपण करते हुए पूरबी बतलाते हैं। परन्तु उन्होंने इस साखी के शब्दों पर ध्यान न देकर भ्रान्ति

पैदा कर दी है।

बोली हमारी पूरब की, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो सोई लखै, धुर पूरब का होय॥

'पूरब की' को समझते समय हमें 'धुर' तथा 'लखै' शब्द पर विचार करना चाहिए। 'धुर' शब्द का अर्थ है एक दम दूर और 'लखना' का अर्थ है पहचानना। 'पूरब' के अर्थ के लिए एक और पंक्ति देखिए—

पूरब दिसा हंस गति होई,
है समीप संधि बूझै कोई।

यहां पर स्पष्ट है कि 'पूरब' शब्द का क्या अभिप्राय हो सकता है। इस पंक्ति में 'पूरब दिशा' द्वारा उस स्थिति की ओर संकेत किया गया है, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार के अन्तर की अनुभूति नहीं रहती। वह दशा सहज साधना से विरले जनों को उपलब्ध होती है। उस दशा के लिये 'देस' और 'दिसा' का प्रयोग सूफी कवि शाह बरकत उल्लाह 'पेमी' ने भी किया है—

हम बासी वा देस के, जहां न पाप न पुन्न।
विदिसा दिसा न होत है, पेमी सुन्नै सुन्न॥

उनके एक दोहे में 'धुर पूरब' का प्रयोग भी मिलता है—

हम पूरब के पुरबिया जात न पूछे कोय।
जात पांत सो पूछिये, धुर पूरब का होय॥

अतः बोली हमारी पूरब की, इस साखी का अर्थ आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अनुसार ही लगाना उचित होगा! जैसे—हमारा कथन आध्यात्मिक दशा से सम्बंध रखता है जिस कारण हमें कोई समझ नहीं पाता। हमारी बातें वही समझेगा जिसे उसका अनुभव भी हो चुका हो।

कबीर की उपलब्ध रचनाओं में भाषा का विवेचन करने से पता लगता है कि उसमें अवधी, भोजपुरी, ब्रज, खड़ी बोली, पंजाबी तथा राजस्थानी का मिश्रित रूप है। कई लेखकों ने इस विषय पर अपना मत प्रकट करते हुए उस भाषा को कतिपय भाषाओं का, 'मिश्रण' कह कर छोड़ दिया है। स्व० रामचन्द्र शुक्ल जी कबीर की भाषा पर लिखते हैं—"इनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है पर रमैनी और सबद में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।"

स्व० शुक्ल जी का 'सधुक्कड़ी भाषा' शब्द वस्तुतः एक रचना-शैली विशेष के लिए ही कहा जा सकता है, वह किसी भाषा विशेष का नाम नहीं हो सकता। उनकी भाषा के सम्मिश्रण का मूल कारण ढूंढ़ने के लिए हमें उनके समय तक प्रचलित प्रमुख रचना-शैलियों पर दृष्टि डालनी होगी।

कबीर के समय में बहुत से सूफी सन्तों ने अपना प्रचार कार्य आरम्भ कर दिया था।

इनकी रचनाएं प्रधानतः हिन्दवी में मिलती हैं। कबीर के समकालीन नामदेव की अनेक हिन्दी रचनाएं, आदि ग्रंथ में संगृहीत हैं। सन्त नामदेव तथा कृष्ण मुनि ने अपने-अपने मतों का प्रचार उत्तर की ओर पंजाब प्रान्त तक किया था और उनके उपदेशों की भाषा 'हिन्दी' थी। कबीर से कुछ पूर्व जयदेव नामक एक कवि उड़ीसा में हुए जिनकी रचना से कबीर के पद मिलते-जुलते हैं।

गुरु रामानन्द तथा कबीर के गुरु-भाइयों की कुछ रचनाएं आदि ग्रन्थ में मिलती हैं। उनकी भाषा में बहुत अन्तर नहीं दीख पड़ता।

कबीर की सभी रचनाएं अगर अपने मूल रूप में उपलब्ध होतीं तो उनकी भाषा का पता लगाना कठिन न था। मुख से निकलने के उपरान्त उनके उपदेशों का प्रचार क्रमशः दूर-दूर तक होता गया। श्रद्धालु यात्रियों ने इन उपदेशों को सुदूर पंजाब, गुजरात, राजस्थान एवं महाराष्ट्र तक प्रचलित कर दिया, और अधिकतर मौखिक रूप में होने के कारण, वे सर्वत्र देशकाल के अनुसार न्यूनाधिक प्रभावित भी होते रहे। तदनुसार उन पर बाहर के विविध रंग भी चढ़ते गये। इस प्रकार कबीर की भाषा में परिवर्तन आता रहा, क्योंकि उन स्थानों के निवासी उन्हें अपनी-अपनी समझ के अनुसार कंठस्थ तथा लिपिबद्ध कर लेते थे। फिर उनकी स्मृति के अनुसार उनका संग्रह भी किया जा सकता था।

अभिप्राय यह है कि कबीर की भाषा उस समय की प्रचलित भाषा थी, जिसमें कबीर तथा उनके समकालीन संतों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। वह भाषा 'हिन्दवी' अर्थात् पुरानी खड़ी बोली थी, जिसमें पूर्वी हिन्दी तथा ब्रज का प्रभाव भी पड़ा था।

कबीर का कव्यत्व तथा छन्द-योजना

कबीर की उपलब्ध रचनाओं पर जब हम काव्य-प्रकारों के अनुसार विचार करते हैं तो पता चलता है कि उनमें प्रबन्ध-काव्य का अभाव है। उनमें से अधिकांश को तो हम मुक्तक अथवा गीत का नाम दे सकते हैं और शेष को अधिक से अधिक निबन्ध-काव्य तक ठहरा सकते हैं। मुक्तक ऐसी रचनाओं को कहा गया है जिनमें निहित काव्य-रस का आस्वादन उनके पहले व पीछे के पदों की अपेक्षा किये बिना भी किया जा सके। इसी प्रकार गीत वे कहलाते हैं जिनकी रचना स्वर, लय एवं ताल को भी ध्यान में रखकर की गई होती है। निबन्ध-काव्य इन दोनों से भिन्न होते हैं। इनके पद अकेले नहीं आते प्रत्युत् प्रबन्ध-काव्य की भांति, एक से अधिक पदों में प्रस्तुत किए जाते हैं जो परस्पर संबद्ध भी रहा करते हैं। फिर भी इनमें प्रबन्ध-काव्य का-सा विस्तार नहीं पाया जाता और न इनमें घटना-वैचित्र्य, चरित्र-चित्रण आदि जैसी बातों का समावेश रहा करता है।

कबीर की सभी रचनाओं को शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार काव्य नहीं कहा जा सकता। उनकी रचना भी शास्त्रीय दृष्टि से नहीं की गई थी। उन्होंने केवल अपने भावों की अभिव्यक्ति मात्र के लिये पद-रचना की थी। परन्तु उनकी रचनाओं में बहुत-सी कृतियां उनकी सहज प्रतिभा के कारण काव्य कहलाने योग्य भी बन गईं। उनका प्रमुख उद्देश्य

सदुपदेश देना था, और उनका क्षेत्र भी सर्वसाधारण का समाज था। अतः उन्होंने उन्हीं काव्य-विधाओं को अपनाया जो उस समय प्रचलित थी। शिक्षित न होने के कारण उनकी काव्यकला तथा भाषा में प्रांजलता नहीं आने पाई है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हजारीप्रसाद लिखते हैं—कबीर मस्त मौला थे, जो कुछ कहते साफ कहते थे। मौज में आकर जो कुछ कहते वह सनातन कवित्व का शृंगार होता था। वे जो कुछ कहते अनुभवों के आधार पर कहते थे। वे पढ़े-लिखे नहीं थे। कविता करना उनका लक्ष्य भी नहीं था फिर भी उनकी उक्तियों में कविता की ऊंची से ऊंची शक्ति प्राप्य है।

छन्द योजना

१. साखी : कबीर की रचनाओं में साखियों की संख्या सबसे अधिक है। साखी शब्द संस्कृत साक्षी का विकृत रूप है। साखी का तात्पर्य उस पुरुष से होता है जो विवाद के निर्णय में प्रमाणस्वरूप समझा जा सके। जब हमारे दैनिक जीवन में कभी-कभी नैतिक, आध्यात्मिक अथवा व्यावहारिक उलझनें आती हैं और भ्रम व सन्देह को दूर करने के लिए, हमें ज्ञान के आलोक की आवश्यकता पड़ती है तब ये साखियां हमें सच्चा मार्ग सुझा सकती हैं। कबीर बीजक में इसका महत्व दर्शाते हुए कहते हैं—

साखी आंखी ज्ञान की, समुझि देखु मन मांहि,
बिन साखी संसार का, झगरा छूटत नांहि,

साखी की रचना प्रायः दोहों में हुई हो, ऐसा नहीं है। साखी दोहे से भिन्न छन्दों में भी लिखी जा सकती है।

२. पद या सबद : कबीर की रचनाओं में दूसरा काव्य प्रकार, जो बहुत प्रसिद्ध है 'पद' अथवा, 'सबद' है। कहीं-कहीं पर इसे बानी भी कहा गया है। ये पद अथवा सबद गेय होते हैं और प्रायः इन्हें भजनों में सम्मिलित करते हैं। ये प्रधानतः आत्मज्ञान अथवा भक्ति भाव के कारण उमंग आ जाने पर ही रचे गये होंगे, और इस कारण से इनमें गेयत्व का गुण आ गया है। आकार के विचार से ये छोटे और बड़े दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

३. रमैनी : रामायण शब्द का क्रमशः रमेन, रमैनी बन जाना स्वाभाविक है। रमैनियों की रचना दोहे-चौपाई में की गई पाई जाती है और इनका विषय प्रधानतः वर्णनात्मक है।

४. बावनी : बावनी नामक काव्य-प्रकार की विशेषता यह है कि इसकी रचना हिन्दी की वर्णमाला के अक्षरों को ध्यान में रखते हुए की गई है। हिन्दी वर्णमाला में १६ स्वर ३५ व्यंजन तथा ऊ मिला कर कुल ५२ अक्षर माने जाते हैं। कबीर ने स्वयं कहा है :—

बावन आखर जोरे आंनि, एको आखर सक्या न जानि,

दूसरे आखर से 'अक्षर' ब्रह्म का तात्पर्य है।

५. चौंतीसा : इस चौंतीसा में हिन्दी के स्वरों तथा ऊ का परित्याग कर दिया है

जिससे वर्णों की संख्या ३४ रह जाती है और चौंतीसा नाम सार्थक हुआ है। ज्ञान चौंतीसा में चौपाई छन्द का प्रयोग किया गया है।

६. *थिंती* : थिंती तिथि शब्द का रूपान्तर है जिसका अभिप्राय प्रतिपदा आदि विभिन्न तिथियों से है। परवा से पूर्णिमा तक की तिथियों से यह काव्य-प्रकार चलता है। कुल मिलाकर ३६ पंक्तियों में समाप्त होता है। इस रचना का विषय साधना से सम्बन्ध रखता है।

७. *बसंत* : बसंत फाग का दूसरा नाम है। फागु काव्य की परम्परा पुरानी परम्परा है। फाग का ही नाम आजकल होली, धमार तथा बसंत पड़ गया है। इसमें गम्भीरता की कमी होती है। यह पद्य लोक गीत जैसे जान पड़ते हैं।

कबीर साहित्य के कुछ परम्परागत पारिभाषिक शब्द

कबीर-साहित्य में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग है जिनका कुछ न कुछ विशेष अर्थ होता है, जिनके जाने बिना कबीर के साहित्य को समझना कठिन है। अतः उनके समझने पर ही हमारा काम चल सकता है। यहां पर स्पष्टीकरण के उद्देश्य से हम कतिपय शब्दों की व्याख्या करना आवश्यक समझते हैं।

अजपा जाप : अजपा जाप को कभी-कभी सहज जाप भी कहते हैं। इसमें सभी प्रकार के बाह्य साधन जैसे माला का फेरना, अंगुलियों पर नामों का गिनना तथा ज़ोर से नामोच्चारण करना त्याग दिए जाते हैं। बौद्ध सिद्धों की साधना-पद्धति में तांत्रिक बीजार्थ तथा हठयोग दोनों के समन्वय द्वारा नाम स्मरण के परम्परागत विधान को वज्र-जाप, कहा करते थे। नाथपंथियों ने इसका नाम अजपा जाप रक्खा। इसमें श्वास-निरोध के अनन्तर मन को शून्य में केन्द्रित करते हुए 'सोऽहम्' का ध्यान किया जाता है। यही सोऽहम् क्रमशः शब्द-ज्योति में परिवर्तित होकर शून्य के अन्धकार को दूर कर देता है। कबीर ने इसे सहज जाप भी कहा है। वस्तुतः निःशब्द अथवा पूर्ण रूप से मौन रहकर जप करने को अजपा जाप कहा गया है।

अनहद नाद : अनहद नाद विशेषतः उस विचित्र ध्वनि के लिए आया है जो मानव-शरीर के भीतर आप से आप उठती रहती है। इस नाद के श्रवण के लिए साधना की आवश्यकता होती है। योगी जब समाधिस्थ होता है तो उसके शून्य अथवा आकाश ब्रह्मरन्ध्र के समीप के वातावरण में एक प्रकार का संगीत होता है जिससे वह मस्त होकर ईश्वर की ओर ध्यान लगाये रहता है। यह ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर होता रहता है।

अमृत : ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्र-दल कमल के मध्य में एक योनि है, जिसका मुख नीचे की ओर होता है। उसके मध्य में चन्द्राकार स्थान है जिससे सदैव अमृत का प्रवाह होता है। और मनुष्य को दीर्घायु बनाने में सहायक होता है। जो प्राणायाम के साधनों से अनभिज्ञ हैं उनका अमृत-प्रवाह मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य द्वारा शोषण कर लिया जाता है। इसी अमृत के नष्ट होने से शरीर वृद्ध बनता है। यदि अभ्यासी कंठ को बंद कर इस अमृत का प्रवाह रोक ले तो उसका उपयोग शरीर की वृद्धि ही में होगा। उसी अमृत-पान से वह

अपने शरीर को जीवन की शक्तियों से पूर्ण कर लेगा और यदि उसे सांप भी काट ले तो उसके शरीर में विष का संचार न होगा।

उन्मनि : साधना-सम्बन्धी ग्रन्थों में यह समाधि का पर्यायवाची माना गया है। योगी जब समाधि की उन्मनि स्थिति पर आ जाता है तो मग्न होकर रस का पान करता है।

खसम : कबीर ने 'खसम' शब्द का प्रयोग पति के लिये किया है। यह अरबी शब्द है। संसारी जीवों को उपदेश देते हुए बताया है कि तुम खसम-परमात्मा के प्रति उत्तरदायी बनो।

गगन और शून्य : कबीर की रचनाओं में शून्य और गगन प्राय: एक दूसरे के पर्याय से हैं। गगन शरीर के भीतर का वह आकाशवत अन्तराल बन गया है जिसमें ज्योतिर्मय तत्व का प्रकाश दीख पड़ता है और जहां से अनहद की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है।

नाद और बिन्दु : कबीर बिन्दु को उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं। नाद और बिन्दु दोनों का ही एक साथ प्रयोग भी किया है—वे इन्हें सृष्टि का उपादान कारण मानते थे। उनका कहना है कि जब नाद में बिन्दु का लय हो जाता है तभी गगन के अन्तराल में अनहद की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है।

निरंजन : कबीर ने 'निरंजन' शब्द का व्यवहार भारतीय दार्शनिक सिद्धान्त तथा नाथ-पंथ के अनुसार ही किया है। निरंजन को राम का ही एक अन्य नाम बतलाते हुए कबीर ने उस नाम की सार्थकता की ओर संकेत किया है और कहा है कि जो कुछ इस जगत् में दीखता है वह सभी अंजन है और निरंजन इससे न्यारा है। अंजन से उनका अभिप्राय माया है।

सुरति और निरति : सुरति स्मृति का अपभ्रंश है और निरति निवृति का।

कबीर : सिद्धान्त और साधना

कबीर की उपलब्ध रचनाओं का अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे किसी भी सिद्धान्त को निर्भ्रान्त रूप से सर्वमान्य मानकर नहीं चले हैं। उनका रामानन्द स्वामी के शिष्य होने के कारण हिन्दू धर्म का अनुयायी या वैष्णव होना भी स्वाभाविक है। कुछ लोग इन्हें वेदान्ती मानते हैं, क्योंकि इष्टदेव के लिए इन्होंने बार-बार अगम, अगोचर और अकथ जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। योग-साधन की चर्चा इनकी रचनाओं में देखकर इनका योगी होना भी विद्वानों ने सिद्ध किया है और उनका सम्बन्ध नाथ-पंथियों से जोड़ा है। वे मुसलमान थे और मुसलमानी प्रभाव में पले थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। शून्य, मधि, निरंजन आदि शब्दों को देखकर उन पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव भी माना गया है।

वास्तव में कबीर की रचनाओं में विभिन्न मतों की रचना दीख पड़ती है। उनकी दृष्टि ऐसे लोगों पर थी जो धर्म के ठेकेदार थे परन्तु उनकी करनी और कथनी में महान् अन्तर था। उन्होंने 'वेद' तथा 'कुरान' धर्म-ग्रन्थों को झूठा नहीं ठहराया वरन् उनकी मूल

बातों पर विचार न करके अन्धाधुन्ध उनका अनुसरण करना अधर्म बतलाया है—

वेद कतेब कहो क्यूं झूठा, झूठा जो न विचार ।

दार्शनिक सिद्धान्त

परमतत्व : साधारण रूप से कबीर निर्गुण ब्रह्म के आराधक माने जाते हैं परन्तु अनेक स्थलों पर सगुण और निर्गुण दोनों से परे एक अलक्ष्य पुरुष को मानते हैं—

मेरा साहब एक है दूजा कहा न जाय ।
निर्गुण-सगुण से परे तहां हमारे ज्ञान ।।

और— **राजस तामस सात्विक इनते आगे सोई ।**

तथा— **नाद बिन्दु अगम अगोचर, पांच तत्त तें न्यारा ।**
तीन गुनन ते भिन्न है पुरुष अलख अपारा ।।

कबीरदास ने उस अलक्ष्य पुरुष के कई नाम लिखे हैं—राम, हरि, केशव, माधध, गोविन्द, नन्दनन्दन, शून्य, खालिक, अलख, निरंजन, अक्षय पुरुष आदि । भर्तार, दुलहा, स्वामी, पति और खसम आदि शब्दों का भी उन्होंने व्यवहार किया है । उनका अक्षर पुरुष कथन की वस्तु नहीं है केवल अनुभव का विषय है ।

'कहिबे की वस्तु नहीं देख्या ही परवान'

सारा संसार उसी द्वारा उत्पन्न है तो उसके लिये कोई प्रिय अप्रिय नहीं, सारा संसार उसकी लीला का विस्तार है जिसे जब चाहे समेट कर वह अपने में मिला लेता है । यही सृष्टि एवं प्रलय का रहस्य है । सृष्टिकर्ता में ही सृष्टि है और सृष्टि में सृष्टिकर्ता ओत-प्रोत है ।

जीव-तत्व : जीव-तत्व ब्रह्म-तत्व अथवा परमतत्व से भिन्न नहीं है यह उसी में आ जाता है । 'हरि में पिंड है और इस पिंड में ही हरि है' और वह सर्वमय तथा निरन्तर विद्यमान है । शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा को केवल ब्रह्म का अंश रूप माना है । जीव-तत्व मूलतः परम-तत्व ही है । उसमें दीख पड़ने वाली सारी विभिन्नताएं मिथ्या और भ्रमात्मक हैं ।

माया तत्व : कबीर माया की सत्ता को स्वीकार करते हैं । वे माया के दो रूप मानते हैं । 'माया के दुई रूप हैं सत्य मिथ्या संसार',—माया के दो रूप मिथ्या माया और सत्य माया । सत्य माया ईश्वर प्राप्ति में सहायक और मिथ्या माया बाधक होती है—

माया दुई भांति देखी ठोक बजाय ।
एक गहावे रामपै एक नरक ले जाय ।।

माया के प्रति कबीर ने साधकों को विशेष चेतावनी दी है—

कबीर माया मोहिनी हरिसूं करै हराम,

और— **माया महा ठगिनी हम जानी**
निरगुन फांस लिये कर डोले, बोलै मधुरै बाना ।

माया का जाल बहुत कुछ दृढ़ है। उसके फंदे से बचना सरल नहीं। माया विषय-वासनाओं की जननी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर उसके पांच पुत्र हैं जो मनुष्य के अधःपतन के कारण हैं। हो सकता है कि जिसे सूफी मत में 'शैतान' कहा गया है वही कबीर में माया हो। शैतान इबादत में बाधक होता है वैसे ही माया भक्ति में।

कबीर का परमतत्व वेदान्त में ब्रह्म है। कबीर का ब्रह्म प्रेम पर रीझता है अतः वेदान्त में विरक्ति की भावना प्रधान है कबीर पंथ में रति की। भक्ति के लिए जीव की सत्ता ब्रह्म से अलग होनी चाहिये अतः कबीर अद्वैत मानते हुए भी ब्रह्म प्राप्ति से पूर्व ब्रह्म और जीव में व्यावहारिक भेद मानते हैं। उनका अद्वैत विशिष्टाद्वैत से अधिक मिलता है परन्तु उसमें इतना अन्तर है कि विशिष्टाद्वैत में मुक्तावस्था में जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न रहती है और कबीर-पंथ में ब्रह्म-प्राप्ति पर एक हो जाती है।

दरियाव की लहर दरियाव है जी,
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम।
उठे तो नीर पैठे तो नीर है,
कहो दूसरा किस तरह होयम।
उसी नाम को फेर के लहर धरा
लहर के कहे क्या नीर खोयम।
जल ही फेर सब जल है ब्रह्म में
ज्ञान करि देख कब्बीर गोयम।

सामाजिक सिद्धान्त

कबीर साहब जैसे सन्त प्रकृति वाले व्यक्ति के लिए समाज की दुर्व्यवस्था की ओर ध्यान देकर दुखी लोगों की दशा सुधारने का प्रयत्न करना स्वाभाविक था और इसके लिये उन्होंने कतिपय सिद्धान्त भी स्थिर किए थे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना रक्खा था कि मैं अपने अनुभवों का लाभ उठाने के लिए दूसरों को भी आमंत्रित करूं। उनका कहना है कि परमात्मा ने ही स्वयं यह उचित समझा कि मैंने जो कुछ अनुभव प्राप्त किए हैं, उन्हें मैं अपनी साखियों द्वारा व्यक्त करदूं जिनसे संकेत ग्रहण करके वे सभी लोग पार हो जाएं जो आज संसार के समुद्र में मग्न दीख पड़ते हैं।

हरि जी यहै विचारिया, साखी कहो कबीर।
भौसागर में जीव है, जे कोई पकड़े तीर॥

कबीर के समय में अनेक धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित थे। हिन्दू मुसलमान ये दो नाम अनेकों झगड़ों की जड़ थे। अपने विषय में कबीर का कथन है—

हिन्दू कहूं तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पांच तत्त का पूतला, गैबी खेले माहिं॥

कबीर ने देशाटन करके जान लिया कि सभी सम्प्रदाय अन्धानुकरण करने वाले हैं।

अपने ही सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ मानकर दूसरे को हीन बतलाते हैं। जिसके परिणाम-स्वरूप घृणा और द्वेष भाव बढ़ता है। वास्तव में न कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान–ये नाम मनुष्य जनित हैं—

हिन्दू तुरक झूठि कुल दोऊं
कहे कबीर राम भजहूं रे हिन्दू तुरक न कोई।

स्पष्ट शब्दों में लोगों को चेतावनी दी कि वे दोनों ठीक मार्ग पर नहीं हैं, पथ-भ्रष्ट हैं।

अरे—इन दाउन राह न पाई,
अथवा— **हिन्दू कहै मोहि राम पियारा–तुरक कहै रहिमाना।**
आपसू मंह दोऊ लरि लरि मूए धरम काहू नहीं जाना॥
कहहि कबीर वे दोनों भूले, राम किनहु न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावें, वादिहि जन्म गवाया॥

कबीर के समय में समाज में अनेक प्रकार की विषमताएं विष के समान व्याप्त हो गई थीं; जिनके कारण जाति-पांति के नाम पर अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय बनते जा रहे थे। हिन्दुओं में वर्ण-व्यवस्था के अतिरिक्त अनेक उपजातियां थीं जिनमें छुआछूत, खान-पान, चौका-बर्तन का भेदभाव फैला था। मुसलमानों में सिया, सुन्नी, काजी, सय्यद आदि अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे जिनका कबीर ने कटु शब्दों में विरोध किया है। 'सांई के सब जीव हैं' की घोषणा करते हुए उन्होंने सब धर्मों के विरोध को शान्त किया है। 'सबै जीव साईं के प्यारे' कह कर कबीर ने समानता का प्रतिपादन किया—

जात पांत पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।

कबीर समाज-सुधारक के साथ-साथ व्यक्तिगत साधना के उग्र प्रचारक थे। कबीर ने साधु-सन्त, धर्मी-अधर्मी, योगी-गृहस्थी, धनी-निर्धन, ऊंच-नीच, पंडित-मूर्ख, काजी-मुल्ला, पदाधिकारी-सेवक सबको उपदेश दिया है कि उन्हें सदैव सदाचरण करना चाहिए और वाह्याडम्बर से दूर रहना चाहिए।

कबीर मानसिक शुद्धि को श्रेयस्कर मानते हैं। शुद्ध मन से नाम जपना ही धर्म का मूल तत्व है। वाह्याडम्बर व्यर्थ है। ये सब कार्य तो दुनिया को दिखाने के हैं, राम को रिझाने के नहीं। मन की शुद्धि के साथ-साथ अहिंसा, दया आदि से युक्त सरल और सच्चे जीवन को ही कबीर धार्मिक जीवन मानते हैं। किसी को कटुवचन कहना भी हिंसा में सम्मिलित है—

साधु भया तो क्या भया बोले नहिं विचारि।
हतै पराई आतमा जीभ बांधि तरवारि॥

कबीर के अनुसार सच्चा धर्म वही है जो केवल मनुष्यों के प्रति नहीं वरन् जीव-मात्र के प्रति प्रेम-भावना की प्रेरणा करता है। कबीर प्रेम की महिमा गाते नहीं थकते–

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुईं धरै, तब पैठे घर माहिं॥

प्रेम ना बाड़ी ऊपजै, प्रेम ना हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय ।।
प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय ।
लोभी सीस न दे सके, नाम प्रेम का लेय ।।
पढ़-पढ़ कर सब जग मुआ, पंडित भया ना कोय ।
ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय ।।

कबीर की साधना

डा० रामकुमार वर्मा तथा हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के साधनापथ में हठयोग का प्रमुख स्थान नहीं मानते । उनका कथन है कि जो लोग साधना पथ में हठयोग का प्रमुख स्थान मानते हैं, वे भ्रम में हैं । सन्तमत ने जिस साधना पथ का अनुकरण किया है उसकी सहज भावना में हठयोग के समस्त प्रतीक रूपक से अधिक कुछ नहीं माने जा सकते । सन्त मत की मूलभावना तो—'सन्तो सहज समाधि भली' में ही सन्निहित है । रामानन्द स्वामी के सम्पर्क में आ जाने के पश्चात् कबीर ने सहज-समाधी की दीक्षा ली । कबीर ने अपनी एक साखी में बतलाया है कि वास्तव में सहज समाधी के ही अभ्यास में मेरे मत का सार आ जाता है । उन्होंने खुली आंखों से भगवान का रूप निहारा, खुले कानों से अनहद नाद सुना ; उठते-बैठते सभी प्रकार से समाधि का आनन्द पाया ; और उल्लसित हो यह घोषणा की—

'साधो, सहज-समाधि भली ।
गुरु प्रताप से ऊपजी, दिन दिन अधिक चली ।'

आचार्य द्विवेदी जी ने अनेक उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि कबीर की सहज भावना भक्ति मार्ग का ही रूप है । भक्ति की अन्तिम अवस्था अभेद भाव की स्थिति में पहुंच कर अपनी सुध-बुध नहीं रखती और जिसमें स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है जिससे 'पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूलि', हो जाता है अर्थात बूंद समुद्र में खो जाती है और लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलती । उस समय केवल यही कहना पड़ता है—

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेर ।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मेर ।।

ज्ञान-मार्गियों का निर्गुण केवल नीरस चिन्तन का ही विषय है पर कबीर ने इस शुष्क चिन्तन को प्रेम का पुट देकर रसमय बना दिया है ।

कबीर की साधना-पद्धति में गुरु का स्थान बहुत ऊंचा माना गया है । उनका पद भगवान से बढ़कर माना जाता है क्योंकि गुरु-कृपा से ही भगवान मिल सकता है ।

गुरू गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पांय ।
बलिहारी गुरू आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।।

तथा

हरि के रूठे ठौर है, गुरू रूठे नहि ठौर।

गुरु के बिना गत नहीं, में कबीर का असीम विश्वास है।

कबीर ने परमतत्व के सहज रूप को ही सबके सामने रखा, उसकी सहजानुभूति के लिए सबको प्रेरित किया। इस प्रकार की सहज साधना द्वारा ही अभीष्ट सुख एवं आनन्द की उपलब्धि का मार्ग सुझाया।

कबीर का रहस्यवाद

'रहस्यवाद' शब्द काव्य की उस धारा विशेष को सूचित करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्यक्ष, गम्भीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ सम्बंध रखती है। जब अनुभूति की तीव्रता अत्यधिक हो जाती है तो अनुभवकर्ता को अनूभूत वस्तु के साथ पूरे तादात्म्य का भान होने लगता है। द्वैत परक संस्कारों के रहते हुए भी उसके उद्गारों में अद्वैत सूचक भावों का समावेश हो जाता है। यही रहस्यवाद की विशेषता है जो उसे अन्य काव्य-धाराओं से पृथक करती है।

रहस्यवादी कवि की अनुभूति उसे एक दार्शनिक अद्वैतवादी की कोटि में ला देती है। परंतु रहस्यवादी कवि की दृष्टि में अद्वैतवाद अथवा द्वैतवाद का प्रश्न कोई महत्व नहीं रखता। रहस्यवाद उस लक्ष्य की ओर संकेत करता है जो पूर्णाद्वैत एवं द्वैत के मध्य स्थित प्रत्यक्ष दीख पड़ने वाले विरोधी भावों का सामंजस्य करना चाहता है और जिसकी रहस्यमयी स्थिति को स्पष्ट शब्दों में प्रकट करना अत्यन्त कठिन होता है।

कबीर का दार्शनिक दृष्टिकोण शंकर का अद्वैत है। वे केवल एकमात्र एवं निरपेक्ष परम के अस्तित्व में विश्वास रखते थे और जगत को अनित्य एवं भ्रमात्मक माना करते थे। उसका परिचय देते हुए कहते हैं—

"वो है तैसा वोही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै।"

काम चलाने के लिए उस अगोचर एवं अगम्य वस्तु का वर्णन शब्दों द्वारा कर सकते हैं—

'बोलन के सुख कारन, कहिये सिरजनहार।'

विद्वान् लोग रहस्यवाद की तीन स्थितियां बताते हैं। पहली, जब व्यक्ति विशेष अनन्त शक्ति से अपना सम्बंध जोड़ने के लिए उत्सुक होता है। सांसारिक बन्धनों तथा नियमों से दूर पहुंचता है। वहां पहुंचकर दिव्य त्रिमूर्तियों को देखता है।

दूसरी स्थिति में आत्मा परमात्मा से प्रेम करने लग जाती है। वह प्रेम इतना प्रबल होता है कि उसके सामने संसार की दूसरी चीजें स्थिर नहीं रह सकतीं। उसके आगे वासना नहीं ठहर सकती।

तीसरी स्थिति रहस्यवाद की चरम सीमा कहलाती है। इस अवस्था में आत्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है और फिर उसमें भिन्नता नहीं रहती।

सूफियों की प्रेम गाथाओं का आधार भी यही तीन स्थितियां हैं। जायसी के पद्मावत के अनुसार रत्न से पदमावती की रूप चर्चा को सुनकर उसकी ओर आकर्षित होता है यह पहिली स्थिति है। फिर पदमावती को पाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है। राज्य छोड़कर कष्ट को सहन करता हुआ सिंहलद्वीप में पहुंचता है। इस पथ पर उसे अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं। पर प्रेम के सामने वे सब तुच्छ प्रतीत होते हैं। अन्त में वह पदमावती को पा लेता है। यह उसकी आखिरी स्थिति है। सारी प्रेमगाथाओं की रचना का आधार यही होता है।

कबीर के रहस्यवाद का आधार शंकर का वह अद्वैत है, जिसमें आत्मा और परमात्मा की वस्तुतः एक ही सत्ता है। माया के कारण उनमें भिन्नता आ गई है। स्वयं भगवान् ने गीता में कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।। १५ अ०, ७.

जीवलोक में जो सनातन जीव है वह मेरा ही अंश है। अंश और अंशी कभी भिन्न नहीं हो सकते। केवल देह आदि के भेद से उसमें विभिन्नता आ जाती है। जैसे

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जल ही समाना यह तथ कथौ ज्ञानी ।।

'अहम् ब्रह्मास्मि' तथा 'सोऽहं' आदि वेद वाक्य जीव और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादन करते हैं।

सूफी मत के अनुसार आत्मा जब परमात्मा में मिलने के लिए अग्रसर होती है तब उसे चार अवस्थाएं पार करनी पड़ती हैं।

१. शरियत
२. तरीक़त
३. हकीकत
४. मारिफत

अन्तिम अवस्था में जाकर आत्मा और परमात्मा का सम्मिलन होता है। सूफी मत के अनुसार ईश्वर की भावना स्त्री रूप और भक्त की भावना पुरुष रूप में की जाती है। परन्तु अद्वैतवादी ईश्वर को पुरुष और अपने आप को स्त्री मानकर साधन करते हैं।

आत्मा जब परमात्मा के पास पहुंचती है तो उसकी दैवी शक्ति के कारण हतबुद्धि-सी हो जाती है। वह नहीं समझ सकती कि परमात्मा क्या है, कैसा है, वह उसका रूप प्रकट नहीं कर सकती। कबीर ने उसका वर्णन 'गूंगे के गुड़' के समान कहकर किया है। कुछ समय ठहरने के बाद जब उसमें बुद्धि आती है और कुछ कहने का साहस करती है तो एक दम पुकार उठती है—

'कहहि कबीर पुकारि के, अद्भुत कहिए ताहि'

यहां आत्मा सत्पुरुष का रूप देख-देख कर मुग्ध हो जाती है। धीरे-धीरे आत्मा

परमात्मा की ज्योति में लीन होकर विश्व की विशालता का अनुभव करती है—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल।
लाली देखन में गई मैं भी हो गई लाल ।।

यह स्थिति बढ़ते-बढ़ते प्रेम की इस अवस्था तक पहुंच जाती है कि आत्मा स्वयं परमात्मा की स्त्री बन कर उसका एक भाग बन जाती है—

कहहि कबीर सब नारी राम की, अविचल पुरुष भरतार ।

आत्मा और परमात्मा में एक प्रकार का मिलन हो जाता है और एक के विनाश से दूसरे का विनाश और एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व सार्थक होता है—

हरि भरि हैं तो हम हूं भरि हैं।
हरि न भरै हम काहे को भरि हैं।।

इस प्रकार रहस्यवाद की पूरी अभिव्यक्ति हम कबीर की कविता में पाते हैं।

कबीर की प्रतीक योजना

कबीर सिद्धहस्त कवि बनने के इच्छुक नहीं थे। कवि कर्म उनके लिये महत्वपूर्ण भी नहीं था। ऐसी दशा में यह अनुमान करना कि प्रतीक योजना जैसा साहित्यिक प्रयत्न उन्होंने जान-बूझ कर किया, उचित नहीं। प्रतीकों का प्रयोग एक ऐसी प्रक्रिया है जिसे मनुष्य अपने भावों की यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए बहुत दिनों से प्रयोग में लाता आया है, और जिससे उसके मानसिक व्यापारों पर किंचित् विचार करने से बहुत स्पष्ट हो सकता है। कुछ दार्शनिक साधना सम्बंधी विषय ऐसे हैं जिनका समुचित वर्णन किसी भाषा द्वारा नहीं हो सकता। अतः उनको समझाने के लिए अप्रस्तुत को सामने लाकर उसके सहारे प्रस्तुत का स्पष्टीकरण किया जाता है और इस प्रकार विषय बोधगम्य हो जाता है। यह सन्त कवि अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को समुचित रूप से व्यक्त करने के लिये उन लौकिक स्तर के अनुभवों को खोजते हैं जिनकी प्रवृतियों के साथ उसका अधिक से अधिक साम्य दीख पड़ता है और जिनसे सभी परिचित भी हों। इस प्रकार के अभिव्यक्ति परक प्रयोगों को ही साहित्यिक भाषा में प्रतीक योजना का नाम दिया है।

हरि जननी मैं बालिक तेरा,
काहे न अवगुण बकसहु मोरा ।।
सुत अपराध करै दिन केते ।
जननी के चित रहै न तेते ।।
कर गहि केरा करै जो धाता ।
तऊ नहेत उतारै माता ।।
कहे कबीर एक बुद्धि विचारी ।
बालक दुखी दुखी महतारी ।।

कबीर ने 'साहिब' का प्रतीक जननी माना है और उस शब्द में निहित मातृत्व का

भाव जागृत किया है। उस माता का हृदय अपने बालक का अपराध नहीं देखता और सह-संवेदन के कारण उसके दुखों को स्वयं झेलती है। अपराध उन संस्कारों का प्रतीक है जिनके कारण हम आवागमन के चक्कर में पड़े रहते हैं।

उदाहरण अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते है।

कबीर की उलटबांसियां

कबीर अपनी उलटबांसियों के लिए बहुत प्रसिद्ध है। उलटबांसी शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई और इसका व्यवहार कब से होता आ रहा है, अभी अनिश्चित है। इसी का प्रयोग गुरु गोरखनाथ में 'उलटी चरचा' के रूप में मिलता है। कुछ लोगों ने इसे 'विपर्यय' अथवा केवल 'उलटी' शब्द के द्वारा व्यक्त किया है। तथा उलटबांसी शब्द को उलटा एवं अंश जैसे दो शब्दों को जोड़कर बनाया गया है; जिसका तात्पर्य उस रचना से होगा जिसके किसी न किसी अंश में उलटी बातें मिलती हों। रचना की यह परम्परा पुरानी है। इसके प्रयोग वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थों में भी इसका प्रयोग पाया जाता है। इस शैली को जैन मुनियों ने भी अपनाया।

कबीर की उलटबांसियों को समझने के लिए उनकी कुछ उलटबांसियां उदाहरण रूप में लेते हैं।

अवधु जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ, कलप नहीं व्यापै देही जेरान छीजै।
उलटी गंग समुंदहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नव ग्रिह झरि रोग्या बैठे, जल में व्यंब प्रकासै॥
डाल गह्यां थें मूल न सूझै, मूल गह्यां फल पावा।
बंबई उलटि सांपइ कौ लागी, धरणि माहरस खावा॥

अथवा

अंबर बरसै धरती भीजै यहु जाणै सबु कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै बूझै विरला कोई।
गांवण हारा कदे न गावै, अणबोल्या नित गावै।
नटवर पेषि पेषना पेषै, अनहद बैन बजावै।

कबीर की इन पंक्तियों को एक दो बार ध्यान से पढ़ने पर इनमें निहित रहस्य का पता चलने में अधिक विलम्ब नहीं होता।

कबीर की विशेषता

१५वीं शताब्दी में कबीर सबसे शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक व्यक्ति थे। संयोग से वे ऐसे युग-संधि के समय उत्पन्न हुए थे जिसे हम विविध धर्म-साधनाओं और मनो-भावनाओं का चौराहा कह सकते हैं। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था।

जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। कबीर एक ऐसे बिन्दु पर खड़े थे जहां से हिन्दुत्व, मुसलमानत्व, ज्ञान, अशिक्षा, योग मार्ग, भक्ति मार्ग, निगुर्ण भावना और सगुण साधना निकलती थी। उसी चौराहे पर खड़े होकर उन्होंने चारों ओर देखा और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के दोष-गुण उन्होंने स्पष्ट रूप से देखे। यह कबीर का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग किया।

कबीर का साहित्य में स्थान

कबीर के महत्व के विषय में डा० हजारीप्रसाद जी लिखते हैं — "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है — तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण में एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सबको झाड़-फटकार कर चलने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है।"

कबीर की वाणी का उत्तरोत्तर अध्ययन तथा गम्भीर मनन करने वाले विद्वनों की धारणा बन गई है कि विश्व साहित्य में कबीर एक उत्कृष्ट स्थान का अधिकारी है!

कबीर हमारी श्रद्धा का पात्र है। साहित्य, राष्ट्रीयता तथा विश्व भ्रातृत्व का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम धुरंधर नेता और गुरु है। धन्य है उस व्यक्तित्व को और धन्य है उसकी प्रतिभा को!

२. मलिक मुहम्मद जायसी

कबीर ने हिंदू और मुसलमान दोनों को फटकार कर, भेद-भाव मिटाने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। अब हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के सामने अपना-अपना हृदय खोलने लग गए थे। जनता की प्रवृत्ति भेद से अभेद की ओर हो चली थी। मुसलमान हिंदुओं की राम-कहानी सुनने को तैयार हो गए थे। नल-दमयंती की कथा मुसलमान जानने लगे थे और लैला-मजनूं की हिंदू। दोनों के बीच 'साधुता' का सामान्य आदर्श प्रतिष्ठित हो गया। यहां तक कि बहुत से मुसलमान फकीर भी अहिंसा का सिद्धान्त स्वीकार करके मांस-भक्षण को बुरा कहने लगे।

ऐसे समय जायसी 'प्रेम की पीर' की कहानियां लेकर साहित्य-क्षेत्र में उतरे। ये कहानियां हिंदुओं के ही घर की थीं। इनकी मधुरता और कोमलता का अनुभव करके इन्होंने दिखला दिया कि हृदय सबके साथ एक है। बाह्य भेद व्यर्थ और निर्मूल हैं।

कबीर ने जो कर्य रूखेपन से,डांट-डबट और फटकार से किया था उसको प्रेम-कहानियों के द्वारा जायसी ने प्रेम और माधुर्य से किया। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिणी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। हिंदू और मुसलमान हृदयों को आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने की आवश्यकता थी। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता अभी भी बनी थी। वह जायसी द्वारा पूर्ण हुई।

जीवन-वृत्त

जायसी के काव्यों में उनके जीवन की झांकी मिलती जाती है। उनकी एक छोटी-सी पुस्तक 'आखिरी कलाम' के नाम से फारसी अक्षरों में छपी है। पुस्तक में स्पष्ट रूप से कवि के जन्म संबंधी वृत्तान्त उपलब्ध हैं। 'आखिरी कलाम' के आरंभ में ही नीचे लिखी अर्धालियां इस प्रकार हैं :

भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरिस अपर कवि बदी।।
आवत उद्यत चार विधि ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना।।

जिससे यह आभास मिलता है कि जायसी का जन्म ९०० हिजरी में हुआ था। इनके जन्मते ही पृथ्वी में भूचाल आ गया।

'आखिरी कलाम' में जायसी के निवास-स्थान के विषय में भी उल्लेख मिलता है।

जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक गांव आदि उद्यानू ।।
तहं दिवस दस पहुने आएऊँ। भा वैराग बहुत सुख पाएऊँ ।।

जिससे प्रकट होता है कि जायस का पूर्व नाम उदयान या उदय नगर था और जायसी वहां कुछ दिन के लिए अतिथि के रूप में गये। वहां उन्हें वैराग्य हो गया। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जायसी का जन्म भी जायस में ही हुआ था। जायस के बारे में 'पद्मावत' के स्तुति खंड में केवल इतना-सा उल्लेख है :

जायस नगर धरम अस्थानू। तहां आइ कवि कीन्ह बखानू ।।

इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि कवि जायस में कहीं बाहर से आया था। जायस उन दिनों कोई धार्मिक स्थल समझा जाता था।

'तहां आई' से पं० सुधाकर द्विवेदी और डा० ग्रियर्सन ने यह अनुमान किया था कि मलिक मुहम्मद किसी और जगह से आकर जायस में बसे थे। शुक्ल जी का मत है कि 'पर यह ठीक नहीं।' जायस वाले ऐसा नहीं कहते। उनके कथनानुसार मलिक मुहम्मद जायस ही के रहने वाले थे। अब तक उनके घर का स्थान लोग कंचाने मुहल्ले में बताते हैं। 'पद्मावत' में कवि ने अपने चार दोस्तों के नाम लिए हैं—यूसुफ मलिक, सालार कादिम, सलोने मियां और बड़े शेख। ये चारों यार जायस ही के थे। सलोने मियां के संबंध में अब तक जायस में यह जनश्रुति चली आती है कि वे बड़े बलवान थे। इन चारों में से दो एक के खानदान अब तक हैं। जायसी का वंश नहीं चला। पर उनके भाई के खानदान के एक महोदय अब भी मौजूद हैं जिनके पास वंशवृक्ष भी है। यह वंशवृक्ष कुछ गड़बड़-सा है।

जायसी का व्यक्तित्व

जायसी कुरूप भी थे, काने भी। डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने हास्य के लिए कहा है—कि भगवान् ने उन्हें रूप देने में कंजूसी कर दी। कुछ लोगों का कहना है कि शीतला अथवा अर्द्धांग रोग से उनका शरीर इस प्रकार विकृत हो गया था। अन्य लोग मानते हैं कि नहीं, वे जन्म से ही ऐसे थे। कवि ने अपना रूप बखानने में कोर-कसर नहीं छोड़ी है—

'एक नयन कवि मुहमद गुनी।

पर कौन-सी गायब थी, इसका पता अन्य पंक्ति देती है—

मुहमद बाईं दिसि तजा, एक सरवन एक आंखि।

पर इससे यह भी पता लग जाता है कि उनके एक कान ने भी जवाब दे दिया था।

जायस में प्रसिद्ध है कि वे एक बार शेरशाह के दरबार में गए। शेरशाह को उन्हें देखकर अचानक हंसी आ गयी। हंसी निश्चित ही उनके चेहरे को देखकर आई होगी। पटु कवि ने तुरन्त भाप लिया। चट शांत मुद्रा से पूछ बैठे :—'मोंहिका हंससि, कि कोहरहिं,' क्या मुझपर हंस रहे हैं या मेरे कुम्हार पर ? राजा नतमस्तक हो गया और क्षमा मांगी।

आरंभ से ही मलिक मुहम्मद हमारे सामने एक बड़े ईश्वर-भक्त और साधु के रूप में

आते हैं। वे जायस में एक गृहस्थ किसान के रूप में रहते थे। किसानों की तरह खेतों में ही अपना खाना मंगा लेते थे। पर अकेले कभी न खाते थे। किसी न किसी को नित्य साथ लेकर ही खाते। एक दिन कोई भोजन-संगी न मिला। बहुत देर प्रतीक्षा करते रहे। सहसा एक कोढ़ी दिखाई पड़ गया। उन्होंने बड़े आग्रह से बुलाया और एक ही पात्र में दोनों भोजन करने लगे। उस व्यक्ति के शरीर से कोढ़ चू रहा था जो भोजन में भी गिर पड़ा। जायसी ने निस्संकोच भाव से उस अंश को खाने के लिए हाथ बढ़ाया। परन्तु कोढ़ी ने हाथ थाम लिया और बोला, "इसे मैं खाऊंगा, आप साफ़ खाइए", पर जायसी ने एक न सुनी और तुरन्त उसे खा गए। इस घटना से वे ईश्वर की ओर जागरूक हो गए। इस घटना का उल्लेख लोग अखरावट के इस दोहे में बताते हैं —

बुंदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हैरान, मुहमद आपुहि आपु महं॥

जब से जायसी के पुत्र मकान के नीचे दबकर मर गए, तब से वे संसार से विरक्त हो गए। घरबार छोड़कर फकीर होकर घूमने लगे। अमेठी के राजा रामसिंह उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।

दीक्षा

मलिक मुहम्मद, निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में थे। इस परम्परा की दो शाखायें हुईं—एक मानिकपुर-कालपी आदि की, दूसरी जायस की। 'पद्मावत' और 'अखरावट' दोनों में जायसी ने मानिकपुर—कालपी वाली गुरु-परंपरा का उल्लेख विस्तार से किया है। इसमें डा० ग्रियर्सन ने शेख मोहिदी को ही उनका दीक्षा-गुरु माना है। गुरु-वंदना से इस बात का ठीक बोध नहीं होता कि वे मुहीउद्दीन के मुरीद थे अथवा सैयद अशरफ़ के।

सैयद अशरफ पीर पियारा। जेई मोरहि पंथ दीन्ह उजियारा।

सूफी मुसलमान फकीरों के सिवा कई सम्प्रदायों जैसे गोरखपंथी, रसायनी, वेदांती आदि के हिंदू साधुओं से भी उनका बहुत सत्संग रहा। जिनसे उन्होंने बहुत जानकारी प्राप्त की। हठयोग, वेदान्त, रसायन का उनकी रचनाओं में सन्निवेश है। उन्होंने इला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की भी चर्चा की है। वे सच्चे जिज्ञासु थे। हर एक मत के साधु-महात्माओं से मिलते-जुलते रहते थे। उनकी बातें गौर से सुनते थे। उनमें सारग्रहिणी प्रवृत्ति थी।

जायसी समन्वयवादी थे। वे ईश्वर-प्राप्ति के सब मार्गों को समान रूप से महान मानते थे। फिर भी अपने धर्म, मुहम्मद के मार्ग पर उनकी श्रद्धा कभी कम न हुई।

से बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

जायसी बड़े भावुक भगवद्भक्त थे। अपने समय के पहुंचे हुए फकीरों में उनकी गणना हो चुकी थी। सच्चे भक्त का प्रधान गुण दैन्य उनमें पूरा-पूरा था। प्रत्येक प्रकार का महत्व

स्वीकार करने की उनमें क्षमता थी। वीरता, धीरता, ऐश्वर्य, रूप, गुण, शील सबके उत्कर्ष *पर मुग्ध होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त था।*

जायसी को सिद्ध योगी मानकर बहुत से लोग उनके अनुयायी और शिष्य हुए। ये शिष्य जायसी की रचनाओं को गाते फिरते थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि उनका एक शिष्य अमेठी राजा के प्रासाद के पास नागमती का बारहमासा गा-गाकर घर-घर भीख मांगा करता था। एक दिन उसे राजा ने गाते सुना। उसे योगी के गीत बहुत पसन्द आये। योगी गा रहा था—

कंवल जो विगसा मानसर, बिनु जल गयउ सुखाइ।
सूखि बेली पुनि पलु है, जो पिव सींचे आइ॥

राजा मुग्ध से हो गये। फकीर से उन्होंने पूछा, शाह जी ! यह दोहा किसने बनाया है, उस फकीर से मलिक मुहम्मद का नाम सुनकर राजा ने बड़े सम्मान और विनय के साथ उन्हें अपने यहां बुलवाया था।

'पद्मावत' के अध्ययन से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कितना कोमल और किस प्रकार 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। क्या लोक-पक्ष में, क्या भगवत्पक्ष में दोनों ओर उस पीर की गूढ़ता, गंभीरता विलक्षण है। इसी के कारण सब मुसलमान घरों, विशेषकर भक्त घरानों में इसकी प्रतियां सुरक्षित हैं। हिन्दू-मुसलमान दोनों के हृदय में जायसी का महत्वपूर्ण स्थान है।

जायसी की रचनाएं

कुछ लोग इधर मानने लगे हैं कि जायसी ने कुल मिलाकर इक्कीस ग्रंथों की रचना की। पर उनके नाम के अतिरिक्त और कुछ ज्ञात नहीं। जायसी की अमर कृतियां प्राय: तीन ही सर्वसम्मति से स्वीकृत हैं। पद्मावत, अखरावट, और आखिरी कलाम। शेष विवाद पूर्ण हैं।

उपर्युक्त तीनों ग्रंथों का प्रकाशन आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल जी के सम्पादकत्व में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त भी कुछ रचनायें उपलब्ध हैं। जैसे बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के पास सोरठ और उपजी की हस्तलिखित प्रतियां। डा० स्प्रेंगर के पास घनावट की प्रति। शुक्ल जी ने दो अन्य पुस्तकों का उल्लेख किया है। वे हैं 'पोस्तीनामा' तथा 'नैनावत'। ये दोनों प्रेम-कहानियां हैं। पोस्तीनामा संभवत: मुबारक शाह बोदले को लक्ष्य करके लिखी गई थी।

इन पुस्तकों के निर्माण-काल के संबंध में बड़ी मत-विभिन्नता है। डा० कमलकुलश्रेष्ठ का कथन है कि 'आखिरी कलाम' जायसी की अन्तिम रचना है। डा० रामरतन भटनागर 'पद्मावत' को अंतिम रचना मानते हैं। शुक्ल जी ने इन गुत्थियों को सुलझाने में घोर श्रम किया है।

'भा अवतार मोर नवसदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी।'

आखिरी कलाम की इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि "इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। नवसदी ही पाठ मानें तो जन्म-काल ९०० हिजरी, सन् १४९३ के लगभग ठहरता है। दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी अच्छी कविता करने लगे। जायसी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ है 'पद्मावत' जिसका निर्माण-काल कवि ने इस प्रकार दिया है।

सन नव सै सत्ताइस अहा। कथा आरंभ-बैन कवि कहा॥

"इसका अर्थ होता है कि पद्मावत की कथा के प्रारंभिक वचन 'आरंभ-बैन' कवि ने सन् ९२७ हिजरी, सन् १५२० ई० के लगभग, में कहे थे। पर ग्रन्थारंभ में कवि ने मसनवी की रूढ़ि के अनुसार, शाह की प्रशंसा की है। जिसके शासनकाल का आरंभ ९४७ हिजरी अर्थात् सन् १५४० ई० में हुआ था। इस दशा में यही संभव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया। इसी से कवि ने भूतकालिक क्रिया 'अहा' =था और 'कहा' का प्रयोग किया है।" जान पड़ता है कि 'पद्मावत' की कथा को लेकर थोड़े से पद्य जायसी ने रचे थे। उसके पीछे वे जायस को छोड़कर इधर-उधर परिभ्रमण करते रहे। अंत में जब वे फिर जायस लौटे तो उन्होंने ग्रंथ को उठाया और पूर्ण किया। अखरावट में उसके रचना-काल का उल्लेख नहीं मिलता। शाहेवक्त का भी उल्लेख नहीं। फिर भी यह जायसी की बड़ी महत्वपूर्ण रचना है। अब इनका विवेचन ही समीचीन होगा। महत्व के क्रम से इनका अध्ययन किया जायगा।

आखिरी कलाम : काव्य-सौष्ठव और विषय-वस्तु की दृष्टि से यह एक सामान्य रचना है। इसमें प्रौढ़ता के दर्शन नहीं होते। इस ग्रंथ की विषय-वस्तु भी उदात्त भावों से युक्त नहीं है। प्रलय के दिन क्या होगा, यही ग्रंथ की कथावस्तु है। प्रलय के पश्चात् रसूले पाक 'मुहम्मद साहब' की सिफ़ारिश पर किस प्रकार खुदा गुनहगारों को क्षमा कर देंगे, यही बतलाना कवि का उद्देश्य है। एक आलोचक का कथन है कि यह भाव कहर मुहम्मदी के हो सकते हैं, जायसी जैसे पहुंचे हुए फ़कीर एवं पीर के नहीं। इन भावों में सूफ़ियत के दर्शन भी नहीं होते। और ना ही अखरावट एवं पद्मावत की उदारहृदयता के।

फलतः काव्य-कौशल और कथावस्तु की दृष्टि से आखिरी-कलाम कवि की अप्रौढ़ावस्था में लिखी हुई रचना हो सकती है। बहुत संभव यह है कि फारसी कवियों में जो आखिरत-नामा लिखने की परम्परा प्रचलित थी, उसी का अनुसरण करते हुए जायसी ने इसे लिखा हो। डा० भटनागर का विचार है कि कवि ने स्वयं इसका कोई नाम नहीं रखा। इस ग्रंथ का यह नाम किसी ने बाद में दिया होगा।

फिर भी इस काव्य का अपना महत्व है। जायसी के जीवन-वृत्त पर विशेष प्रकाश डालने वाला यही ग्रंथ है, काव्य के मापदंड से भले ही यह सीधी-सादी रचना हो। फिर भी कुछ स्थल बड़े ही रम्य बन पड़े हैं। स्वर्ग का वर्णन मनोहर है। स्वर्ग की कल्पना में मूल-भूत भावना मधुर है।

अखरावट : आकार की दृष्टि से अखरावट जितना छोटा ग्रंथ है, महत्व की दृष्टि से उतना ही बड़ा। इस ग्रंथ को कवि ने अवधी-भाषा में एवं दोहा, चौपाई और सोरठा छंदों में ही रचा है। 'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' की रचना-कला में जहां अर्धालियों, चौपाइयों से आरम्भ कर बाद में दोहा और फिर अर्धालियों का क्रम रखा गया है तथा स्तुति-खंड आदि से कथा आरंभ होती है, वहां अखरावट दोहा-सोरठा से शुरू होता है। अर्धालियां उनके बाद आती हैं। प्रस्तावना आदि का कोई विधान नहीं।

इस ग्रंथ की यह अपनी विशेषता है कि इसका आरम्भ सीधे प्रतिपाद्य विषय से किया गया है—आदि दोहा जिसका यह है

गगन हुता नहीं यहो हुती, हुते चंद नहि सूर।
ऐसइ अंधकूप महं, रचा मुहम्मद नूर॥

इस ग्रंथ में जायसी ने अपनी दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारधारा का विस्तार के साथ वर्णन किया है। जो लोग इस बात पर बल देते हैं कि अखरावट, पद्मावत की पूर्ववर्ती रचना है, उनका कथन है कि इस ग्रंथ की रचना कवि ने अपने मत एवं सिद्धान्तों की व्याख्या के लिए की प्रतीत होती है। फिर भी 'पद्मावत' बिना जायसी के मत और विचारों की रूपरेखा सम्पूर्ण नहीं हो सकती। यह मानना पड़ेगा कि कवि की साधना-पद्धति पर हठयोग का पर्याप्त प्रभाव था जोकि 'पद्मावत' से भी ज्ञात होता है। परन्तु 'अखरावट' में कवि ने उस साधना का विस्तार से वर्णन नहीं किया केवल कुण्डलिनी-उद्बोधन, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना और चक्रभेदन का उल्लेख-मात्र किया है। इससे भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह पद्मावत के पहले की रचना है।

'अखरावट' का विषय संसार-सृजन, जीव की व्याख्या, ब्रह्म का विवेचन, पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता तथा साधना आदि पर विशद निरूपण है।

जायसी के मत, दर्शन एवं साधना की विचारधारा को भली-भांति समझने के लिए 'अखरावट' का अध्ययन आवश्यक है। अतः अखरावट का अपना निजी महत्व है। सीधी-सादी भाषा में वेदान्त और तत्व-दर्शन को जनग्राह्य बनाने की सफल चेष्टा इस ग्रंथों में मिलेगी।

अखरावट और जायसी का साधना-मार्ग

१. सर्व धर्म प्रियता : वैसे तो सूफी संतों की हृदय-विशालता प्रसिद्ध ही है परंतु जायसी में उदारता का एक विशेष गुण था। वे सूफी मत में विश्वास करते हुए अन्य धर्मों की साधनाओं में भी उसी प्रकार की आस्था रखते थे। वे सभी को सफलता का मार्ग बतलाते हैं। उसे खोज लेने तक के प्रयत्न की आवश्यकता है।

विधना के मार्ग हैं तेते, सरग नखत तन-रोवां जेते।
जेह हेरा तेह तहवं पावा, भा संतोष, समुझि मन गावा॥

२. गुरु-महिमा : सूफी-संतों में गुरु की बड़ी महिमा है। गुरु ही नैया को पार लगाने

में समर्थ हो सकता है। जिसका गुरु जितना पहुंचा हुआ होगा, उसी अनुपात में उसे सुख और आनंद की प्राप्ति अनिवार्य है। गुरु ही गतिदाता है।

जेही पावा गुरु मीठ, सो सुख-मार्ग महं चलै।
सुख आनंद भो डीठ, मुहमद साथी पौढ़ जेही।।

३. *ब्रह्ममयता :* सूफियों को केवल बहिश्त पहुंच जाना ही अभीष्ट नहीं था, वरन परम ब्रह्म में लीन हो जाना, उसमें तन्मय हो जाना उनका अन्तिम लक्ष्य है। 'अनहलक' की ऊंची सीढ़ी उनकी अंतिम पहुंच है।

ढूंढि उठै लइ मानिक मोती। जाइ समाइ जोती महं जोती।।

साधना-मार्ग

४. *भगवद्प्रेम :* उस परम ब्रह्म में लीन होने के लिए—मैं ही ब्रह्म हूं, अहम् ब्रह्माऽस्मि, के तत्व को समझने के लिए सूफियों द्वारा प्रेम का मार्ग विहित है। जगत के ऐन्द्रिय सुखों से विरक्त होकर अपनी सारी रागात्मक प्रवृत्तियों को परमब्रह्म में नियोजित करने की साधना प्रेम-साधना है। यद्यपि यह साधना दुस्साध्य है, परन्तु फिर भी जो सफल हो जाता है वह मरकर भी जी जाता है:—

कठु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मर जिया।
तहं नाहं हंसि न रोज, मुहमद ऐसे ठांव वह।।

प्रेम का क्षेत्र हंसि-खेल का मैदान नहीं। प्रिय की खोज कठिन है। परंतु जो उसे पा लेता है वह अमर है।

५. *विरह :* सूफियों की प्रेम-साधना 'विरह' के माध्यम द्वारा ही विहित है। इस विरह-साधना को जायसी ने मूर्तिमान बना दिया है। सूफी धर्म में यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि जीव और ब्रह्म आदि में एक थे। बाद में उनमें भेद उत्पन्न हो गया। तब दोनों अलग हो गए। इस वियोग से जीव में विरह की उत्पत्ति उसके लिए असह्य हो उठी और फिर से अभिन्न होने के लिए वह तड़पने लगा। यह तड़पन ही प्रेम की अनुभूति कराती है। यह तड़पन ही विरह-साधना है। जीव कितना व्याकुल है, कितना विक्षिप्त है —मिलने के लिए कितना आतुर और लालायित है, यह इस पद से भली-भांति बोध होता है।

हुआ जो एकहि संग, हौं तुम्ह काहें बीछुरे।
अब जिउ उठै तरंग, मुहम्मद कहा न जाइ किछु।

६. *अहं भाव का विनाश :* इस प्रेम-साधना और विरह-साधना के लिए आवश्यक उपकरण है--'अहं' का विनाश। यह प्रेम साधारण प्रेम नहीं। प्रेम का खेल तो हथेली पर प्राण रखकर ही खेला जा सकता है। इस प्रेम के खिलाड़ी के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं, शिक्षा की आवश्यकता नहीं। वहां तो अपने आप को खो देना है—अहं भाव को मिटा देना है—

आपुहि खोई ओहि मो पावा। सो बीरौ मनु लाइ जमावा।।
मो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत फल खाई।।

इसलिए वे सबको अपने 'आपा' को खोकर उस नित्यानन्द, सच्चिदानन्द परमेश को प्राप्त करने की सलाह देते है—

आपुहि खोए पिउ मिले, पिउ खोए सब जाइ ।
देखहु बूधि विचार मन, लेहु न हेरि हेराइ ।।

पद्मावत

जब से चंद बरदाई के पृथ्वीराज रासो के महाकाव्यत्व का मान विशृंखल हुआ है, तब से यह सम्मान जायसी के 'पद्मावत' को प्राप्त है । हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम महा-काव्य के रूप में इसकी प्रतिष्ठा है । प्रेमाख्यानक परम्परा में तो इसका स्थान सर्वोपरि है ही, उस समय तक रचित समग्र हिन्दी साहित्य में भी इसका स्थान सर्वोच्च है ।

'पद्मावत' प्रेमाख्यान-परम्परा में होते हुए भी उससे भिन्न है । पद्मावत में कोरी कहानी ही नहीं है, केवल काल्पनिक गाथा ही नहीं है वरन् इसमें कल्पना और इतिहास दोनों का सम्मिश्रण है । इस दृष्टि से पद्मावत की कथावस्तु को हम दो भागों में बांट सकते हैं । १. काल्पनिक या पूर्वार्ध २. ऐतिहासिक या उत्तरार्ध । पूर्वार्ध खंड आरंभ से लेकर रत्नसेन-सन्तति-खंड तक माना जा सकता है और उत्तरार्ध या ऐतिहासिक खंड ३७ खंड से लेकर अंत तक चलता है । ये दोनों भाग अलग-अलग नहीं हे । वरन् एक दूसरे के साथ सुसंगठित है ।

कथा का ऐतिहासिक आधार रानी पद्मिनी के सौन्दर्य से ललचाये अलाउद्दीन खिलजी का चित्तौर पर किया गया सन् १३०३ का आक्रमण है । इसका वर्णन 'आईने अकबरी' से आया है । यह कथा ऐतिहासिक है । अलाउद्दीन और पद्मिनी की घटना का 'टाड राज-स्थान' में भी वर्णन है । यह भी इतिहास सिद्ध है कि अलाउद्दीन के हाथ पद्मिनी तो नहीं, उसकी राख-ढेरी ही लगी थी । इसके अतिरिक्त सब कल्पित है । यों कहना भी असंगत न होगा कि पूर्वार्ध की सारी कथा कल्पित है । उसमें सिंहल, चित्तौड़ एवं रत्नसेन तथा पद्मिनी इन नामों के अतिरिक्त सब कुछ अनैतिहासिक है, कल्पित है । इस कल्पना और सत्य का मणि-कांचन योग पद्मावत है ।

पद्मावत का कथा-सार

सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती अति रूपवती थी । परन्तु उसके योग्य वर राजा ढूंढता-ढूंढ़ता हार गया, पर न पा सका । उसके पास हीरामन नाम का एक तोता था । वह बहुत ही चतुर और पंडित था । देवगति से वह एक दिन उड़ते हुए एक बहेलिये के हाथों पकड़ा गया । उस बहेलिये से एक ब्राह्मण ने उसे मोल ले लिया । तोते के पांडित्य का प्रदर्शन ब्राह्मण ने चित्तौड़ के राजा के सम्मुख किया । राजा बड़ा ही खुश हुआ । ब्राह्मण को उसने एक लाख रुपया पुरस्कार स्वरूप देकर तोते को ले लिया । राजा का नाम था रत्नसेन । एक बार एकांत में रत्नसेन की रानी ने तोते से पूछा—क्या मुझसे

भी अधिक सुन्दरी स्त्री कोई दुनिया में हो सकती है ? तब तोते ने पद्मिनी का बड़ा बखान किया। यहां तक कहा कि 'का ह बखानों सिंहल के रानी। तोरे रूप भरै सब पानी।।' इस पर रानी बड़ी क्रुद्ध हुई और एक दासी को उसको मार डालने की आज्ञा दे दी। दासी दयालु थी, उसने शुक को मारा नहीं, छिपा लिया। और राजा को सौंप दिया, सारा वृत्तान्त भी कह सुनाया। राजा ने जब पद्मिनी के रूप का वर्णन सुना तो वह उसके प्रेम में व्याकुल हो योगी बनकर सिंहल की ओर चला। साथ में १६ हजार योगी कुमार भी हो लिए। हीरामन पथ-प्रदर्शक बना। योगियों का यह काफिला कलिंग से जहाज में सवार होकर सिंहल द्वीप जा पहुंचा। व हां तोते से संदेश पाकर पद्मिनी शिवपूजन के बहाने आई, उसे देख कर राजा मूर्च्छित हो गया। पीछे से शिव से सिद्धि पाकर राजा ने योगियों सहित गढ़ में घुसने की चेष्टा की। निदान पकड़ा गया। फलतः सूली पर चढ़ने की आज्ञा दी गई। पीछे सोलह हजार योगियों सहित शिव ने गढ़ को घेरा तथा सब देवता उनकी सहायता को आए। उनसे गन्धर्वसेन ने पराजित होकर पद्मावती राजा को ब्याह दी। दोनों चित्तौड़ आ गये। एक दिन 'दूज कब है?' के प्रश्नोत्तर से क्रुद्ध होकर रतनसेन ने एक दरबार के महान पंडित राघव चेतन को देश निकाले का दंड दे दिया। राघव चेतन भी आखिर क्रुद्ध हो गया और दिल्ली जाकर अलाउद्दीन से पद्मिनी की बहुत तारीफ की। अलाउद्दीन रानी के रूप का श्रवण ही करके उसपर रीझ गया। पहले राणा से उसने रानी को मांगा। प्रस्ताव अस्वीकृत होने पर लड़ाई से उसे लेने चढ़ आया। जब उसे विजय की आशा न दिखायी पड़ी तो उसने छल-संधि कर ली। राजा ने प्रीतिभोज पर आमंत्रित किया। वे शतरंज खेल रहे थे कि सहसा उसने पद्मिनी की झलक शीशे में देख ली। मुग्ध रह गया। जब राजा विदा करने द्वार पर आया तो राघव के संकेत से अलाउद्दीन द्वारा पकड़ा गया। दिल्ली ले आया गया। पद्मिनी भी आखिर वीर क्षत्राणी थी। ७०० डोलियों में सैनिकों को छिपा कर उसने दिल्ली भेजा। सुलतान से यह कहलवाया कि पद्मिनी राजा से अंतिम बार भेंट करके तब उसके पास जाएगी। आज्ञा पाते ही रानी की पालकी राजा की कोठरी में पहुंचायी गयी। वहां पालकी में से निकल कर एक लुहार ने राजा की हथकड़ी-बेड़ी काट दी। राजा घोड़े पर चढ़कर निकल भागा। सैनिक शाही सेना से युद्ध करने लगे। रत्नसेन जब चित्तौड़ पहुंचा, तो पद्मनी ने राजा से कुम्भलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही। इस पर कुम्भलनेर पर चढ़ाई की। इस लड़ाई में वे दोनों राजा मारे गए। रत्नसेन का शव चित्तौड़ लाया गया और दोनों रानियां-नागमती और पद्मावती उसकी चिता पर जल मरीं। जब अलाउद्दीन चित्तौड़ पहुंचा तो उसे वहाँ राखि-राशि के सिवा कुछ न मिला। संक्षेप में यही जायसी के पद्मावत का कथासार है।

पद्मिनी या पद्मावत के रूप में इस कथा की परम्परा पुराणों से चली आ रही है। इस कथा का उल्लेख कल्कि पुराण में मिलता है। यह उपाख्यान चौथे अध्याय के ८७वें श्लोक से प्रारम्भ होकर बड़े दीर्घ विस्तार के साथ वर्णित है।

अतः यह भली भांति अनुमान किया जा सकता है कि जायसी के पद्मावत की कथा

तीन परम्पराओं की समन्विति है। पहली परम्परा कल्कि पुराण की है। दूसरी, 'आईने अकबरी' की, तीसरी 'टाड राजस्थान' की। इस कथा में योगियों की पुरानी करामातें का, कुछ शिवधर्म के प्रभाव का और कुछ कल्पना के सम्मिश्रण से इसे ऐसा स्वरूप दे *दिया गया है जो सूफ़ी प्रेमतत्व की भावना को सफलता से व्यक्त कर सके।*

पद्मावत की विशेषता

पद्मावत की अपनी निजी मौलिक विशेषतायें संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त की जा सकती हैं :

१. *विशुद्ध प्रेम मार्ग का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण :* प्रेम के मार्ग में आने वाले समस्त बंधनों के सम्मुख त्याग, कष्ट-सहिष्णुता तथा विघ्न-बाधाओं का चित्रण करके कवि ने भगवत्प्रेम के लिए साधना का स्वरूप दिखाया है। यही प्रेम लौकिक रूप में मनुष्य की स्थिति का आलम्ब है। यही प्रेम विश्व का पालन करता है, तथा इसका रंजन करता है। यही अंत में भगवद्भक्ति में भी प्रवृत्त करता है।

२. *प्रेम की अत्यन्त व्यापक और गूढ़ भावना :* लौकिक प्रेम के उत्कर्ष द्वारा जायसी को भगवत्प्रेम की गंभीरता का निरूपण करना था। प्रेम ही वह माध्यम है जिसके द्वारा चर-अचर समग्र प्राणी वशीभूत किए जा सकते हैं। उनका अभीष्ट सदा एक के माध्यम से उस 'अनेक में एक' की सत्ता और प्रभुत्व तथा उसकी नियन्ता-शक्ति की अभिव्यक्ति है। यह आसान कार्य नहीं—परम गूढ़ और दुरूह है। बड़ी-बड़ी तपस्याओं, और बलिदानों के उपरान्त ही वह एकता सुलभ है।

३. *मर्मस्पर्शिणी भाव-व्यंजना :* प्रेम या रति-भाव के अतिरिक्त स्वामि-भक्ति, वीरदर्प, पातिव्रत तथा और छोटे-छोटे भावों की भी व्यंजना अत्यंत स्वाभाविक और हृदयग्राही रूप में जायसी ने कराई है। इससे उनकी उदात्त वृत्ति और कोमलता का परिचय मिलता है।

४ .*प्रबन्ध-सौष्ठव :* 'पद्मावत' की कथा-वस्तु का प्रवाह स्वाभाविक है। केवल कुतूहल उत्पन्न करने के लिए घटनायें इस प्रकार कहीं नहीं मोड़ी गई हैं जिसके कारण बनावट या अलौकिकता प्रकट हो। किसी गुण का उत्कर्ष दिखाने के लिए भी घटनाओं में अस्वाभाविकता जायसी ने नहीं आने दी है। दूसरी बात यह है कि वर्णन के लिए जायसी ने मनुष्य-जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान कर रखा है। परिणाम ऐसे ही दिखाए गए हैं जैसे संसार में दिखाई पड़ते हैं। कर्मफल के उपदेश के लिए उनकी योजना नहीं की है। पद्मावत में राघव चेतन का ही चरित्र खोटा दिखाया गया है। पर उसकी कोई दुर्गति कवि ने नहीं दिखाई। राघव का उतना ही वृत्त आया है जितने का घटनाओं को 'कार्य' की ओर अग्रसर करने में योग है।

५. *वर्णन की प्रचुरता :* जायसी के वर्णन बहुत विस्तृत हैं—विशेषतः सिंहलद्वीप, नखशिख, भोज, बारहमासा, चढ़ाई और युद्ध के। इनसे पता चलता है कि जायसी का ज्ञान

कितना व्यापक था। उनके वस्तु-परिचय का हमें इससे पूरा पता लग जाता है।

६. *प्रस्तुत-अप्रस्तुत का सुन्दर समन्वय* : पद्मावत की अन्योक्तियों और समासोक्तियों में प्रस्तुत-अप्रस्तुत का जैसा सुंदर समन्वय देखा जाता है, वैसा हिंदी के कम *कवियों में पाया जाता है।* अप्रस्तुत *की व्यंजना के लिए जो प्रस्तुत वस्तुएं काम में लायी* गई हैं और प्रस्तुत की व्यंजना के लिए जो अप्रस्तुत वस्तुएं सामने रखी गई हैं वे आवश्यकतानुसार कहीं बोधवृत्ति में सहायक होती हैं और कहीं भावों के उद्दीपन में। कंवल जो विगसा मानसर बिनु पल गएऊ सुखाई' वाले दोहे में जो जल बिना सूखते कमल का अप्रस्तुत दृश्य सामने रखा गया है वह सौन्दर्य की भावना के साथ दया और सहानुभूति के भाव को उद्दीप्त करता है।

पद्मावत के विशेष गुण

१. *विप्रलंभ-शृंगार* : प्रेमाख्यानक परम्परा में होने के कारण पद्मावत प्रेम-काव्य है। अतः उसका प्रधान रस 'शृंगार' है। प्रेम की वास्तविक अनुभूति प्रिय से वियोग के क्षणों में होती है। जब तक प्रिय, अथवा प्रियवस्तु हमारे सामने रहते हैं उनका मूल्य हम नहीं आँकते। ज्यों ही वे आँखों से ओझल होते हैं उनका अभाव हमें टीस और कसक की वेदना से उद्वेलित कर देता है। अतः वियोग में वियोगी प्रिय के सदैव निकट रहता है। उसीके चिन्तन में अपना तन-मन दोनों अर्पित किए रहता है। अतःप्रेम की सच्ची अनुभूति और परख विरह में होती है।

यह विरह-चित्रण अथवा विप्रलंभ शृंगार जायसी की अनुपम विशेषता है। नागमती का विरह-खंड और संदेश-खंड हिंदी साहित्य का अमूल्य अंग है। इन खंडों में उच्चकोटि का विरह-चित्रण देखने को मिलता है। नागमती और पद्मावत के विरह-वर्णन में कवि ने पन्द्रह खंड लगाये हैं। निश्चय ही विरह की स्थिति का प्रदर्शन जो सूफी-सिद्धान्त का प्राण है, कवि का अभीष्ट है। नागमती की विरह-उक्तियाँ बाण के समान चुभती हैं। विरह-वेदना हृदय को मथ देती है।

नागमती को विरह के दिनों में भला सुख कहाँ ? उसके पाँव चलते नहीं, और पंख हैं नहीं। फिर दूरस्थ पति को किस प्रकार पावे:

जिन घर कंता ते सुखी, तिन गारौ औ गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब॥

और अपनी दयनीय परवशता, साधन-हीन दशा पर तरस खाती है।

परवत समुद्र अगम बिच, बीहड़ घन बन ढांख।
किमिकै भेरौं कंत तुम्ह, ना मोंहि पांव न पांख॥

विरह से नागमती का हृदय जल रहा है। उसके श्वास से निरन्तर अग्नि निकल रही है। इसके आस-पास के सामान उसकी लपट से अपने आप भस्म हुए जाते हैं।

आखर जरहिं, न काहू छुआ। तब दुख देखि चला लेह सूआ॥

किसी पक्षी से संदेश कहना चाहती है । उसे दूत रूप भेजने के लिए ज्योंही अपनी बात कहना चाहती है कि—

जेहि पंछी कै नियर होइ, कहै बिरह कै बात ।
सोइ पंछी, जाइ जरि, तरिवर होंहि निपात ।।

जिस पक्षी के पास जाती है, वही जल जाता है । जिन पेड़ों के पास जाती है, वे ही निष्पत्र हो जाते हैं । विरह अनुदिन बढ़ता जाता है । अब मानो सारा शरीर स्वयं अग्नि हो गया है ।

जनहुं अगिनि के उठहिं पहारा । औ सब लागहिं अंग अंगारा ।।

ताप के अतिरिक्त विरह के अन्यान्य अंगों का भी विन्यास जायसी ने इसी हृदय-हारिणी और व्यापकत्व विधायिनी पद्धति पर वाह्य प्रकृति के मूल आभ्यंतर जगत् का प्रतिविबम्ब-सा दिखाते हुए किया है ।

रोवं रोवं वै बान जो फूटे । सूतहि सूत सहिर मुख छूटे ।।
नैनहिं चली रक्त कै धारा । कंथा भीजि भएउ रतनारा ।।
ईशुर मा पहार जो भीजा । पै तुम्हार नहिं रोवं पसीजा ।।

इसी प्रकार नागमती के आंसुओं से सारी सृष्टि भीगी जान पड़ती है ।

कुहुकि-कुहुकि जस कोइल रोई । रक्त आंसु घुंघची बन जोई ।।

उसके प्रेम का फिर उत्सर्ग हो जाता है । वह भोग के लिए पति को नहीं चाहती । वरन् उनको केवल देखने की ही लालसा उसमें रह गई है । अतः दूर से ही पक्षी से कहती है :

अबहु मया कस, कस जिउ फेरा । मोहि जियाउ कंत देइ मेरा ।।
मोहिं भोगसी काज न बारी । सौंह कै चाहन हारी ।।

इसलिए वह सौति के चरणों में जा गिरती है—यहां प्रेम का परम उत्कर्ष है ।

सवति न होसि तू बैरिनी मोर कंत जेहि हाथ ।
आनि मिलाव एक बेर, तोर पांय मोर माथ ।।

संयोग-शृंगार : यद्यपि 'पद्मावत' में वियोग-शृंगार ही प्रधान है, पर संयोग-शृंगार का भी पूर्ण वर्णन हुआ है । बारह मासा विप्रलंभ के उद्दीपन की दृष्टि से लिखा गया है । षड़ऋतु-वर्णन संयोग-शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से । राजा रत्नसेन के साथ संयोग होने पर पद्मावती को पावस की शोभा का कैसा अनुभव हो रहा है, यह भली-भांति चित्रित है—

पद्मावति चाहत ऋतु पाई । गगन सोहावन भूमि सोहाई ।।
चमक बीजु, बरसै जल सोना । दादुर मोर सबद सुठि लोना ।।
रंगराती पीतम संग जागी । गरजे गगन चौंकि गर लागी ।।

पद्मावती शृंगार करके राजा के पास आयी है । उस समय का चित्र कवि अनूठे ढंग से संजोता है ।

साजना लेह पठावा, आपसु जाइ न मेट ।
तन, मन, जोवन साजि कै देइ चली जेह भेंट ।।

उसके उल्लास और प्रेम-विभोर तन-मन की अद्‌भुत छटा है—

बदन देखि घटि चंद समाना। बसन देखि कै बीजु लजाना।।
खंजन छपे देखि कै नैना। कोकिल छपी सेनत मधु बैना।।
पहुंचहि छपी कंवल पौ नारी। जांघ छपा कदली हाइ बारी।।

निश्चय ही संयोग-शृंगार में भी उनकी महती सफलता है।

प्रकृति-चित्रण : जायसी सूफ़ी महात्मा थे। वे प्रकृति के नाना रूपों में उसी ईश्वर का प्रतिबिम्ब देखते हैं। वे संसार के अणु-अणु में अपने प्रिय की सत्ता का अनुभव करते हैं। पक्षियों के कूजन में, झरनों के झर-झर में और सरिताओं की कलकल ध्वनि में जायसी को प्रभु की मोहक मूर्ति का ही गुणगान सुनाई पड़ता था। सघन बनों में, नंगे खड़े हुए वृहदाकार वृक्षों में और सीप तथा कौड़ी में उन्हें प्रभु के वियोग से उत्पन्न तीव्र व्यथा का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। उनका प्रकृति-प्रेम ईश्वर-प्रेम का एक अंग है।

जायसी प्रकृति को भिन्न-भिन्न उपादानों के माध्यम से अपने काव्य में खींच लेते हैं। कभी प्रकृति के छविशाली अंगों को गिनाने लग जाते हैं। कभी उपमा देने के लिए उनका उपयोग करते हैं। कभी-कभी सिद्धान्तों के सुगम स्पष्टीकरण के लिए प्रकृति को प्रतीक रूप में ले जाते हैं। इस प्रकार हम उनकी प्रकृति-वर्णन की पद्धतियों को निम्नलिखित में बांट सकते हैं :

१. परिगणन-पद्धति : कभी जायसी वस्तुओं के नामों की गणना में ही तत्पर दिखाई पड़ते हैं। अनेक स्थल इसके उदाहरण-स्वरूप दिये जा सकते हैं। सिंहलद्वीप वर्णन खंड में इस शैली का अधिक प्रयोग है। फल-फूल, वृक्ष, घोड़े, हाथी आदि नाना नामों का मानों कवि ने कोष उपस्थित कर दिया है। पर निस्सन्देह ही ये काव्य के दुर्बल पक्ष हैं।

२. अतिशयोक्तिपूर्ण शैली : इसके द्वारा हमें कवि की चमत्कारपूर्ण कल्पना-शक्ति का परिचय मिलता है। कवि की नई-नई उद्भावनायें यहां भली प्रकार देखने को मिल जाती हैं। साधारण वस्तु को भी अभूतपूर्व बना देने में कवि सफल हो गया है। मानसरोवर में स्नानार्थ उतरती हुई पद्मावती को देख सरोवर किस प्रकार हर्षोल्लास से भर जाता है—इसकी अद्‌भुत कल्पना है।

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पांव छुवै मुक्त पांवों, एहि किस लहरेह लेइ।।

षड्ऋतु वर्णन में इस शैली का प्रचुर प्रयोग है।

३. उपमान-शैली : इस शैली के द्वारा कवि ने नखशिख-वर्णन, स्वभाव-वर्णन, एवं मानवीय भावनाओं के वर्णन में प्रकृति के अनेक व्यापारों का प्रयोग किया है। इस शैली में प्रकृति-वर्णन अधिक सुंदर बन पड़ा है।

४. प्रतीक शैली : यह शैली सूफी कवियों की विशेष शैली है। जायसी ने रत्नसेन और पद्मावती के स्थान पर काव्य में, सूरज-चांद, कमल, भंवरा आदि प्रतीकों का बार-बार प्रयोग किया है। जायसी ने इन दोनों का नाम बहुत कम प्रयोग किया है। विशेषकर

इन्हीं प्रतीकों से काम चलाया है। जहां भी आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना करनी होती है, वहां वर्ण्य वस्तु को छोड़ प्रतीकों को कवि फट अपना लेता है।

जायसी का रहस्यवाद

अनन्त काल से सृष्टि तथा सृष्टा के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करने के लिए लोग प्रयत्नशील रहे हैं। सृष्टि-सृष्टा, आत्मा तथा परमात्मा के इस सम्बन्ध को जब दाम्पत्य-भाव के माध्यम से व्यक्त किया जाता है तो इसे रहस्यवाद की संज्ञा दी जाती है। विभिन्न देशों में, विभिन्न कालों में, विभिन्न संस्कृतियों में इस प्रकार की रहस्यवादी रचनायें प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। हिंदी में सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि कबीर माने जाते हैं। कबीर ने आत्मा को स्त्री रूप और परमात्मा को पुरुष रूप में स्वीकार किया है। भारतीय संस्कृति में तो विशेष रूप से स्त्री सदा ममता, स्नेह, प्रेम, प्रणय, सहानुभूति तथा इसी प्रकार की शतशत कोमल भावनाओं पर जीती आई है। परन्तु जायसी में यह रहस्यानुभूति परमात्मा को स्त्री और आत्मा के पुरुप रूप में हुई है। 'पद्मावत' में रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए आतुर है। साथ ही साथ प्रयत्नशील भी। अतः रत्नसेन आत्मा रूप में है, पद्मावती परमात्मा रूप में।

रहस्यवाद का दूसरा अंग है—विरह भाव। अतः वियोगी का संतप्त एवं दुखी रहना स्वाभाविक है। यही कारण है कि रहस्याभिव्यक्ति में सदा वेदना का प्राधान्य मिलेगा। जायसी में इस वेदना की प्रधानता है जैसा कि हम विप्रलंभ-शृंगार के वर्णन में देख चुके हैं। जायसी अपनी रहस्यानुभूति में सूफ़ी थे और वेदना का सूफ़ी-परम्परा में सर्वोच्च स्थान है। अतः उनके रहस्यवाद में पग-पग पर 'वेदना' मिलना स्वाभाविक है। नागमती, पद्मावती तथा रत्नसेन तीनों का विरह-वर्णन अत्यन्त विशद, मर्मस्पर्शी तथा व्यापक बन पड़ा है। जायसी का आध्यात्मिक परिणय लौकिक कथानक के साथ चलता है। इसलिए उसमें पात्रों के व्यक्तिगत सुख-दुख के स्पन्दनों के योग से एक अनोखी संवेदनीयता आ गयी है।

इस आध्यात्मिक अनुभव में गुरु का बहुत बड़ा स्थान है। जायसी और कबीर दोनों ने इस बात पर बड़ा बल दिया है। सद्गुरु की महिमा का बड़ा गान किया है। दोनों ने गुरु को पथ-प्रदर्शक माना है। इतना ही नहीं, भगवान्-रूप में भी देखा है।

जायसी की रहस्यवादी परम्परा में हठयोग का भी महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जायसी यद्यपि अत्यन्त भावुक सूफ़ी थे, पर हठयोग परम्परा को उन्होंने भी पूरी तरह से अपनाया।

आचार्य चंद्रबली पाण्डेय जी ने जायसी और कबीर के रहस्यवाद का अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जायसी भावना-प्रिय प्राणी है, कबीर वाद-प्रिय स्रष्टा। कबीर ने क्या देखा, यह थोड़े लोग ही देख पाये हैं। जायसी ने जो देखा वह सबके सामने है। कबीर का पुरुष शून्य महल में रहा, पर जायसी का प्रियतम कण-कण में अपनी झांकी दिखाता रहा। इसका अर्थ यह नहीं कि कबीर ने कण-कण में उस पुरुष को नहीं देखा। देखा, और अवश्य

देखा, किन्तु बताने के लिए ही, कमाने के लिए नहीं। कबीर कहते हैं, जायसी दिखाते हैं। यही कारण है कि कबीर की रहस्यानुभूति केवल सांकेतिक है, जायसी की व्याख्यात्मक। कबीर में अनोखा अक्खड़पन है, जायसी में दैन्य तथा आत्म-समर्पण आंसुओं से भीगे हुए हैं।

रस

रसों का परिपाक अन्य रचनाओं की अपेक्षा पद्मावत में ही विशेष रूप से हुआ है। पद्मावत शृंगार-रस प्रधान काव्य है। शृंगार-रस के उभय पक्ष--संभोग और विप्रलंभ का विशद निरूपण किया गया है। शृंगार-रस के अतिरिक्त और रसों का भी कवि ने वर्णन किया है। परन्तु वे सब गौण हैं। इन रसों में हास्य, करुण, वत्सल, वीर, शांत और वीभत्स हैं। इनका पद्मावत में यथास्थान भरपूर समावेश है। हास्य, वत्सल, शांत रस के छोटे-छोटे प्रसंग अनेक स्थानों में आये हैं। वीर, शांत, और वीभत्स रसों का उत्तरार्ध में प्रयोग हुआ है। करुण रस का प्रयोग जोगी-खंड और सती-खंड में व्यापक रूप से हुआ है। इन सबका वर्णन कवि ने काव्य-रीति के अनुसार ही किया है।

अलंकार-योजना

अधिकतर अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है। जायसी ने सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। सादृश्य की योजना दो दृष्टियों से की जाती है। स्वरूप-बोध के लिए और भाव तीव्र करने के लिए ही अधिकतर इसे प्रयोग में लाया करते हैं। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा का व्यवहार अधिक मिलता है। इनमें से हेतूत्प्रेक्षा जायसी को बहुत प्रिय थी। इसके सहारे उन्होंने अपनी कल्पना का विस्तार बहुत दूर तक बढ़ाया है। कहीं-कहीं तो सारी सृष्टि को अपने भाव के भीतर ले लिया है। अब हम उदाहरणों और प्रसंगों द्वारा उनकी अनुभूति करें----

वस्तूत्प्रेक्षा : काले केशों के बीच मांग की शोभा दर्शनीय है–

कंचन-रेख कसौटी कसी। जनु घन महं दामिनी परगसी॥
सुरुज-किरन जनु गगन बिसेखी। जमुना मांह सुरसतीं देखी॥

हेतूत्प्रेक्षा : हेतूत्प्रेक्षा अलंकार उत्कर्ष की व्यंजना के लिए बड़ा शक्तिशाली होता है। ललाट का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि–

सहस किरन जो सुरुज दिपाई। देखि लिलार सोउ छिप जाई॥

सूर्य छिपता अवश्य है, पर उसके छिपने का जो हेतु कहा गया है, वह कवि-कल्पित है और उस हेतु का आधार 'लज्जित होना' सिद्ध नहीं है।

फलोत्प्रेक्षा : रूप-वर्णन में फलोत्प्रेक्षा भी कई जगह मिलती है। जैसे नासिका के वर्णन में—

पुहुप सुगंध करहि एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा॥

व्यतिरेक : व्यतिरेक का उपयोग बहुत ही सुंदर बन पड़ा है। 'मुख' की उपमा पाने

वाला भला चंद कहाँ ?

का सरवरि तोहि देउ मयंकू। चांद कलंकी, वह निकलंकू ।।
ग्रौर चांदहिं पुनि राहु गरासा। वह बिनु राहु सदा परगासा ।।

रूपकातिशयोक्ति : इस अलंकार के भी हेतूत्प्रेक्षा के समान ही मनोहर प्रयोग हैं। रतनारे नेत्रों के बीच घूमती हुई पुतलियों की शोभा की ओर कवि इस प्रकार इशारा करता है।

राते कंवल करहि ग्रलि भवां। घूमहि माति चहहि ग्रपसवां ।।

विनोक्ति : **कहां छपा ऐ चांद हमारा। जेहि बिनु रैनि जगत अंधियारा ।।**

सम्बन्धातिशयोक्ति : **निति गढ़ बांचि चलै ससि सूरू। नाहिं त होइ बाजि रथ चूरू ।।**

दृष्टान्त : **का भा जोग-कथनि के कथैं। निकसै घिउ न बिना दधि मथैं।**

यहां तक तो अर्थालंकारों के विशिष्ट नमूने ही देखने में आए। शब्दालंकारों पर भी जायसी स्थल-स्थल पर सुलभ हैं।

अनुप्रास : **१. पपिहा पीउ पुकारत पावा।**
२. भूमि जो भीजि भरइउ सब गेरू।
३. रंग रकत रह हिरदय राता।

यमक : **१. रसनहिं रस नहिं एकौ भावा।**
२. गइ सो पूजि, मन पूजि न ग्रासा ।।

श्लेष के भी यथास्थान अच्छे प्रयोग हुए हैं। सबसे व्यापक प्रयोग तो 'अन्योक्ति' का है। सारा पद्मावत अन्योक्ति-मय है। जिसे अंत में कवि ने उपसंहार में स्वयं स्पष्ट किया है।

तन चित उर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पद्मिनी चीन्हा ।।
गुरू सुग्रा तेइ पंथ देखावा। बिनु गुरू जगत को निरगुन पावा ।।
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बंधा ।।
राघव दूत सोई संतानू। माया ग्रलाउदीं सुलतानू ।।
प्रेम-कथा एहि भांति विचारहु। बुद्धि लेहु जो बूझै पारहु ।।

३. सूरदास

जीवनी

भक्ति-काल के कवियों के व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं के विषय में बहुत थोड़ी सामग्री उपलब्ध है। कारण यह है कि ये भक्त-कवि अपने आराध्य देव के प्रेम में इतने तन्मय हो गये थे कि जो कुछ भक्ति के पद रचे, उनमें अपने विषय में कहने का जीवन-भर अवकाश ही न मिला। उनके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों ने भी उनकी जीवनी बहुत ही कम लिखी है।

भक्त-शिरोमणि सूरदास जी ने अपने विषय में अपने ग्रन्थों में कुछ विशेष नहीं कहा है। कहीं-कहीं जो कुछ उल्लेख पाये जाते हैं वे भी प्रसंगवश आये प्रतीत होते हैं। गोस्वामी गोकुलनाथ जी लिखित '८४ वैष्णवों की वार्ता', 'अष्ट सखान की वार्ता', हरिराम कृत 'भाव प्रकाश' और मियांसिंह के 'भक्त-विनोद' से सूरदास जी की जीवनी के विषय में थोड़ा परिचय मिलता है।

सूरदास जी की जन्म-तिथि के विषय में किसी ग्रन्थ में निश्चित रूप से कोई उल्लेख नहीं है। 'सूर-सारावली' की पदसंख्या १००२ में आयु-सम्बन्धी एक पंक्ति मिलती है। उसमें सूर ने अपनी अवस्था ६७ वर्ष की कही है :

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव-विधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहिं लीन।।

तात्पर्य यह कि ६७ वर्ष की आयु के कुछ पहले वे 'सूरसागर' समाप्त कर चुके थे। 'सूरसागर' की समाप्ति के कुछ ही पीछे उन्होंने 'सारावली' लिखी होगी। एक और ग्रन्थ सूरदास का 'साहित्य लहरी' है; जिसमें अलंकारों और नायिका-भेदों के उदाहरण प्रस्तुत करने वाले कूट-पद हैं। इसका रचना-काल सूर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

मुनि सुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनंद को लिखि सुबल संवत पेख।।

इसके अनुसार संवत् १६०७ में 'साहित्य लहरी' की रचना पूर्ण हुई होगी। पहले मानना ही पड़ेगा कि साहित्य-क्रीड़ा का यह ग्रन्थ, 'सूरसागर' ऐसे गंभीर ग्रन्थ से छुट्टी पाकर ही सूर ने संकलित किया होगा। उसके दो वर्ष पूर्व यदि 'सूर सारावली' की रचना हुई तो कह सकते हैं कि संवत् १६०५ में सूरदास जी ६७ वर्ष के रहे होंगे। अब यदि इनकी आयु ८० या ८२ वर्ष की मानें तो अनुमानतः उनका जन्म-काल संवत् १५४० तथा मृत्यु-काल संवत्

१६२० के आस-पास माना जायगा। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' की श्री हरिदास जी की टीका के अनुसार इनका जन्म-स्थान दिल्ली के समीप 'सीही' ग्राम माना जाता है।

उक्त 'वार्ता' से यह भी ज्ञात होता है कि वे पहले आगरा और मथुरा के बीच एक साधु के रूप में रहा करते थे और भगवद्भक्ति का उपदेश देकर शिष्य बनाया करते थे। गोवर्द्धन पर श्रीनाथ जी का मन्दिर बन जाने के पीछे एक बार जब बल्लभाचार्य जी गऊ-घाट पर उतरे, तब सूरदास जी उनके दर्शन के लिए आए और उन्हें अपना बनाया हुआ एक पद गाकर सुनाया। आचार्य जी ने प्रसन्न होकर अपना शिष्य बना लिया और भागवत की कथाओं को गाने योग्य पदों में रचने का आदेश दिया। उनकी सच्ची भक्ति और पद-रचना की निपुणता देख बल्लभाचार्य जी ने उन्हें अपने श्रीनाथ जी के मन्दिर की कीर्तन-सेवा सौंपी। संवत् १५८७ में श्री बल्लभाचार्य जी की मृत्यु हुई।

बल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने का संकेत हमें 'चौरासी-वैष्णवों की वार्ता' से मिलता है:

"औरहु पद गाये तब श्री महाप्रभु जी अपने मन में बिचारे जो श्रीनाथ जी के यहां और तो सब सेवा को मंडान भयो है, पर कीर्तन को मंडान नाहीं कियो है; तातें अब सूरदास जी को दीजिये।"

भक्त लोग कभी-कभी किसी अनोखे ढंग से अपने को निज इष्ट देव की कथा के भीतर डालकर उनके चरणों तक पहुंचने की भावना करते हैं। इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा-प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट रूप में राम और कृष्ण के समीप तक पहुंचाया है।

'सूरसागर' के दशम स्कन्ध के आरम्भ में सूरदास ने श्रीकृष्ण के दर्शन के लिए अपने को ढाढ़ी के रूप में नन्द के द्वार पर पहुंचाया है। नन्द महाराज के घर श्रीकृष्ण-जन्मोत्सव की नित्य धूम रहती है। इसी बीच एक ढाढ़ी आकर कहता है:

नंदजू मेरे मन आनंद भयो, हौं गोवर्द्धन तें आयो।
तुम्हरे पुत्र भयो, मैं सुनि कै, अति आतुर उठि धायो॥

* * *

जब तुम मदन मोहन करि टेरौ, यह सुनि कै घर जाऊं।
हौं तो तेरे घर को ढाढ़ी, सूरदास मेरो नाऊँ॥

बल्लभाचार्य जी के पुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सामने गोवर्द्धन की तलहटी में पारसोली ग्राम में सूरदास जी ने शरीर छोड़ा, इसका पता भी 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से लगता है।

'साहित्य लहरी' में एक पद सूरदास के वंश-परिचय का मिलता है। उस पद के अनुसार सूर पृथ्वीराज के दरबारी कवि चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट थे। वह पद यह है:

प्रथम ही प्रथु जागतें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्म राव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥

* * *

भयो सप्तो नाम सूरज चंद मन्द निकाम ।।
सो समरकरि साहि सेवक गए विधि के लोक ।
रहो सूरज चंद दृग तें हीन भरि वर सोक ।।

उपर्युक्त वंशावली के अनुसार सूरदास जी के ६ बड़े भाई थे। तथा सूरदास ७वें सबसे छोटे थे। इनके भाई बड़े शूरवीर, प्रतापी, रण-कुशल तथा स्वभाव से बड़े गम्भीर थे। भक्ति-क्षेत्र में सूर ने भी अपनी वैसी ही प्रतिभा दिखाई और अपने कुल को उज्ज्वल किया। इनके सब भाई तत्कालीन शाह से युद्ध करते मारे गए। तब अन्धे सूरदास दुःखी तथा असहाय होकर बहुत दिनों तक इधर-उधर भटकते रहे। एक दिन वे अचानक एक कुएं में गिर पड़े। छः दिन उसी में पड़े रहे। सातवें दिन भगवान् कृष्ण ने उनका उद्धार किया और उन्हें दिव्य-चक्षु देकर अपना दर्शन कराया तथा वरदान मांगने को कहा। सूरदास जी ने स्वभाव से ही शत्रुनाश करने वाली भक्ति की याचना की। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण-कुल द्वारा तुम्हारे शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर मांगा कि जिन आंखों से मैंने आपका दर्शन किया उनसे अब और कुछ न देखूं और सदा आपका भजन करूं। कुएं से जब भगवान ने बाहर निकाला तब वे ज्यों के त्यों अंधे हो गए और ब्रज में आकर भजन करने लगे। जहां गोसाईं जी ने उन्हें अष्टछाप में प्रमुख पद देकर सम्मिलित किया।

'साहित्य लहरी' में उल्लिखित पद को कई विद्वान् प्रक्षिप्त मानते हैं।

अधिकांश विद्वान् सूरदास को चन्दबरदाई का ही वंशज मानते हैं, पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी यदुनाथ जी तथा विट्ठलनाथ जी के सेवक श्री नाथ भट्ट ने तथा इन्हीं के समकालीन कवि प्राणनाथ ने सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखा है। ये सूरदास के समकालीन थे, अतः इनके लेखों पर अधिक विश्वास किया जा सकता है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास जी के प्रारम्भिक जीवन के विषय में कुछ भी नहीं मिलता। जब से उन्होंने आचार्य वल्लभ का शिष्यत्व ग्रहण किया तब से आगे की जीवन घटनाओं का ही उसमें उल्लेख है। प्रारम्भिक जीवन की जानकारी के लिए हमें दो साधन मिलते हैं—हरिराय जी लिखित 'भाव-प्रकाश' तथा मियांसिंह-रचित 'भक्त-विनोद'। पर, दोनों की घटनाओं में कोई साम्य नहीं दिखाई देता।

'भाव-प्रकाश' में सूरदास जी को ब्राह्मण कुल में उत्पन्न बताया गया है। जन्म-स्थान दिल्ली के पास 'सीही' ग्राम ही माना गया है। पिता का नाम नहीं दिया गया है। जन्म से ही वैराग्य की ओर अभिरुचि हुई। घर-बार छोड़कर दूर किसी ग्राम के बाहर एक घने और हरे-भरे वृक्ष के नीचे रहने लगे। १८ वर्ष तक इसी स्थान पर रहे। इनकी कई बातें प्रायः सत्य हुआ करती थीं। अतः आस-पास के लोगों को इन पर अपार श्रद्धा हो गई थी। संगीत की राग-रागिनी का अभ्यास इन्होंने यहीं किया। प्रसिद्धि इतनी बढ़ गई कि लोग दूर-दूर से आकर इनके उपदेश और भजन सुनने लगे और शिष्य भी बनने लगे। आगन्तुक लोग इन्हें धन-वस्त्रादि सामग्री अर्पण करने लगे जिससे इनका भरण-पोषण होता

था। एक दिन इन्हें संसार में फँसने का ध्यान आया। इसका इन्हें बहुत दुःख हुआ। संग्रह की इस भावना को त्याग कर एक दिन उस गांव से चले गए और आगरा तथा मथुरा के बीच गऊघाट पर स्थायी रूप से रहने लगे। यहां उनका विद्याध्ययन और संगीत-अभ्यास का क्रम चलता रहा। यहां ३१ वर्ष तक वे रहे।

'भक्त माल' में सूरदास के सम्बन्ध में केवल एक ही छप्पय मिलता है—

उक्ति चोज अनुप्रास बरन-अस्थिति अति भारी।
बचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि, हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
बिमल बुद्धि-गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कबित सुनि कौन कवि की नहिं सिरचालन करै॥

इस छप्पय में 'प्रतिबिंबित दिवि दिष्टि' पद से सूर के अन्धे होने का संकेत मिलता है। सम्भव है कि परम्परा से प्रसिद्धि के आधार पर ही ऐसा लिखा गया हो।

सूरदास जन्मान्ध थे अथवा कालान्तर में अन्धे हुए, इस विषय पर अद्यापि विद्वानों में मतभेद है। परन्तु इतना निश्चित है कि सूरसागर की रचना वल्लभाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण करने के बाद हुई। उनके विनय के पदों में जहां-तहां अन्धे होने के उल्लेख हैं :

(१) **'यहै जिय जानि कै अन्ध भवत्रास तैं।**
सूर कामी कुटिल सरन आयौ'॥

(२) **'सूरदास सौं कहा निहोरौं नैनन हूं की हानि।'**

(३) **'सूर कूर आंधरौं, मैं द्वार पर्यो गाऊं।'**

(४) **'कर जोरि बिनती करै, सुनहु न हो रुकुमिनी रवन।**
कटौ न फंद मो अंध के, अब बिलंब कारन कवन।'

(५) **'सूरदास अंधे अपराधी, सो काहे बिसरायो।'**

(६) **'इत उत देखत जनम गयो।**
या झूठी माया के कारण दुहुं दृग अंध भयो।'

उक्त पदों के आधार पर यह तो निश्चय हो जाता है कि सूरदास जी अन्धे थे परन्तु यह निश्चित नहीं कर सकते कि वे जन्मान्ध ही थे। क्रमांक १ और २ उद्धरणों से ऐसा भासित होता है कि सूरदास के जीवन में ऐसी कोई घटना घटी होगी जिससे संसार से उत्कट वैराग्य हो जाने के कारण अथवा किसी विषय-भोग के कारण उन्होंने दुःखी होकर आंख फोड़ दी हो या स्वतः प्रकाश चला गया हो।

बहुतों की धारणा है कि बिल्वमंगल सूरदास के जीवन की यह घटना, जिसमें चिन्तामणि नामक वेश्या के प्रति उत्कट वैराग्य हो जाने के कारण सूरदास को आंखें फोड़ लेनी पड़ी थीं, इन्हीं हमारे चरित-नायक सूरदास से सम्बन्धित है। परन्तु खोज से यह सिद्ध हो चुका है कि बिल्वमंगल सूरदास काशी के पास कृष्णवेना के निवासी थे। अतएव

उपर्युक्त घटना सूरसागर के रचयिता सूरदास के जीवन में नहीं घटी।

जन्मान्ध न मानने वाले विद्वानों का कहना है कि यदि सूरदास जन्म से अन्धे होते तो रूप-रंग, हाव-भाव ज्योति का वर्णन ऐसे मनोरम रूप में न कर पाते। उन्होंने उपमाएं ऐसी चुभती हुई दी हैं, जिनसे यह किसी प्रकार निश्चय नहीं हो पाता कि कोई व्यक्ति बिना आंखों-देखे, केवल श्रवण शक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त करके ऐसा वर्णन कर सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अनेक जन्मान्ध अपूर्व प्रतिभाशाली हुए हैं। और सूर जैसे प्रतिभा-सम्पन्न का रंग-रूप, हावभाव का विस्तृत वर्णन संकल्पात्मक अनुभूति के द्वारा भी हो सकता है। हरिराय की भावनावाली 'वार्ता' में उनके जन्मान्ध होने का स्पष्ट उल्लेख है और इसी कारण उन्हें माता-पिता द्वारा तिरस्कृत कहा गया है। डा० ब्रजेश्वर वर्मा का कहना है कि सूर को जन्म से अन्धा मानना तर्क-संगत नहीं है। संभव है वे वृद्धावस्था को प्राप्त होते-होते अंधे हो गए हों। डा० दीनदयाल गुप्त ने मध्यम मार्ग निकाला है। उनका कहना है कि बाह्य प्रमाण विरुद्ध होते हुए भी यदि यह मान लिया जाय कि सूरदास अपनी बाल्यावस्था में ही अन्धे हो गए थे तो इसमें सूर का महत्व कोई कम नहीं होता। उनकी कल्पना-शक्ति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि जिस संसार को उन्होंने अपरिपक्व बुद्धि से देखा, उसी को अन्धे होने पर अपनी सहज-सुलभ कल्पना-शक्ति, अनेक ग्रन्थों के श्रवण द्वारा उपार्जित ज्ञान, अपनी कुशाग्र स्मरण शक्ति के सहारे, प्रौढ़ और सजीव रूप में चित्रित कर सके।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार मालूम पड़ता है कि जब बल्लभाचार्य की दिग्विजय की प्रशंसा सूरदास जी ने सुनी तो उनसे मिलने के लिए सहर्ष आए। मिलने पर आचार्य जी ने उन्हें कुछ गाने को कहा। सूरदास जी ने विनय के दो पद सुनाए। सुनकर आचार्य जी ने कहा कि सूर होकर ऐसे घिघियाते क्यों हो ? कुछ भगवान की लीलाओं का वर्णन करो। सूर ने कहा—"जो महाराज हौं तो समझत नाही।" तब आचार्य जी ने उन्हें सम्प्रदाय के अनुसार दीक्षा दी तथा श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध की संक्षेप में कथा सुनाई—"तातें सूरदास जी को नवधा-भक्ति सिद्ध भई। तब सूरदास जी ने भगवत-लीला वर्णन करी। अनुक्रमणिका तें सम्पूर्ण लीला फुरी और ताही समय श्री महाप्रभून के सन्नि-धान पद कियो। सो पद राग बिलावल में है : 'चकई री चलि चरण सरोवर जहां न प्रेम वियोग'।"

श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए सूर ने सहस्रों पद बनाए। सूर की ख्याति चारों ओर फैल गई। अकबर बादशाह ने उनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की। भेंट के समय अकबर ने सूरदास से अपना यशोगान सुनना चाहा, इस पर सूर ने 'मना तू करि माधो सों प्रीति' यह पद गाया। अकबर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि मुझे परमेश्वर ने इतना विशाल साम्राज्य दिया है, सब मेरा यशोगान करते हैं, तुम भी कुछ गाओ। तब सूर ने गाया—"ताहि न रह्यो मन में ठौर।" तदनन्तर सूरदास अकबर से विदा लेकर अपने स्थान पर आ गए।

संवत १६२३ में विट्ठलनाथ जी गोवर्द्धन से कहीं बाहर चले गये थे। इसी समय उनके पुत्र गिरिधर जी श्रीनाथ को मथुरा ले गए। साथ में सूर भी चले गए। संवत् १६२१ में प्रसिद्ध गायक तानसेन दरबारी गायक नियत हुए थे। इन्हीं की प्रेरणा से अकबर सूर से मिलना चाहता था। अतः अकबर की सूरदास से मथुरा में संवत् १६२३ और संवत् १६२८ के बीच भेंट हुई होगी।

संवत् १६१६ के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथ जी जगन्नाथपुरी की यात्रा को गए। साथ में सूरदास जी भी थे। रास्ते में 'कामतानाथ' पर्वत पर सूर ने तुलसी से भेंट की। बाबा बेनीमाधव दास जी ने इसका कुछ पंक्तियों में वर्णन किया है:

सोलह सौ सोलह लगे कामद गिरि ढिग वास।
शुचि एकान्त प्रदेश महं, आये सूर सुदास॥......
(मूल गोसाईं चरित)

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने जब पुष्टि-सम्प्रदाय के आचार्य पद को सुशोभित किया तब संवत् १६०२ में अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवियों के द्वारा अष्टछाप की स्थापना की, जिसमें ४ आचार्य बल्लभ के और ४ इनके शिष्य थे। उनका क्रम यों है:—

१—सूरदास, २—कुंभनदास, ३—कृष्णदास, ४—परमानन्ददास, ५—गोविन्द स्वामी, ६—नन्ददास, ७—छीत स्वामी, ८—चतुर्भुज दास।

इन आठों भक्त-कवियों में सूरदास का स्थान सर्वोच्च था। आज हमें राधा-कृष्ण विषयक जो भी साहित्य उपलब्ध है उसमें अष्टछाप सबसे अधिक सरस, प्रभावशाली, भक्ति से परिपूर्ण एवं चिरस्थायी है तथा इसमें भी सूरदास जी का 'सूरसागर' सर्वश्रेष्ठ है।

'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार सूरदास जी गोकुल में रहते-रहते वृद्धावस्था को प्राप्त हुए। जब विदित हुआ कि अंत समय निकट है तब वे 'पारसोली' चले गए। पारसोली रासलीला का प्रधान केन्द्र स्थान था। वहां श्रीनाथ जी के मन्दिर की ध्वजा को दण्डवत् प्रणाम करके आचार्य जी का स्मरण करते हुए इस आशा से लेट गए कि अन्त में श्रीनाथ जी के दर्शन होंगे।

जब गोस्वामी जी को यह संवाद मिला, तब वह भी पारसोली पहुंचे; और सूरदास से अन्त तक उनसे बातचीत होती रही। उसी समय किसी ने सूरदास से पूछा—"आपने अपने गुरु का कोई पद क्यों नहीं बनाया?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने सब पद गुरु जी ही के बनाए हैं, क्योंकि मेरे गुरु और श्रीकृष्णचन्द्र में कोई भी भेद नहीं है।" तथापि एक नया पद भी गाया। वह यों हैं—

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो;
श्री बल्लभ-नख-चन्द-छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरो।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरो;
'सूर' कहा कहि दुबिधि आंधरो, बिना मोल को चेरो।

अन्त समय सूरदास कृष्ण-राधिका का एक भजन कह कर ऐसे प्रेम-विभोर हुए कि

इनके नेत्रों में आंसू छलछला आए। इस पर गोस्वामी जी ने पूछा, "सूरदास जी, नेत्र की वृत्ति कहां है ?" तब उन्होंने निम्नलिखित पद सुनाकर शरीर त्याग दिया—

खंजन-नयन रूप-रस-माते;
अतिसै चारु, चपल, अनियारे पल-पिंजरा न समाते।
चलि-चलि जात निकट स्रवनन के उलटि-उलटि ताटंक फंदाते।
'सूरदास' अंजनगुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते।

कृतियां

सूरदास की रचनाओं के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं हो पाया है। सूरदास के नाम से अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं और खोज के आधार पर बहुत-से ग्रंथों की विज्ञप्तियां भी मिलती हैं। प्रकाशित ग्रन्थ ये हैं--सूरसागर, सूर पच्चीसी, सूररामायण, राधा-रस-केलि-कौतूहल, सूरसारावली, भंवरगीत, सूर साठी, साहित्य-लहरी, विनय दृष्टिकूट, बाललीला, गोपालगारी, बिसातन लीला, सूरशतक, सूर-संगीत-सार, सूर सागर-रतन, मयूर-ध्वज राजा की कथा। अप्रकाशित ग्रंथ ये हैं :—

दशम स्कन्ध भाषा, नागलीला, व्याहलो, मानलीला, हरिवंश टीका, एकादशी माहात्म्य, भागवत भाषा, सूरदास के पद, गोवर्द्धन लीला, प्राण-प्यारी, दानलीला, सूर-सागर सार, नल-दमयन्ती, रामजन्म, सेवा-फल। प्रकाशित और अप्रकाशित अधिकांश ग्रंथ-सूरसागर में ही निहित हैं। वे उससे स्वतंत्र रचना नहीं हैं। सूर के पदों को विषयानुसार अलग-अलग कर देने से ऐसा लगता है कि ये अलग विशिष्ट ग्रंथ हैं। अतः सूरदास जी रचित पांच ग्रन्थ ही बताए जाते हैं– १. सूरसागर, २. सूरसारावली, ३. साहित्य लहरी, ४. नल-दमयन्ती और ५. व्याहलो।

इनमें नल-दमयन्ती सूफ़ी काव्य है जो सूरदास नाम के किसी कायस्थ की दोहा-चौपाई में लिखी रचना है। व्याहलो भी अभी तक देखने में नहीं आया। इस प्रकार उपर्युक्त तीन ही ग्रंथों पर विवेचन किया जा सकता है।

सूरसागर : 'सूरसागर' के विषय में यह प्रसिद्धि है कि आचार्य वल्लभ स्वामी के आदेश से सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत का भाषानुवाद किया। अन्य स्कन्ध तो थोड़े-से पदों से ही पूरे किए गए हैं, केवल दशम स्कन्ध में कवि की सारी चातुरी दृष्टिगोचर होती है। इस प्रकार 'सूरसागर' १२ स्कन्धों में रचित है। जिस प्रकार तुलसी ने राम चरित मानस में अयोध्या काण्ड को खूब मनोयोग से रचा है, उसी प्रकार सूरसागर में सूर ने दशम स्कन्ध को ग्रथित किया है। इसका यह आशय नहीं कि अन्यत्र चमत्कार की कमी है। सूरसागर में श्रीमद्-भागवत के आशय पर ही सारा विवरण है, परन्तु कथाएं सर्वथा उसी क्रम एवं रूप में नहीं प्राप्त होतीं।

सूरदास की इस एकमात्र प्रमुख रचना का आकार क्या है ? कितने पद संगृहीत हैं ? यह विवाद का विषय बना हुआ है। अब तक सूरदास के लगभग ५००० (पांच सहस्र) पद

प्राप्त हैं। यदि ब्रज और भारतवर्ष के अन्य भागों में सूरदास के नाम पर प्रचलित मौखिक पदों को भी जोड़ लें तो यह संख्या कुछ और बढ़ जायगी। इस प्रकार यह संख्या अधिक से अधिक १०,००० तक ही पहुंच सकती है। यह लोक-प्रसिद्ध है कि सूरदास ने सवा लाख पद लिखे। सूर-सारावली में 'लक्षपद' इस प्रसिद्धि को पुष्ट करता है। पर जब तक इतनी संख्या में पदों की प्राप्ति नहीं, हो जाती या कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिल जाता, तब तक उन्हें समीक्षा में कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता।

अब तक के प्राप्त ५००० के लगभग पदों में भी सैकड़ों पदों में सूरज, सूरजदास नाम आने से यह सन्देह बना हुआ है कि ये पद उसी प्रसिद्ध सूरदास के ही हैं या अन्य किसी कवि के है जो नाम-साम्य के कारण सूरसागर के पदों में जोड़ दिए गए हैं। किन्हीं-किन्हीं पदों में 'सूर-श्याम' शब्द भी आया है। जिन पदों में यह शब्द है वे बड़े उच्चकोटि के पद हैं अतः सम्भव है कि सूरदास जी 'श्याम' के प्रेम में विभोर होकर कई नामों से रचना करते रहे हैं। स्वनाम-प्रसिद्धि का मोह तो इन महाकवियों को था नहीं। ये भक्त कवि तो अपने इष्ट देव की आराधना में प्रेम विभोर होकर पद बनाते और गाते थे, श्रोता गण स्मृति के आधार पर उन्हें संकलित करते रहे होंगे।

सूरसागर के वर्ण्य विषय में कोई मतभेद नहीं है। सभी को ज्ञात है कि उसका विषय कृष्ण-लीला ही है। अनेक पुराणों, काव्यों और नाटकों में कृष्ण-लीला का वर्णन है, पर देखना यह है कि सूरसागर में कृष्ण-लीला का कौन-सा अंग लिया गया।

सूरसागर की सामग्री श्रीमद्भागवत के ढंग पर ही १२ स्कन्धों में उपलब्ध है। प्रत्येक स्कन्ध की कथा में भी साम्य है। अन्तर यह है कि किसी स्कन्ध का वर्णन संक्षेप में है, किसी का विस्तार से। प्रत्येक स्कन्ध के आरम्भ में सूरदास ने भागवतकार वेदव्यास जी की स्तुति भी की है और इस तथ्य को बारबार स्वीकार किया है कि वे भागवत के अनुसार कथा कह रहे हैं। स्कन्ध १, पद ११३ में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

श्री मुख चारि श्लोक दिए, ब्रह्मा को समझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादश कन्ध बनाइ।
सूरदास सोई कहै, पद भाषा करि गाइ॥

इस उक्ति से सूरसागर के वर्ण्य विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

महर्षि व्यास ने जिस प्रकार भागवत के दशम स्कन्ध को पूरे मनोयोग से रचा है उसी प्रकार सूरसागर के दशम स्कन्ध को सूर ने। भागवत के विषय में यह जो उक्ति 'पिबत भागवतं, रसमालयम्' प्रसिद्ध है वह दशम स्कन्ध में ही तो चरितार्थ होती है। सूरसागर के दशम स्कन्ध में भी पूर्वार्द्ध का विशेष महत्व है। सूर ने भगवान् कृष्ण का गोपाल, नन्दनन्दन, और राधा-गोपी-वल्लभ रूप अधिक अपनाया है। महाराज कृष्ण के वैभव-विस्तार, यश-विस्तार पर उन्होंने कुछ लिखना उचित नहीं समझा।

सूर ने भगवान् कृष्ण की लीलाओं को दो रूपों में रचा है, (१) अलौकिक और (२)

लौकिक। अलौकिक लीलाओं में भगवान् के वे कार्य हैं जिन्हें सुनकर सभी को आश्चर्य होता है, जैसे पूतना-वध, शकटासुर-वध, बकासुर-वध, अघासुर-वध, गोवर्द्धन-पूजा, ऊखल बंधन, यमलार्जुन उद्धार, कालिय दमन आदि। इन कथाओं में भगवान् का षोड़श कला का पूर्ण ईश्वरीय रूप दिखाई देता है। सूर-प्रसिद्धि का विशेष आधार लौकिक लीलाएं हैं। श्रेष्ठ काव्यत्व, भक्ति और रहस्यवाद का सुन्दर समन्वय इन्हीं लौकिक लीलाओं में है। चीर-हरण, पनघट-लीला, दान-लीला, रास, राधा के मान आदि लीलाओं का वर्णन सूर ने इस प्रकार अविच्छिन्न सूत्र में पिरो कर किया है कि आश्चर्य होता है। एक ओर तो ये लीलायें लीला-मात्र हैं किन्तु दूसरी ओर आध्यात्मिक रूपक भी हैं जिनके द्वारा अध्यात्म-भाव की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। सूर के अनेक कथानक काल्पनिक हैं जो भागवत में तद्वत् रूप में नहीं मिलते। सूर की प्रतिभा के ये ही द्योतक हैं।

सूरसागर की सारी सामग्री रति स्थायी-भाव के दो रूपों—वात्सल्य और शृंगार के अन्तर्गत आ जाती हैं। दोनों के सुखात्मक और दुःखात्मक पक्ष समस्त संचारी भावों के साथ पूर्ण उत्कर्ष में उपस्थित हैं। केवल गोपी-विरह और भ्रमरगीत प्रसंग के एक हज़ार पद सूर ने उपस्थित किये हैं।

सूर सारावली : 'सूर सारावली' को कुछ विद्वान सूर की स्वतन्त्र रचना मानते हैं, पर, कुछ उसे सूरसागर और भागवत का संक्षिप्त परिचय मात्र। सारावली की समस्त कथा एक ही छन्द में वर्णित है और वह होली के रूपक में उपस्थित की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि यह रचना काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर नहीं बन पाई है। सूर सारावली की ओर विद्वानों का विशेष आग्रह निम्नलिखित पद के कारण है :—

गुरु परसाद होत यह दरसन, सरसठ बरस प्रवीन।
शिव विधान तप कियो बहुत दिन, तऊ पार नहिं लीन।।

इस पद में ६७ वर्ष की आयु तक शिव-विधान से तप करने की बात है और तदुपरान्त बल्लभाचार्य की कृपा से 'दरसन' करने का उल्लेख है। यदि उक्त पद प्रामाणिक मान लिया जाय तो 'सूर सारावली' का रचना-काल भी निश्चित हो जाता है और यह कहा जा सकता है कि इस आयु तक 'सूरसागर' की रचना सूर ने पूरी कर ली होगी।

विनय के पदों में सूर ने अनेक बार 'राम' को सम्बोधित किया है। सूरसागर के नवम स्कन्ध के अन्तर्गत राम की कथा बड़ी मार्मिकता से कही गई है।

इतनी ऊहापोह के बाद भी अभी तक कुछ विद्वानों की राय है कि सूर सारावली सूरदास की भावधारा का पूर्णतया प्रतिनिधित्व नहीं करती। अतः वे लोग सूर सारावली को सूर कृत मानने में मीन-मेष निकालते हैं।

साहित्य लहरी : साहित्य लहरी के अधिकांश पदों में स्पष्ट रूप से अलंकार, नायिका या भाव आदि का उल्लेख करके तत्सम्बन्धी उदाहरण उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। इस प्रकार यह रचना लक्षण-ग्रन्थ के रूप में उपस्थित है। इसके पद स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते हैं कि इसका प्रणयन साहित्यिक प्रेरणा से हुआ है। इसमें भक्ति-भावना उस प्रकार की नहीं

मिलती, जिस प्रकार सूरसागर में मिलती है। साहित्य लहरी के सूर मुख्यतः चमत्कारवादी कवि के रूप में सामने आते हैं।

मूल वार्ता में सूर का एक कूट इस प्रकार मिलता है :—

देख सखी ! एक अद्भुत रूप।
एक अम्बुज मध्य देखियत बीस दधि-सुत-जूप ॥
एक अबली, दोय जलचर, उभै अर्क अनूप।
पंच वारिज एक ही ढिग, कहो कहा सरूप ॥
सिसु गन में भई सोभा, अर्थ करो विचार।
'सूर' श्री गोपाल की छवि, राखिये उर धार।

यह पद हरिराय जी की वार्ता और कीर्तन-संग्रह भाग तीन में मिल जाता है। हरिराय जी की वार्ता में एक अन्य कूटपद भी है—'सोभा आजु भली बनि आई।' यह पद मूल वार्ता में तो नहीं है किन्तु कीर्तन-संग्रह भाग तीन में है। दोनों वार्ताओं के प्रभाव से यह सिद्ध होता है कि सूर-साहित्य में कूट पदों का महत्वपूर्ण स्थान था और वे प्रारम्भ से ही उनकी प्रामाणिक रचना माने जाते थे। जिस रूप में 'साहित्य लहरी' आज मिलती है उसमें ११८ पद हैं। उपसंहार में ५३ पद और जोड़े गए हैं। साहित्य लहरी के पद सूर-सागर से भिन्न हैं। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में है पर बहुत-से विद्वानों की राय में उसकी प्रामाणिकता पर भी सन्देह है। सूरसागर में जो कुछ कूट पद हैं वे साहित्यिक हैं और उनमें कवि की भक्ति-भावना का राधाकृष्ण सम्बन्धी किसी रहस्य की ओर संकेत है, पर, साहित्य लहरी में न भक्ति-भावना ही है न कवित्व का कल्पना पूर्ण प्रदर्शन। भाषा की दृष्टि से भी कोई महत्व नहीं है। संभव है कि समय विशेष में कवि ने अपना साहित्यिक रूप तथा भक्ति की धारा का प्रवाह बदल लिया हो, जैसे तुलसी के 'राम-चरित-मानस' के सामने उनके प्रारम्भिक ग्रन्थ बहुत हल्के जान पड़ते हैं।

भाव पक्ष

सूरदास के समय को जब हम राजनैतिक या सामाजिक दृष्टि से देखते हैं तो बड़ा अन्धकार पूर्ण दिखाई देता है। कवि अपने समाज तथा तत्कालीन परिस्थिति को भी अपने काव्य में अंकित करता है। अतः परतन्त्रता की हीन दशा में न कोई वीरगाथा कालीन पराक्रम के गीत गाने को प्रस्तुत था और न सुनने को। जनता पर गहरी उदासी छाई हुई थी। राम-रहीम को एक बताने वाली एकेश्वरवाद की धारा भी मन को हरा न कर सकी। सौभाग्य से उत्तरभारत में बल्लभाचार्य ने परम भाव की आनन्द विधायिनी कला का दर्शन कराकर जीवन में सरसता का संचार किया।

जयदेव और विद्यापति की स्निग्ध पीयूष धारा कृष्ण-भक्त कवियों के स्वर में प्रस्फुटित हुई। अंधे कवि सूरदास ने इस प्रेम की धारा को अविरल गति से प्रवाहित किया। भगवान कृष्ण के बाल्य और यौवन काल के मनोहर रूपों को सूर ने जन-जन के समक्ष सरसता के

साथ उद्घाटित किया।

सूरदास जी को मुख्यतः शृंगार और वात्सल्य का कवि समझना चाहिए, यद्यपि और रसों का भी यत्र-तत्र अच्छा वर्णन मिलता है। कृष्ण-जन्म की आनन्द-बधाई के उपरान्त बाल-लीला का आरम्भ होता है। जितने विस्तृत और विशद रूप में बाल्य जीवन का चित्रण इन्होंने किया है, उतने विस्तृत रूप में और किसी कवि ने नहीं किया। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रम से लगे हुए न जाने कितने मनोहर चित्र मौजूद हैं। उनमें केवल बाहरी रूपों और चेष्टाओं का ही विस्तृत और सूक्ष्म वर्णन नहीं है; कवि ने बालकों की भीतरी प्रकृति में भी पूरा-पूरा प्रवेश किया है और अनेक बाल्य भावों की सुन्दर, स्वाभाविक व्यंजना की है। स्पर्द्धा (होड़) का भाव, जो बालकों में स्वाभाविक होता है, नीचे के प्रसंग से किस प्रकार व्यंजित होता है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूं है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी-ज्यों ह्वै है लांबी मोटी॥

सूरदास ने अपने अन्तर्ज्ञान चक्षु से बाल-चेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार सूरसागर में भरा है जितना किसी भी साहित्य में मिलना असम्भव है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत, रेनु-तन-मंडित, मुख-दधि लेप किए॥
सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय करि पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयां॥

बच्चे आपस में खेलते हैं। उनमें धनी-निर्धन का भाव नहीं होता। वे अपने को किसी से कम नहीं समझते। कभी कृष्ण हारने पर भी हार स्वीकार नहीं करते। इस पर एक बच्चे की कैसी स्वाभाविक उक्ति है—

खेलत में को काको गोसैयां।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां॥
जाति पांति हमतें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयां।
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयां॥

गायें सदा से हमारे देश की सम्पदा तथा श्रद्धा-भाजन रही हैं। कृष्ण एक बड़े सम्पत्तिशाली, प्रतिष्ठित नन्द महाराज के पुत्र होते हुए भी गोचारण को नहीं छोड़ते हैं। सूरदास जी ने जमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्यों का विधान किया है—

मैया री ! मोहिं दाऊ टेरत।
मोकों बन फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।

वृन्दावन के सुखमय जीवन के हास-परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय हुआ।

गोपियां कृष्ण के मनोहर सौन्दर्य और सहज चेष्टाओं को देखकर मुग्ध हो जाती हैं। कृष्ण भी कौमार अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरम्भ करते हैं। इनका परस्पर प्रेम-व्यापार स्वाभाविक रूप में सूर ने दिखाया है। सूर के कृष्ण और गोपी-गोप पक्षियों के समान स्वच्छन्द विचरते हैं, वे लोक-बन्धनों से जकड़े हुए नहीं हैं। बाल-क्रीड़ा के साथी आगे चलकर यौवन क्रीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं। इसीलिए तो उद्धव के बराबर समझाने पर भी गोपियों ने स्पष्ट रूप से कह दिया—"लरिकाई का प्रेम कहौ, अलि, कैसे छूटे ?" केवल एक साथ रहते-रहते भी दो प्राणियों में स्वाभाविक प्रेम हो जाता है। फिर कृष्ण तो गोपियों के बीच में बचपन से रह रहे हैं। बाल-क्रीड़ा इस प्रकार क्रमशः स्वाभाविक रीति से यौवन-क्रीड़ा में परिणत होती गई है कि किशोरावस्था के आगमन का पता ही नहीं चलता। रूप का आकर्षण बाल्यावस्था से ही हो जाता है। सूर ने राधा और कृष्ण के विशेष प्रेम की अभिव्यक्ति रूप के आकर्षण द्वारा स्पष्ट की है—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए श्याम रवि-तनया के तट, अंग लसति चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा, नैन विशाल भाल दिये रोरी॥
सूरश्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

इस पद में 'औचक' शब्द बहुत ही उपयुक्त तथा स्वाभाविक ढंग से प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द से स्पष्ट प्रकट है कि इसके पूर्व राधा-कृष्ण का मिलन नहीं हुआ था। प्रथम दर्शन में ही परस्पर आकर्षण हो जाता है। इस प्रकार कुछ समय बाद राधा के फिर मिलने पर आखिर कृष्ण पूछ ही बैठते हैं :

बूझत श्याम, कौन तू, गोरी।
"कहां रहति, काकी तू बेटी ? देखी नाहिं कहूं ब्रज खोरी"॥
"काहे को हम ब्रज तन आवति ? खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नंद ढोटा, करत रहत माखन दधि चोरी"॥
"तुम्हरी कहा चोरी हम लै हैं ? खेलन चलौ संग मिलि जोरी"।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि, बातन भुरइ राधिका भोरी॥

इस प्रश्नोत्तर में कितनी स्वाभाविकता है और है कैसी हाजिर जवाबी। इस खेल ही खेल में इतनी बड़ी बात पैदा हो गई है, जिसे प्रेम कहते हैं। प्रेम का आरम्भ उभय-पक्ष में सम है। हां, जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो कुछ वैषम्य दीखने लगता है। गोपियों का प्रेम तो विरह-वेदना के कारण बढ़ जाता है पर कृष्ण कुछ अपने को रोके हुए-से लगते हैं। यद्यपि उद्धव के मुख से उनका वृत्तान्त सुनकर वे आंखों में आंसू भर लेते हैं पर गोपियों ने जैसा वेदनापूर्ण उपालम्भ दिया है, उससे उनके अनुराग की कुछ कमी ही व्यंजित होती है।

सूर ने शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जो भाव-व्यंजना की है उसकी समता में और कोई कवि नहीं पहुंच सकता। संयोग-सुख के जितने प्रकार के क्रीड़ा-विधान हो सकते हैं,

वे सब सूर ने लाकर इकट्ठे कर दिए हैं। राधा और कृष्ण का गाय चराते समय वन में भी साथ हो जाता है, एक दूसरे के घर आने-जाने लगते हैं, इसलिए परिचय गाढ़ा हो जाता है। कई प्रकार की ठिठोलियां होने लगती हैं :

(क) **करि ल्यो न्यारी, हरि, आपनि गैयां।**
नहिं बसात लाल कछु तुम सों, सबै ग्वाल इक ठैयां॥

(ख) **धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी !**
एक धार दोहनि पहुंचावत, एक धार जहं प्यारी ठाढ़ी।
दोहन करते धार चलति पय, मोहन-मुख अति ही छबि बाढ़ी॥

(ग) **तुम पै कौन दुहावै गैया ?**
इत चितवत उत धार चलावत, यहो सिखयो है मैया !

कृष्ण की मुरली की तान सुनकर सारा ब्रज विह्वल हो उठता है। उस पर कही हुई उक्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं, क्योंकि उनसे प्रेम की सजीवता टपकती है। यह वह सजीवता है, जो प्रेम भरे हृदय से छलक कर निर्जीव वस्तुओं पर भी अपना रंग चढ़ाती है। गोपियों की छेड़छाड़ कृष्ण ही तक सीमित नहीं रहती, उनकी मुरली तक भी—जो जड़ निर्जीव है—पहुंचती है। उन्हें वह मुरली कृष्ण के सम्बन्ध से कभी इठलाती, कभी चिढ़ाती और कभी प्रेम भरे गर्व दिखाती जान पड़ती है। उसी सम्बन्ध-भावना से वे उसे कभी फटकारती हैं, कभी उसका भाग्य सराहती हैं और कभी उससे ईर्ष्या प्रकट करती हैं—

मुरली तऊ गोपालहि भावति।
सुन री सखो ! जदपि नंदनंदहि नाना भांति नचावति।
राखति एक पायं ठाड़े करि, अति अधिकार जनावति॥
आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल, कोप नासापुट, हम पर कोपि कंपावति॥

सूर ने विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन भी बड़ा विस्तृत और व्यापक रूप में किया है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएं हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का वर्णन हो सकता है, वे सब उनके भीतर मौजूद हैं। कृष्ण जब मथुरा से न लौटे तो नन्द और यशोदा दुःख-सागर में मग्न हो गए हैं। अनेक दुःख की भाव-तरंगें उनके मन में उठती हैं। कभी यशोदा नन्द से खीझ कर कहती हैं—

छांड़ि सनेह चले मथुरा, कत दौरि न चीर गह्यो।
फाटि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यो॥

यह सुन नन्द जी उलटे यशोदा पर बरस पड़ते हैं :

तब तू मारि बोई करति।
रिसति आगे कहै जो आवत, अब लै भांड़े भरति॥
रोस कै कर दांवरी लै, फिरति घर घर घरति।
कठिन हिय करि तब जो बांध्यों, अब वृथा करि मरति॥

यह 'खीझ' वियोग जन्य है, प्रेम के ही अन्तर्गत है और कितनी स्वाभाविक है। अन्त में यशोदा घर का मोह छोड़कर राज्य-सम्पत्ति को तिरस्कार की दृष्टि से देखती हुई नंद से कहती हैं :

नंद ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय।
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहं गोकुल के राय

ठोंकि बजाय में कितनी व्यंजना है ! "तुम अपना ब्रज अच्छी तरह संभालो, तुम्हें इसका गहरा लोभ है। मैं जाती हूं।" एक-एक शब्द में कितनी हृदय की भावना रमी हुई है।

वियोगिनी गोपियां चन्द्रमा को तो कोसती ही हैं, चन्द्रमा को समुन्द्र-मंथन कर निकालने वाले सुर-असुर तथा साधन रूप मन्दराचल तथा वासुकि को भी कोसती हैं। अपने उजड़े हुए नीरस जीवन से मेल न खाने के कारण वृन्दावन के हरे-भरे वृक्षों तक को कोसती हैं। इसमें हृदय की कैसी कोमल भावनाएं व्यक्त हैं :

मधुबन ! तुम कत रहत हरे।
विरह-वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार और बन के पखेरू धिक-धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे ?

गोपियां कहती हैं कि हमने इतने संदेश भेजे हैं कि शायद उनसे मथुरा के कुएं भर गए होंगे, पर जो संदेशा लेकर जाता है वह लौटता नहीं :

संदेसनि मधुबन कूप भरे।
जो कोउ पथिक गये हैं ह्यांतें फिरि नहिं बगन करे।

इस प्रकार अपनी दुःख-दशा कहते-कहते जब गोपियां थक जाती हैं तो सोचती हैं कि अगर हमारी दशा पर उनको तरस नहीं तो शायद अपनी प्रिय गायों को दुःखी सुनकर उन्हीं का ख्याल करके वे एक बार आ जाएं :

ऊधो इतनी कहियो जाय।
अति कृस गात भई है तुम बिनु बहुत दुखारी गाय
जल समूह बरसत अंखियन तें, हूंकति लीन्हें नांव।
जहां-जहां गो दोहन कीन्हीं, ढूंढ़ति सोइ-सोइ ठांव॥

राधा के हृदय में कृष्ण इस प्रकार रमे हैं कि भुलाने से भी भूलते नहीं। इसी भाव को कितनी सुन्दरता से कहा गया है—

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसहु निकसत नहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े।

सूर-साहित्य में ऐसी अनूठी उक्तियां भरी पड़ी हैं। सूर की सहृदयता की, हृदय-पक्ष की ये थोड़ी-सी बातें हुईं। अब थोड़ा कला-पक्ष का भी दिग्दर्शन करें।

कला-पक्ष

सूर की कला-निपुणता के काव्य के बाह्यांग के सम्बन्ध में यह समझ रखना चाहिए कि वह भी उसमें पूर्णरूपेण वर्तमान है। यद्यपि काव्य में हृदय पक्ष या भाव पक्ष ही प्रधान है, पर बहिरंग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। रीति, अलंकार, छंद, गुण ये बहिरंग विधान के अन्तर्गत हैं, जिनके द्वारा काव्यात्मक अभिव्यक्ति होती है। सूर, तुलसी, बिहारी आदि कवियों में दोनों पक्ष प्रायः सम हैं। जायसी में हृदय पक्ष की प्रधानता है। कलापक्ष में त्रुटि और न्यूनता है। केशव में कला पक्ष ही प्रधान है, हृदय पक्ष न्यून है।

सूर की रचना जयदेव और विद्यापति के गीत-काव्यों की शैली पर है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे वह संगीत प्रेमियों के लिए बड़ा भारी खज़ाना है। सूर ने कोमल-कान्त पदावली और अनुप्रास की ओर जान-बूझकर ध्यान नहीं दिया है, वे स्वाभाविक रूप से इनके काव्य में उतर आये हैं। उन्होंने चलते हुए मुहावरों और कहावतों का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है। अर्थालंकार की प्रचुरता है; विशेषतः उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की।

स्फटिक के आंगन में बालक कृष्ण घुटनों के बल चल रहे हैं, और उनके हाथ-पैर का प्रतिबिम्ब पड़ता चलता है। इस पर कवि की उत्प्रेक्षा कितनी सुन्दर है—

फटिक भूमि पर कर-पग-छाया यह शोभा अति राजति।
करि-करि प्रति पद प्रीति मनो बसुधा कमल बैठकी साजति॥

बालक कृष्ण के छोटे-छोटे दो दांत निकले हैं इस पर सूर ने उत्प्रेक्षा की है—

द्वै-द्वै दमकि दंतुलियां बिलसत, मनु सीपज घर किय बारिज पर।

गोपियां वियोग में कुढ़कर एक स्थान पर कृष्ण के अंगों के उपमानों को लेकर उपमा को इस प्रकार न्याय-संगत ठहराती हैं—

उधो ! अब यह समुझि भई।
नंदनंदन के अंग-अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुंतल कुटिल भंवर भरि भांवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस भई॥

* * *

सूर विवेक हीन चातक मुख बूंदो तो न सई॥

सूर की 'अप्रस्तुत प्रशंसा' में उक्ति का चमत्कार भी कुछ विशेष है और रसात्मकता भी। किसी-किसी पद में दूर की सूझ से चमत्कार बहुत बढ़ गया है, जैसे,

(क) **दूर करहु बीना कर धरिबो।**
मोहे मृग नाहीं रथ हांक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥

(ख) **मन राखन को वेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरै।**
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को कसन टरै॥

राधा मन बहलाने के लिए, किसी प्रकार रात बिताने के लिए वीणा लेकर बैठीं। उस वीणा के स्वर से मुग्ध होकर चन्द्रमा के रथ का हरिण अड़ गया और चन्द्रमा के रुक जाने से रात और भी बढ़ गयी। इससे घबराकर वे सिंह का चित्र बनाने लगीं जिससे डर कर मृग शीघ्र भाग जाए और रात भी जल्दी कट जाए। इसमें चमत्कार तथा राधा के हृदय की वियोग जन्य आतुरता व्यक्त होती है।

सूर ने स्थल-स्थल पर मुहावरों का भी बहुत सुन्दर प्रयोग किया है—

"फूटि न गई तिहारी चारौ, कैसे मारग सूझै"।
"इक तनु जरो जात बिनु देखे, अब तुम दीने फूंक"।
"ऊधौं सौं समुझाई प्रकट करि अपने मन की बीती"।
"अपने जियत नयन भरि देखौं, हरि हलधर की जोरी"।
"सूर असीस जाइ दैहौं जिनि, न्हातहु बार खसै"।

इस प्रकार सूर का कला-पक्ष भी अनेक-विध सुन्दर और विदग्धतापूर्ण बन पड़ा है। सूरसागर वास्तव में महासागर है, जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी है। खारे, फीके, साधारण जल से अमृत को अलग करने में विवेचनों को प्रवृत्त रहना चाहिए। कहीं अनूठे और अद्वितीय पद मिलते हैं तो कहीं साधारण भी। कई जगह वाक्य रचना कुछ अव्यवस्थित भी हो गई है और व्याकरण सम्बन्धी भी दोष मिलते हैं। बात यह है कि नित्य कुछ न कुछ पद बनाना उनका नियम था। उन्होंने बहुत अधिक पद कहे हैं। फुट-कर पद कहते चले गए हैं। भगवत्-भक्ति ही उनका मुख्य उद्देश्य था। पिष्ट पेषण की उनको चिन्ता ही नहीं थी। 'अधिकस्य अधिकं फलम्' के अनुसार एक ही भाव वाले बहुत से पद भी आ गए हैं और कहीं-कहीं भाषा भी शिथिल हो गई है। अंधे होने के कारण पदों को सामने रखकर काटने-छांटने का तो उन्हें सुयोग था नहीं। तथापि इनके भाव पक्ष और कला पक्ष बेजोड़ हैं।

दार्शनिक विचार

वैष्णव भक्ति-आन्दोलन और सूरदास के काव्य के पीछे हमारे पौराणिक युग (५००-१२००) का सारा सांस्कृतिक और साहित्यिक वैभव है। गुप्त युग के अन्त में जब बौद्ध धर्म शिथिल पड़ने लगा तब हिन्दू दर्शन की नींव पड़ी और शंकराचार्य ने आठवीं शताब्दी के अन्त में उसे अद्वैतवाद की दृढ़ भूमि दी। यह अद्वैतवाद ही सूर के काव्य में स्वीकृत है। पर, साधारण पाठक कृष्ण के सग्रहण रूप को काव्य में देखकर शायद अद्वैत पर सन्देह करने लग सकता है। सूर के समय में सामाजिक स्थिति बड़ी ही विषम थी। समाज पर मुल्लाओं और हाजियों का राज्य था। मूर्त्तियाँ तोड़ी जा रही थीं, शस्त्र के बल पर हिन्दू मुसलमान बनाए जा रहे थे। सिकन्दर लोदी के समय में यह उत्पीड़न सर्वा-

धिक बढ़ गया था। इसी समय जब उत्पीडन पराकाष्ठा पर पहुंच चुका था, बल्लभाचार्य और सूरदास का जन्म हुआ। सूर जैसे भावुक पर इस अत्याचार का प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। इस अराजकता के युग में सूर ने प्रेम की मुरली बजाई और भगवदाश्रय का द्वार खोल दिया।

महात्मा सूरदास भक्ति-रस-निष्णात कवि थे, वे 'पुष्टि मार्ग' नामक भक्ति-पथ के प्रवर्तक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य वल्लभ के अनुयायी थे। 'पुष्टि' का अर्थ है इष्टदेव का अनुग्रह। पुष्टि के बिना कुछ भी संभव नहीं है। जिस पर उस परब्रह्म (कृष्ण) की कृपा होती है, उसी को वह प्राप्त होता है। परन्तु यह कृपा अयाचित होने पर भी साधना-दुर्लभ नहीं। यदि भक्त श्रद्धा के साथ भगवान की नित्य और नैमित्तिक 'सेवा' में भाग ले, तो यह असम्भव नहीं है कि उसे 'पुष्टि' की प्राप्ति हो जाय।

गोलोक-स्थित श्रीकृष्ण का सायुज्य हो मुक्ति है। तथा पति रूप या स्वामी रूप से श्रीकृष्ण की सेवा करना ही जीव का धर्म है। जीव जब समस्त जगत को कृष्णमय देखकर उनके प्रेम में परमानन्द का अनुभव करता है, तब वह अपनी शुद्धावस्था में पहुंचता है। भगवान् भी तभी प्रसन्न होकर उसे 'मुक्त' करते हैं। ब्रज-सुन्दरियों की भक्ति 'पुष्टि मार्ग' की थी। शुद्ध पुष्टि मार्ग वस्तुतः वह है जिसमें भगवत्प्राप्ति विषयक सब साधनों का अभाव हो। भगवान् के अनुग्रह से ही लौकिक और वैदिक सिद्धियां उपलब्ध होती हैं। किसी प्रकार के यत्न की इसमें आवश्यकयता नहीं होती। किसी प्रकार की योग्यता का विचार इस मार्ग में नहीं किया जाता। भगवान् आप ही अपनी भक्ति देते हैं। इस भक्ति में भगवान् के 'दोष-गुण का विचार नहीं है, प्रेमपूर्ण श्रवण-कीतन में ही सभी सुखों का अनुभव इस मार्ग की रीति है। सर्वतो भावेन आत्मार्पण इस पद्धति की विशेषता है।

सूरदास जी की यही प्रेममयी भक्ति थी। ब्रज के समस्त जीवन का सार-रस, माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, सखाओं के सहवास का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग-वियोग का रस जो सम्पूर्ण कृष्णमय रस है, यही 'सूरसागर' है।

भक्ति की चरमावस्था में दैहिक मान का एकदम विस्मरण हो जाता है और तब न तो लोक की मर्यादा रह जाती है और न क्रिया का मान होता है। शरीर और संसार का मान न रह जाना ही अद्वैत योग कहा गया है। विरह में श्रीराधा की शरीर-विस्मृति का उदाहरण देखिए—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरिस्रम-जल अंचल तनु भीज्यो, तिहिं लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
'सूर' श्याम-बिन यों जीवन है, ब्रज बनिता बिन श्याम दुखारी॥

श्रीकृष्ण मथुरा पहुंच कर नंदजी को समझा-बुझाकर वापस लौटा रहे हैं। नन्दजी प्रेम के मारे लौट नहीं रहे हैं। इस पर कृष्ण ने समझाया कि "आप अपने मन में समझें, हममें-आपमें कोई अन्तर नहीं है। मेरी आपसे यही प्रार्थना है कि हृदय से मेरी प्रीति न

छोड़ियेगा।" इन पंक्तियों में वेदान्त और भगवद्धर्म का उच्चतम तत्व निहित है।

श्रीकृष्ण प्रत्येक ब्रजवासी के साथ विभिन्न रूप में मिलते हैं। यहां कृष्ण व्यापक-प्रकृति में प्रसार करते है। माता को पुत्र रूप में, मित्रों को सखा रूप में, प्रेमिकाओं को प्रियतम रूप से आह्लादित करते हैं। यहां तक कि सारी प्रकृति कृष्णमय हो गई है। सब ओर से सर्व स्व-समर्पण हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण की अखण्ड सत्ता ही दृष्टिगत होती है। रासलीला इसका सांकेतिक निदर्शन है। सूरसागर का आध्यात्मिक लक्ष्य इसी में पूर्ण है। भक्त कवियों के लिए यही अभीष्ट भी है।

कवि का समाज से सम्बन्ध

कवि जिस काल में समाज में अवतीर्ण होता है उसका प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रहता। कवि या लेखक ही साहित्य-सृजन करते हैं। साहित्य में तत्कालीन समाज का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए तो 'साहित्य समाज का दर्पण' कहा गया है। जो सत्कवि नहीं है, उनकी प्रतिभा तो उसे हृदयंगम करने में भी समर्थ नहीं होती, किन्तु जो सत्कवि हैं, वे भी अधिकांश में उसी का गान करके तथा पारितोषिक के रूप में एक युग का गौरव प्राप्त करके समाप्त हो जाते हैं। अतएव उनके काव्य पर सामयिक समाज के आदर्श का जो प्रभाव पड़ता है उसके सम्बन्ध में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। रहे वे कवि, जो चिरन्तन और चिरस्थायी सत्य का ज्ञान करते हैं; उनके सम्बन्ध में भी यह कहा जा सकता है कि समसामयिक समाज उन्हें भी अपने प्रभाव से अछूता नहीं छोड़ता, यद्यपि वे उसे आत्मसात् कर लेते हैं पर उनकी शैली पर वह क्रियाशील रहता है और उस पर एक विशेष छाप छोड़ देता है। सूरदास केवल एक युग के कवि नहीं थे वे मानव-हृदय के अमर कवि हैं, और संसार में जब तक सहृदयता और भावुकता का आदर रहेगा तब तक उनकी कविता का रसास्वादन होता रहेगा। सामाजिक परिस्थितियों ने भी उनकी काव्य-धारा को एक विशेष दिशा प्रदान की है।

सूरदास की काव्य-रचना के अनेक शताब्दियों पूर्व मुसलमान भारत में आ चुके थे। और अब वे केवल परदेशी ही न थे, बल्कि यहीं की हवा, मिट्टी और पानी से पोषण प्राप्त करके हिन्दुओं के साथ-साथ रहने लगे थे। इसके अतिरिक्त अधिकांश मुसलमान तो हिन्दू समाज से ही निकल कर आये थे। क्रमशः इन हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपने जीवन में एक दूसरे की सहयोगिता आवश्यक समझी और उसको सम्भव करने के लिए हिन्दुओं और मुसलमानों के उन्नायक एक नवीन संस्कृति की खोज में लगे। यह नवीन संस्कृति प्रायः पक्षपात शून्य दिखाई पड़ने वाली उस समीक्षा के रूप में प्रकट हुई, जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ही के दोषों का वर्णन किया। स्वामी रामानन्द के शिष्य कबीर इस मत के प्रवर्तक थे। यह तो स्पष्ट था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को अगर कहीं निर्विरोध रूप से मिलने का क्षेत्र मिल सकता था, तो वह ईश्वर-प्रेम था। कबीर और उनके ज्ञान-मार्गी सन्तों ने एक ओर तो उस समाज की स्थापना की—जिसमें हिन्दू और

मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। दूसरी ओर माया और ब्रह्म का राग भी अलापा। उसके बाद मलिक मुहम्मद जायसी तथा अन्य प्रेम-मार्गी कवियों ने उनकी शैली की रुक्षता और स्थूलता का त्याग करके इस कार्य को जारी रखा। मुसलमान कवियों ने इन साधनों द्वारा ईश्वर भक्ति का जो रूप ग्रहण किया था, वह सूफी-मत द्वारा प्रभावित था, जिसके प्रथम आचार्य फारस के हल्लाज नामक एक सन्त थे। सूफियों की भक्ति का यह स्वरूप बहुत कुछ हिन्दुओं के वेदान्तवाद से मिलता-जुलता है। हिन्दुओं की भक्ति केवल वेदान्तवाद ही तक परिमित नहीं है, वह निराकार निर्गुण के साथ-साथ साकार सगुण ब्रह्म के अवतारों की उपासना की शिक्षा भी विशेषकर साधारण जन-समाज के लिए देती है, यही मतभेद की बात थी। ऐसी अवस्था में सूफियों के इस प्रचार को हिन्दू आचार्य-गण उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते थे। किन्तु सूफी-मत का माधुर्य लोगों के हृदय में प्रवेश कर रहा था। इस कारण स्वामी मध्वाचार्य ने श्रीकृष्ण के मधुर रूप की उपासना पर ज़ोर देकर सूफी-मत का सामना करने का निश्चय किया। आचार्य वल्लभ ने भी बाद को चलकर इसमें योग दिया। ये परिस्थितियां उस समय सूरदास के सामने थीं जब उन्होंने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। महात्मा बल्लभाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करने का यह अर्थ ही था कि वे मुसलमानों के सूफीमत सम्बन्धी प्रचार के विरोधी थे और अपने गुरु के जीवन-कार्य को अपनी सहज शक्ति द्वारा पूर्ण सहायता देने को तैयार थे।

सूर ने अपनी सारी उपासना-पद्धति कृष्णमय कर दी थी। उन्हें समाज के अन्य अंगों से कोई प्रयोजन न था। लोक-मर्यादा तथा सामाजिक विषमता से उनका कोई सम्बन्ध न था। उन्होंने तुलसी की तरह भक्ति के साथ समाज को भी प्रेरणा देने की भावना नहीं अपनाई उन्हें तो केवल भगवद् भक्ति में ही परमानन्द प्राप्त होता था। इसीलिए उनके पदों में तुलसी की तरह सामाजिक रूप-रेखा के दर्शन नहीं होते।

सूर का व्यक्तित्व

सूर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में निर्णायक रूप में कुछ भी कहना कठिन है। उनका केवल उतना ही व्यक्तित्व सुरक्षित रह सका है जितना व्यक्तित्व सूरसागर में आया है। दन्त कथाओं, किम्बदन्तियों और 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' जैसे ग्रन्थों में सूर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं मिलता। हाँ, 'सूरसागर के पद-पद पर उनकी भावुकता की छाप है। एक ही प्रसंग को उन्होंने अनेक भावुक-भंगिमाओं से विभूषित किया है वात्सल्य और शृंगार के प्रसंगों में उनकी भावुकता जैसे उमड़ी पड़ती हो। इस भावुकता के अतिरेक के कारण वे कभी नन्द-यशोदा बन जाते हैं, कभी गोप-गोपी और कभी सुबल-सुदामा। परन्तु भावनातिरेक के साथ एक दूसरी प्रवृत्ति भी उनमें अत्यन्त उत्कर्ष के साथ उपस्थित है। वह है कल्पना की उड़ान। राधा-कृष्ण के सौंदर्य के सम्बन्ध में उन्होंने जितनी कल्पनाएं, जितनी उत्प्रेक्षाएं इकट्ठी की हैं यदि उनका संकलन किया जाए तो एक बड़ा ग्रन्थ बन जाए। संस्कृत के महाकवि श्रीहर्ष के नैषधीय चरित्र की कल्पनाएं उस

समय बरबस सामने आ जाया करती हैं, जब सूर की काल्पनिक उड़ान तथा उत्प्रेक्षा की ध्वनियां सामने आती हैं। अपने इष्टदेव की एक-एक छवि को सहस्रों प्रकार से वर्णित करना और फिर भी उनमें चमत्कार के साथ विभिन्नता रखना, सूर जैसे कलाकार का ही काम है। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैवं रूपं रमणीयताया' इस उक्ति का पद-पद में दर्शन मिलता है। सूर की उक्तियों में सूर का वाग्वैदग्ध्य अलौकिक है। सूर का क्षेत्र यद्यपि सीमित है पर ये अपने क्षेत्र में बेजोड़ हैं।

सूर के सरस काव्य पर अनुरक्त किसी भावुक कवि ने रीझ कर सूर और तुलसी को तुलनात्मक दृष्टि से स्थान दे डाला और अन्य कवियों को तो खद्योत बना डाला—

सूर-सूर, तुलसी ससी, उडुगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत-सम जहं-तहं करत प्रकास॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त पद के रचयिता ने प्रकाश की प्रचण्डता पर ही ध्यान दिया, शशि के आह्लादकत्व पर नहीं। सूर और तुलसी वस्तुतः हिन्दी काव्य-गगन के सूर्य और चन्द्र बनकर इसे प्रकाशित कर रहे हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त शिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ ? हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति में एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के, कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गंभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

प्रसिद्ध है कि अकबर के दरबारी, प्रसिद्ध गायक तानसेन ने यह दोहा बनाकर सुनाया—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन-मन-धुनत सरीर॥

इसके उत्तर में सूरदास ने निम्नलिखित दोहा पढ़ा—

बिधना यह जिय जानि कै, सेसहि दिए न कान।
धरा, मेरू, सब डोलते, तानसेन की तान॥

४. गोस्वामी तुलसीदास

जीवनी

भारतीय महापुरुषों के जीवन-चरित के सम्बन्ध में सूचना देने वाली निश्चित घटनाओं, तिथियों का उल्लेख बहुत कम मिलने के कारण प्रायः सन्दिग्धता बनी रहती है। ये महापुरुष अपने सांसारिक जीवन को विशेष महत्व नहीं देते थे इसीलिए देश-काल, वंश-परम्परा की चर्चा नहीं करते थे। सन्त-महात्माओं और कवियों के सम्बन्ध में तो और भी अल्प सामग्री मिलती है। अतएव जीवन-चरित के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के मतभेद पाए जाते हैं और बहुत-सी मनगढंत कथाएं प्रचलित हो जाती हैं जो उनके असाधारण महत्व की द्योतक होती हैं। जीवन की यथार्थ घटनाओं से उनका विशेष सम्बन्ध नहीं होता। गोस्वामीजी के जन्म, माता-पिता, परिवार, गुरु आदि के विषय में विभिन्न मत और जन-श्रुतियां प्रचलित हैं। यहाँ तथ्य के उद्घाटन के लिए हम अन्तस्साक्ष्य और अविरोधी बहिस्साक्ष्य दोनों के आधार पर तुलसीदास के जीवन-वृत्त पर विचार करेंगे।

जन्म-काल

शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ, 'शिवसिंह सरोज' में तुलसीदास का जन्म-संवत् १५८३ लिखा है और रामायण के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पं० रामगुलाम द्विवेदी ने सं०१५८९। इन दोनों विद्वानों के इन संवतों के विषय में कोई प्राचीन प्रमाण उपलब्ध नहीं है। हाथरस के एक सन्त तुलसी साहब(सं० १८२०-१९००) ने 'घट रामायण' में अपने को गोस्वामी जी का अवतार मानते हुए लिखा है कि मेरा पूर्व जन्म भाद्रपद शुक्ला ११, संवत् १५८९ में हुआ था। यह तिथि गणना से ठीक उतरती है। इधर वेणीमाधव दास कृत 'गोसाईं चरित' का संक्षिप्त रूप, मूल गोसाईं चरित, मिला है। ये वेणीमाधव दास गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य कहे जाते हैं। कहते हैं, ये गोस्वामी जी के साथ बहुत दिनों तक रहे भी थे। मूल गोसाईं चरित में उल्लिखित बातें परम्परा से प्रचलित जनश्रुतियाँ से मेल खाती हैं। उसमें दी हुई तिथियों में कुछ तो गणना से ठीक उतरती हैं और कुछ ठीक नहीं उतरतीं। इस 'चरित' में लिखा है कि गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ में श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुआ था। रामचरितमानस की 'मानस मयंक' टीका के रचयिता वन्दन पाठक जी ने भी संवत् १५५४ को ही गोस्वामी जी का जन्मकाल माना था।

माता-पिता

गोस्वामी तुलसीदास की माता का नाम 'हुलसी' प्रसिद्ध है। इसके प्रमाण में गोस्वामी-जी के समकालीन और उनके स्नेही खानखाना अब्दुर्रहीम का यह दोहा उपस्थित किया जाता है—

सुरतिय नरतिय नागतिय, अस चाहति सब कोय।
गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सों सुत होय॥

और रामचरितमानस में भी एक ऐसा स्थल आता है जिसमें इस शब्द से गोस्वामी जी की माता के नाम का ही संकेत मिलता है। रामचरितमानस के बालकाण्ड में राम-कथा की महिमा के वर्णन में एक चौपाई है—

रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी, तुलसिदास हित हिय हुलसी सी।

यहां हुलसी का अर्थ, उत्साहित—उमगाई और उमड़ी लिया जाय तो उसकी संगति नहीं बैठती। इससे यही जान पड़ता है कि इसमें उन्होंने अपनी माता की ओर ही संकेत किया है।

गोस्वामी जी के पिता का नाम कोई परशुराम मिश्र बताते हैं और कोई आत्माराम दूबे। पिता के विषय में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस विषय में केवल यही कहा गया है कि माता-पिता ने जन्म दे कर त्याग दिया, और इन्हें न तो भाई का भरोसा था, न जननी-जनक तक इनके हितू थे। ऐसे स्थान पर आपने केवल गुरु की कृपा का यश गाया है।

नाम

तुलसीदास जी का बचपन का नाम 'राम बोला' था। कदाचित ये 'राम नाम' या 'राम बोलो,' प्रायः कहा करते थे। इसका प्रमाण इनकी रचनाओं में इस प्रकार मिलता है—

राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम
काम यहै नाम द्वै हौं कबहूं कहत हौं। —(विनय पत्रिका)
साहेब सुजान जिन स्वानहू को पच्छ कियो,
राम बोला नाम हौं गुलाम राम राय को। —(कवितावली)

कालान्तर में इनका प्रसिद्ध नाम तुलसीदास हो गया। 'तुलसी' नाम तो इनके अनेक छन्दों में मिलता है पर तुलसीदास का संकेत बरवै रामायण और दोहावली के नीचे लिखे पदों में प्राप्त होता है—

केहि गिनती महं गिनती जस बन घास।
राम जपत भै तुलसी तुलसीदास॥ —(बरवै)
नाम राम को कल्पतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भांगते तुलसी तुलसीदास॥ —(दोहावली)

गुरु

तुलसीदास के ग्रन्थों में माता तथा अपने निजी नामों के अतिरिक्त अन्य किसी परिवार
यक्ति का नाम नहीं। गुरु के नाम का भी उल्लेख नहीं है। परम्परा से नरहरिदास को
वामी जी का गुरु कहा जाता है। मानस के प्रारम्भ में बन्दनात्मक एक सोरठा का
र्द्ध है—

वन्दौं गुरु पद कंज, कृपा सिन्धु नर रूप हरि।

इसमें प्रयुक्त पद 'नर रूप हरि' के सहारे 'नरहरि' से नरहरिदास नाम की पुष्टि
ो है।

'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत'। इस चौपाई से भी विवाद खड़ा हो
है। पर गुरु का निर्णय नहीं हो पाता। कुछ लोग नरहरि का नाम भक्तमाल में
ानन्द की शिष्य-परम्परा में न आने के कारण, इनको उनकी परम्परा में नहीं मानते।
शोध 'नर रूप हर' पाठ का है। इससे यह सिद्ध होता है कि तुलसी ने गुरु के रूप में
र को ही लिया है और शंकर ही वास्तव में रामचरितमानस के रचयिता भी हैं।
सी ने उसका जो कुछ रूप दिया वह शम्भु के प्रसाद से ही। अतः निर्विवाद होना
हिए कि तुलसी ने 'हर' को ही नर रूप में अपना गुरु बनाया है। संक्षेप में तुलसीदास
पक्ष है—

सीता पति साहिब सहाय हनुमान नित।
हित उपदेश का महेस मानो गुरु कै॥ —(हनुमान बाहुक)

वर्ण

गोस्वामी जी ने अपनी जाति के विषय में निज रचनाओं में कोई स्पष्ट संकेत नहीं
ा। इनके कथनों में प्रायः सन्त-परम्परा के अनुकूल जाति-बंधन से मुक्त और स्वतंत्र
के ही उल्लेख मिलते हैं—

मेरे जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।

* * *

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ,
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारि न कोऊ।

* * *

भलि भारत भूमि भले कुल जन्म, सरीर समाज भलो लहि कै।

* * *

दियो सुकुल जनम सरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि को।

इन उद्धरणों से तो उनकी जाति-पांति हीनता का भाव ही व्यक्त होता है किन्तु

अन्तिम पंक्ति में प्रयुक्त सुकुल शब्द को लेकर कुछ लोग शुक्ल वंशावतंस मानने का तर्क प्रस्तुत करते हैं। कहना न होगा कि यहां 'सुकुल' शब्द अच्छे कुल के अर्थ में ही प्रयुक्त है। गोस्वामी जी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे इसमें सन्देह नहीं। कुछ लोग उन्हें कान्य-कुब्ज, या सनाढच, परन्तु अधिकांश उन्हें सरयूपारीण मानते हैं। तुलसी-चरित में वे 'गाना' के मिश्र बतलाए गए हैं, परन्तु 'मूल गोसाई चरित' में पाराशर गोत्रीय पत्यौजा के दूबे कहे गए हैं।

जन्म-स्थान

गोस्वामी जी के जन्म-स्थान के विषय में समय-समय पर विवाद उठता रहता है। कुछ लोग चित्रकूट के पास हाजीपुर को इनका जन्मस्थान मानते हैं। पर आजकल तो इस नाम का ग्राम वहां है नहीं। संभव है कि अंग्रेज विद्वान विल्सन और फ्रेंच विद्वान लासी भ्रमवश राजापुर को हाजीपुर लिख गए हों। राजापुर भी चित्रकूट से दस कोस पर है। कुछ लोग 'तारी' में उनका जन्मस्थान मानते हैं। एटा जिले का 'सोरों' उनका जन्म-स्थान कहलाता है। 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत', यह पद इसके प्रमाण में उपस्थित किया जाता है, परन्तु 'सूकर खेत' से भाषा विज्ञान के अनुसार 'सोरों' की निरुक्ति नहीं होती। साथ ही इधर की कुछ उपलब्ध सामग्रियां और खोज भी इसकी अप्रामाणिकता सिद्ध करती हैं। बांदा जिले (उत्तर प्रदेश) के राजापुर गांव को ही अधिकांश विद्वान् प्राचीन परम्परा और अन्य प्रमाणों के आधार पर तुलसीदास का जन्म-स्थान मानते हैं। कुछ लोगों का यह भी मत है कि राजापुर और सोरों के अतिरिक्त सोरों के पास कोई स्थान गोस्वामा जी की जन्मभूमि हो सकती है। जन्मते ही इनकी माता नहीं रही और पिता ने भी शीघ्र ही संसार त्याग दिया और इन्हें किसी ने आश्रय नहीं दिया। ये भटकते, मांगते-खाते सूकर खेत (सोरों) पहुंचे। वहाँ इन्होंने नरहरि दास को गुरु रूप में स्वीकार कर उनसे राम कथा सुनी। उसके उपरान्त चित्रकूट गए होंगे और उसके पास ही राजापुर में विवाह के बाद रहने लगे। स्त्री के उपदेश से वैराग्य प्राप्त होने के समय इनका वास-स्थान राजापुर ही है।

बाल्यकाल

प्रसिद्ध है कि गोस्वामी जी का जन्म अभुक्त मूल नक्षत्र में हुआ था। माता जन्मते ही मर गई और पिता भी अभुक्त मूल में जन्म लेने के कारण इनका त्यान कर, थोड़े दिन बाद ही परलोक सिधारे। इसके बाद इन्हें घर में आश्रय नहीं मिला और बाहर निकाल दिया गया। इसकी पुष्टि नीचे लिखे उद्धरणों से होती है—

मातु पिता जग जाइ तज्यो, बिधिहू न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर कूकर टूकन लागि लगाई॥ —(कवितावली)

जननि जनक तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहू सृज्यो अवडेरे।

❖ ❖ ❖

तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यौ मातु पिताहू ।। —(विनय पत्रिका)

जायो कुल मंगन बधायो न बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को ।
बारे ते ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हौं चारि फल चारि ही चनक को ।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच विधिहू गनक को ।
राम नाम रावरो सयानो किधौं बावरो,
जो करत गिरि तें गुरु तृन तें तनक को ।—(कवितावली)

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ये बचपन में ही अपने जन्म-स्थान से दूर कर दिए गये और साधु-सन्तों के पास बहुत दिनों तक भटकने और कष्ट झेलने पर पहुंच पाये। सन्तों के पास पहुंचने के पूर्व द्वार-द्वार इन्हें भीख मांगनी पड़ी और जाति-कुजाति सबके टुकड़े खाने पड़े। इस सम्बन्ध के पद नीचे दिये जाते हैं—

'द्वार द्वार दीनता कही, काढ़ि रद परि पाहू।'—(विनय पत्रिका)

जाति के, सुजाति के, कुजाति के पेटागि बस,
खाये टूक सबके विदित बात दुनीसो । —(कवितावली)

बचपन में घर छूट जाने पर उन्हें साधुओं का संग मिला। गुरु ने कृपा करके सूकर खेत में राम-कथा सुनाई—'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत, ।' एक तो वह राम-कथा गूढ़ थी फिर मन पर कलियुग का प्रभाव था। अज्ञान तथा बाल्यकाल के कारण कथा समझ में न आई, 'समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउं अचेत।' पर गुरु ने बार-बार सुनाया—'तदपि कही गुरु बारहिंबारा।' इससे सूचित होता है कि तुलसीदास जी ने बचपन में ही राम-भक्ति का मर्म जान लिया था। उन्हें राम-रस का स्वाद मिल चुका था।

'मूल गोसाईं चरित' में लिखा है कि वे अपने गुरु के साथ काशी में पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानन्द के स्थान पर रहने लगे। वहीं शेष सनातन जी रहते थे। उनसे तुलसीदास जी ने वेद, वेदांग, शास्त्र, इतिहास, पुराण, काव्यकला का बड़े मनोयोग से अध्ययन किया। पन्द्रह वर्ष तक यह अध्ययन क्रम चला। रामभक्ति के साथ विद्याध्ययन के द्वारा वे प्रकाण्ड पण्डित भी हो गए।

कवितावली के एक पद से ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी ने वैवाहिक जीवन भी कुछ दिनों तक व्यतीत किया—

बालपन सूधे मन राम सनमुख गयो,
राम नाम लेत मांगि खात टूक टाक हौं।

परयो लोक रीति में पुनीत प्रीति राम राय,
मोह बस बैठो तोरि तरक तराक हों।

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि बचपन में राम की शरण में जाने के बाद वे फिर सांसारिक बंधन में पड़े थे। उसमें फंस कर वे राम-भजन से विमुख हो गए होंगे।

सोरों की सामग्री के आधार पर तुलसीदास जी का विवाह संवत् १५८९ में दीनबंधु पाठक की विदुषी कन्या रत्नावली से हुआ। इनका दाम्पत्य जीवन सुखमय था। एक बार इनकी स्त्री मायके चली गई। तुलसी ने सूनेपन का अनुभव किया और रात में गंगा के बहते प्रवाह को पार कर रत्नावली के पास गए। वहां उन्हें आया देख वह लज्जित हुई। उसके मुंह से निकल पड़ा—

लाज न लागत आपको, दौरे आयेहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहों में नाथ॥
अस्थि चर्म मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महं, होति न तो भवभीति॥
खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय! तिय-त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, बिमल विवेक बिराग।　　　—(दोहावली)

पत्नी की फटकार से उनका आध्यात्मिक संस्कार जाग उठा और ईश्वर-प्रेम की ओर अभिमुख हो वे घर से निकल गए। प्रयाग पहुंचकर उन्होंने वैरागी का बाना धारण किया। तुलसीदास के वैराग्य से उनकी पत्नी का सम्बन्ध अवश्य रहा होगा। स्वयं कवि ने कहा है 'हम तो चाखा प्रेम रस पत्नी के उपदेस'। ऊपर के प्रसंगों से सिद्ध होता है कि तुलसीदास जी गृहस्थाश्रम में कुछ दिनों रह कर फिर विरक्त हुए।

पर्यटन

विरक्त होने के पश्चात् तुलसी अपने इष्टदेव राम की खोज में निकल पड़े। जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् और द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम पहुंचे। वहां से मानसरोवर गए। देश की दशा को अपनी आंखों से देखा। समाज की दुर्दशा, धार्मिक विशृंखलता, आर्थिक संकट और राजनीतिक आतंक का उन्होंने स्वतः अनुभव किया।

काशी में गंगाराम ज्योतिषी के लिए उन्होंने 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना की थी। यहीं उनके परम भक्त और सेवक टोडरमल रहते थे। टोडरमल के लिए तुलसी के हृदय में बड़ा आदर और प्रेम था। टोडरमल गोस्वामी जी के सदा सहायक भी रहे।

'भक्त माल' में वर्णित तुलसी के संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी की राम-भक्ति लोक-प्रसिद्ध हो चुकी थी। नाभादास ने तुलसी के विषय में यह पद लिखा है—

त्रेता काव्य निबन्ध करी, सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे, ब्रह्म हत्यादि परायन॥

अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला बिस्तारी।
राम चरन रस मत्त रहत अहिनिसि व्रतधारी।।
संसार अपार के पार को सुगम रीति नौका लयो।
कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीकि तुलसी भयो।।

यह निर्विवाद है कि गोस्वामी जी बहुत ही साधारण स्थिति के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। उनको जो यश और सम्मान मिला था वह सब उनकी समझ में राम भक्त होने के नाते ही उपलब्ध हुआ था। उन्होंने लिखा है—

(क) **हौं तो सदा खर को असवार, तिहारोई नाम गयन्द चढ़ायो,**

(ख) **राम को कहाइ, नाम बेचि-बेचि खाइ, मेवा**
संगति न जाइ पाछिले को उपखानु है।
तेहू तुलसी को लोग भलो-भलो कहै, ताको
दूसरो न हेतु, एक नीके कै निदानु है।

गोस्वामी जी समाज में राम-भक्त के रूप में बहुत प्रसिद्ध हो गए थे, लोग उनके दर्शन के लिए जाया करते थे। आदर-प्रतिष्ठा के कारण सांसारिक ख्याति की ओर उनका मन कभी झुका तो नहीं पर वे माया से सदा भयभीत रहते थे और समय पाने पर कोसने से चूके नहीं।

लोक सम्मान से साधारण व्यक्ति भले ही प्रसन्न होवें पर तुलसीदास ऐसे भगवद्भक्त को तो इससे ग्लानि ही हुई। वे समझते थे कि इससे भजन में बाधा पड़ती है। बहुत-से लोगों में उनकी भक्ति-भावना और गुणों को देख कर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति बढ़ रही थी। परन्तु कुछ ऐसे लोग भी थे जो इनकी विभूति को फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते थे। तुलसीदस ने दोहावली में कहा है—

रावनरिपु के दास तें कायर करहिं कुचालि।

सम्भव है कि उनकी उदार धार्मिक भावना के कारण बहुत-से अनुदार, पाखंडी, कट्टर पंथी उनके प्रति जाति के विषय में आक्षेप करते रहे हों और अनेक प्रकार से कष्ट देते रहे हों। इसी से उन्हें विवश होकर कहना पड़ा था—

धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जुलहा कहो कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगार न कोऊ।।—(कवितावली)

मेरे जाति पांति न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू के काम को।
साधू कै असाधु कै भलो कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं राम को।।

ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी दुष्टों ने धर्मान्धतावश इन्हें काफी कष्ट दिया। परन्तु वे इन बाधाओं से घबराने वाले न थे, उन्होंने निर्भय होकर कहा—

कौन की त्रास करै तुलसी जो पै राखिहै राम तो मारिहै को रे?—(कवितावली)

जो हो इतना तो सर्वमान्य है कि गोस्वामी जी उच्च कोटि के महात्मा थे और सदा भगवद्भजन में लगे रहते थे। कवितावली में कुछ ऐसे पद आए हैं जिनमें काशी में महामारी के प्रकोप का वर्णन मिलता है। वृद्धावस्था में इन्हें भयंकर बाहु-पीड़ा का सामना करना पड़ा था जिसका उल्लेख कवितावली, और हनुमान-बाहुक में हुआ है। पीड़ा के निवारण के लिए इन्होंने शंकर, राम, हनुमान आदि की प्रार्थना की थी, परन्तु हनुमान बाहुक के ४४ छन्द तो पीड़ा निवारणार्थ ही लिखे गए थे। यह पीड़ा इनकी बाहु तक ही सीमित न रही, बल्कि सारे शरीर में व्याप्त हो गई थी—

पांव पीर, पेट पीर, बाहु पीर, मुंह पीर।
जर-जर सकल सरीर पीर भई है।

परन्तु इस भयंकर पीड़ा के समय भी राम-भक्ति में लेश-मात्र अन्तर न पड़ा था। सम्भव है इसी रोग के कारण संसार-प्रयाण से पूर्व उन्होंने निम्नलिखित पद कहा था—

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुख चन्द सों चन्दन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गौरी कि गंग विहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेषु सप्रेम पयान समै सब सोच बिमोचन छेम करी है॥

तुलसीदास की मृत्यु राम का यश वर्णन करते ही हुई और अन्त समय तक उनकी वाणी से कविता का प्रवाह प्रवाहित होता रहा। उनके अन्तिम बोल ये थे—

राम नाम जस बरनि कै भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अबहीं तुलसी सोन॥

गोस्वामी जी की निधन तिथि के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

"संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥"

'मूल गोसाई चरित' में यह दोहा इस रूप में मिलता है—

"संवत सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तजे सरीर॥"

गणना से यह दूसरी तिथि ठीक निकलती है।

कृतियां

गोस्वामी तुलसीदास ने गुरु के धर्मोपदेश, उनके द्वारा उपलब्ध साहित्य और शास्त्र के ज्ञान, स्वाध्याय, मनन और पर्यटन तथा व्यापक अनुभव के पश्चात् काव्य-रचना में हाथ लगाया। उनके मत से काव्य की सार्थकता तभी है जब उसमें राम का गुणगान हो। उन्होंने लौकिक व्यक्तियों का गुणानुवाद करना निकृष्ट कवि-कर्म माना—

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई, सुमिरत सारद आवति धाई,
राम चरित सर बिनु अन्हवाये, सो श्रम जाइ न कोटि उपाये।
कवि कोबिद अस हृदय बिचारी, गावहिं हरि जस कलिमल हारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना।

गोस्वमी जी ने उसी काव्य को श्रेष्ठ माना जिसमें भगवान की कीर्ति का वर्णन हो। इन्होंने अपने किसी ग्रन्थ में अपनी अन्य रचनाओं के संबंध में उल्लेख नहीं किया। इसलिए विभिन्न लेखकों, विद्वानों के रचना संबंधी उल्लेखों और भक्त-परम्परा से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर उनके रचित ग्रन्थों को मान्य समझेंगे।

गोस्वामी जी के रचे १२ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं जिनमें ५ बड़े और ७ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, विनयपत्रिका बड़े ग्रन्थ हैं तथा रामलला नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्यसंदीपनी, कृष्ण गीतावली और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे। प्रसिद्ध भक्त और रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी ने इन्हीं बारह ग्रन्थों को गोस्वामी जी कृति माना है। पर शिवसिंह सरोज में दस और ग्रन्थों के नाम गिनाए गए हैं, यथा—रामसतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण, और कुण्डलिया रामायण। कुछ अन्य ग्रन्थों को भी उपस्थित किया जाता है। पर इनके विषय में विवाद अधिक है। वे ग्रन्थ ये हैं—हनुमान चालीसा, तुलसी सतसई, मंगल रामायण, मंगलावली, राम मुक्तावली, राम लता, नाम कला कोष मणि, ज्ञान दीपिका और गीता भाष्य।

ऊपर लिखे प्रसिद्ध बारह ग्रन्थों की प्रामाणिकता के लिए पं० रामगुलाम द्विवेदी का एक छन्द है, जिसमें तुलसी की समस्त रचनाओं का उल्लेख है—

रामलला नहछू त्यों विराग संदीपिनी हूं,
बरवै बनाइ बिरमाई मति साई की।
पारबती जानकी के मंगल ललित गाय,
रम्य राम प्राज्ञा रची कामधेनु नाईं की।
दोहा औ कवित्त गीतबन्ध कृष्ण राम कथा,
रामायन बिनै मांहि बान सब ठाईं की।
जग में सोहानी जगदीश हू के मनमानी,
संत सुखदानी बानी तुलसी गोसाईं की।

प्रसिद्ध १२ ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ कुछ ऐसे हैं जिनकी शैली, शब्दावली, भाषा और विचार गोस्वामी जी के सिद्धान्त और काव्य-रचना की पद्धति से भिन्न है। इससे उचित यही है कि इन्हें मानसकार की कृति न माना जाये। सम्भवत: ये किसी ऐसे व्यक्ति के बनाए हों जिसका भी नाम तुलसीदास रहा हो अथवा जिसने अपना नाम तुलसीदास रख लिया हो। रामचरित मानस में पीछे के कवियों ने स्थान-स्थान पर नई कथाएं जोड़ दी हैं, जिन्हें क्षेपक कहते हैं। ये कविगण ऐसे परोपकारी थे कि इन्होंने अपना नाम तक नहीं लिखा, और इनकी केवल यही इच्छा थी कि हमारी भी कविताएं गोस्वामी जी के साहित्य में मिल जायें। हो सकता है कि अपने को छिपाकर वर्ण्य विषय का महत्व बढ़ाने के प्रयोजन से उन्होंने ऐसा किया हो। अत: केवल उक्त प्रसिद्ध बारह ग्रन्थों का ही संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। प्रारम्भ में लघु रचनाओं का परिचय देकर उत्कृष्ट

कृतियों पर विचार किया जायेगा।

रामलला नहछू : यज्ञोपवीत और विवाह के पहले नहछू (नख काटना) होता है। यज्ञ-मण्डप में स्नानोपरान्त वर को गोद में लेकर माता बैठती है। नाइन उसके नखों को काटती और उन पर महावर लगाती है। इसी रीति का इस काव्य में गान है। यह ठेठ अवधी में है। इसमें कुल बीस सोहर छन्द हैं। इसमें रचे गीत पुत्र-जन्मोत्सव, उपनयन और विवाह संस्कार आदि अवसरों पर गाए जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अवसर पर संभवतः भद्दे और फूहड़ नहछू के गीत प्रचलित रहे होंगे और तुलसी ने एक सामाजिक और सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए परिष्कृत एवं रुचिपूर्ण नहछू की रचना की। राम एक सामान्य दूलह और कौशल्या दूलह-माता के प्रतीक रूप से हैं (१) गोद लिए कौसिल्या बैठि रामहि बर हो। (२) सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो। (३) दूलह कै महतारि देखि मन हरषत हो। यद्यपि ये गीत विवाहोत्सवों के लिए निर्धारित हैं तथापि यज्ञोपवीत के अवसर पर भी इनका गान होता है।

कवि की आंखें पुष्प-माल-विभूषित राम के वक्षस्थल पर एवं जातक से रंजित उंगलियों पर हैं :

अतिसय पुहुप क माल राम उर सोहइ हो।
तिरछी चितवनि आनंदमनि मुख जोहइ हो।
नख काटत मुसुकाहिं बरनि नहिं जातहि हो।
पदुमराग मनि मानहुं कोमल गातहि हो।
प्रभु कर चरन पछालितो अतिसुकुमारी हो।
जावक रचित अंगुरियन्ह मृदुल सुढारी हो।

गोस्वामी जी ने इस छोटे से ग्रन्थ में भी राम के दिव्य रूप का कैसा संकेत किया है।

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइं हो।
सो पग धूरि सिद्ध मुनि दरस न पावइं हो।

चित्र और भाव बड़े ही स्पष्ट और मनोहारी हैं। यह रचना स्त्री-समाज के लिए रचित है अतः इसकी पदावली कोमल, प्रवाह पूर्ण और शृंगार संयुत है।

पार्वती मंगल : इसमें शिव-पार्वती के विवाह की कथा है। इसमें १४८ अरुण और १६ हरि गीतिका छन्द हैं। पार्वती मंगल की रचना तिथि का संकेत कवि ने इस प्रकार दिया है।

जय संवत फागुन सुदि पाचैं गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउं मंगल सुनि सुख छिनु-छिनु॥

इस पद के अनुसार इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १६४३ वि० मानना चाहिए। यह प्रबन्ध काव्य पूर्वी अवधी में लिखा गया है। मानस के आरम्भ में वर्णित शिव-पार्वती के विवाह की कथा यत्र-तत्र परिवर्तन के साथ इसमें गाई गई हैं। इसमें सती के मोह और उनके शरीर-त्याग की चर्चा नहीं है। मानस की कथा शिवपुराण के आधार पर है। सम्भव

है, इस पुस्तक की कथा का आधार कालिदास का कुमारसम्भव हो। कथा बड़ी सुसंगठित रूप में प्रस्तुत की गई है। इसमें पार्वती की जन्म-कथा संक्षेप में, किन्तु तपस्या और विवाह का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसमें पार्वती-बटु संवाद, वैवाहिक कृत्य, शिव की बारात का दृश्य आदि स्थल बड़े ही सजीव और मार्मिक बन पड़े हैं।

पार्वती ने सखी के द्वारा ब्रह्मचारी वेश में सामने खड़े शिव के प्रति कहलाया—

कहुं तिय होंहि सयान सुनहिं सिख राउरि,
बौरेहि के अनुराग भइउं बड़ि बाउरि।

पार्वती की विदा के समय की स्थिति पर कैसी बढ़िया उत्प्रेक्षा है—

भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुंचावहिं।
हुंकरि हुंकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहिं।

इसी प्रकार मंगल-हार का सुन्दर रूप देखते ही बनता है—

प्रेम-पाट पट-डोरि गौरि-हर-गुन-मनि,
मंगल-हार रचेउ कबि-मति-मृग-लोचनि।
मृग नयनी बिधुबदनी रचेउ मनिमंजु मंगल हार सो।
उर धरहु जुवती जन बिलोकि तिलोक सोभा सार सो।

जानकी मंगल : यह मंगल छन्द में रचित प्रबन्ध काव्य है। इसमें २१६ छन्द हैं। भाषा, छन्द आदि की दृष्टि से यह पार्वती मंगल की शैली पर ही लिखा गया है। उद्देश्य और शैली साम्य होने के कारण कहा जा सकता है कि दोनों के रचनाकाल में विशेष अन्तर नहीं है। इसमें सीता और राम के विवाह का वर्णन है। कथा मानस के समान ही है। इसमें फुलवारी-वर्णन, लक्ष्मण-दर्प और परशुराम सम्बन्धी आख्यान नहीं हैं। कहीं-कहीं तो शब्दावली तक मानस से ज्यों की त्यों मिल जाती है। इसमें परशुराम का आगमन विवाहोपरान्त बारात के जनकपुरी से लौटने पर मार्ग में होता है। परशुराम और राम-लक्ष्मण संवाद अत्यन्त संक्षिप्त है—

पंथ मिले भृगुनाथ हाथ फरसा लिये, डांटहि आंख देखाइ कोप दारुन किए।
राम कीन्ह परितोष रोष रिस परिहरि, चले सौंपि सारंग सुफल लोचन करि।

धनुष के पास राम के पहुंचने के समय सीता की मनोदशा का कवि ने बड़ा मार्मिक चित्र खींचा है—

कहि न सकति कछु सकुचति सिय हिय सोचइ,
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ।
होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहि,
फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहि।
धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिं न,
बर किसोर, धनु घोर, दइउ नहिं दाहिन।

राम को देखने पर जनक की दशा का चित्र कैसा मनोहर है—

देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ,
बंधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ।

काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ पूर्ण सफल है।

बरवै रामायण : यह ग्रन्थ समय-समय पर लिखे गए छन्दों का संकलन प्रतीत होता है। इसमें ६६ छन्द हैं। वेणीमाधव दास के अनुसार इसकी रचना संवत् १६६६ में हुई। प्रचलित है कि रहीम ने अपने किसी सरदार की स्त्री द्वारा रचित् बरवै की एक पंक्ति पर मुग्ध होकर इस ललित छन्द में अपने 'बरवै नायिका भेद' की रचना की थी और इन्हीं के आग्रह पर गोस्वामी जी ने 'बरवै रामायण' की रचना की। बरवै अवधी का मोहक छन्द है। बरवै रामायण ७ काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड में राम चरित-सम्बन्धी प्रमुख घटनाओं का अत्यन्त संक्षिप्त किन्तु मनोहारी वर्णन है। कुछ स्थल देखिए—

सीता जी हनुमान से अपनी विरह-जन्य दशा की व्यंजना करती हैं—

अब जीवन कै है कपि आस न कोइ, कन गुरिया कै मुंदरी कंगना होइ।

सीता के सौन्दर्य की व्यंजना करते समय व्यतिरेक का कैसा अच्छा प्रयोग है—

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ,
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ।

वैराग्य संदीपिनी : इसमें दोहा, सोरठा और चौपाई छन्दों में राम की वन्दना और महिमा के अतिरिक्त सन्त-स्वभाव, सन्त-महिमा तथा शान्ति का वर्णन है। इसके अन्तर्गत सदाचार, सत्संग, वैराग्य आदि के द्वारा भक्ति-भाव प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इसमें कुल बासठ छन्द हैं। इसके कतिपय दोहे कहीं तद्वत्, कहीं अल्प परिवर्तन के साथ, दोहावली तथा रामाज्ञा प्रश्न में भी मिलते हैं। इससे कुछ विद्वानों की राय है कि इसकी रचना दोहावली से पहले की गई है। यह वैरागियों और साधु-सन्तों के लिए लिखी गई कृति है, जिसमें अहंभाव के त्याग, सन्तों की संगति और वैराग्य से भक्ति प्राप्त करने के उपदेश हैं। नीचे के दोहों में सिद्धान्त कहे गये हैं—

तुलसी यह तनु खेत है, मन बच कर्म किसान।
पाप पुन्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान।।
तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा भय ताप।
सान्ति होति जब सान्तिपद, पावै राम-प्रताप।।

कृष्ण गीतावली : यह ब्रज भाषा में रचित इकसठ पदों का आख्यान काव्य है। इसमें श्री कृष्ण की बाललीलाओं के अतिरिक्त गोपियों के उपालम्भ, इन्द्र-कोप, गोपियों के प्रेम-विरह, गोपी-उद्धव संवाद आदि वर्णित हैं। यद्यपि इन प्रसंगों पर तुलसी के समकालीन और परवर्ती ब्रजभाषा के अन्य कवियों ने प्रचुर मात्रा में रचना की है फिर भी तुलसीदास जी को स्वतंत्र स्थान यहां भी प्राप्त है। यह ग्रन्थ गोस्वामी जी के ब्रज

भाषा के अध्ययन एवं अधिकार का द्योतक है।

श्री कृष्ण और यशोदा का यह वार्तालाप कितना स्वाभाविक है—

"छोटी-छोटी मीसी रोटी चिकनि चुपरि कै तू दे री मैया',
'ले कन्हैया सो कब ? अबहि तात।'
'सिगरियै हौं ही खैहौं, बलदाऊ को न दैहौं।"

और इच्छानुसार चिकनी चुपड़ी रोटी पा जाने पर वे—

"कूदि-कूदि किलकि-किलकि ठाढ़े-ठाढ़े खात"।

एक गोपी बार-बार उलाहना देने आती है। यशोदा इससे तंग आकर कृष्ण को डांटती हैं। कृष्ण गोपी के उलाहना और यशोदा की शंका का उत्तर किस प्रकार देते हैं—

"अबहि उरहनों दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया ! तेरी सौं करी याकी टेव लरनि की सकुच बेंचि सी खाई।
या ब्रज में लरिका घने हौं ही अन्यायी।
मुँह लाये मूड़हिं चढ़ी अंतहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई।"

इस उत्तर में कृष्ण के प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तित्व का कैसा सजीव निखार है।

रामाज्ञा प्रश्नावली : इसमें सात सर्ग हैं। और प्रत्येक सर्ग में सात सप्तक, तथा प्रत्येक में सात दोहे हैं। इस प्रकार ३४३ दोहों के अतिरिक्त इसके आरम्भ में दो दोहे और हैं। उनमें प्रश्न निकालने की रीति बतलाई गई है। इसका रचना-काल संवत् १६६५ माना जा सकता है। प्रथम सर्ग के सातवें सप्तक का अन्तिम दोहा है –

सगुन प्रथम उनचास सुभ, तुलसी अति अभिराम।
सब प्रसन्न सुर भूमि सुर, गोगन गंगा राम॥

इस संकेत से सम्बन्धित एक कथा प्रचलित है कि गंगाराम एक ज्योतिषी तुलसी के मित्र थे। ज्योतिषी जी एक राजकीय संकट में पड़ गए थे। एक प्रश्न बताने पर पुरस्कार तथा न बताने पर प्राणदण्ड की शर्त थी। मित्र को दुःखी देखकर तुलसीदास जी ने इस पुस्तक के छन्दों को रचा। जिससे गंगाराम का उद्धार हुआ। घटना चाहे सत्य हो या असत्य पर इससे ग्रन्थ-रचना में प्रेरणा अवश्य मिली होगी।

इसमें राम-कथा के विविध प्रकरणों की चर्चा है, और प्रत्येक दोहे से फल भी निकलता है। इसके ७ सर्गों को रामायण का काण्ड समझना चाहिए। इसके भी बहुत-से दोहों में रामचरित मानस की उक्तियों से सादृश्य है। इस पुस्तक में वर्णित कथा पर वाल्मीकि रामायण की कथा का ही प्रभाव अधिक है। कथानक वाल्मीकि रामायण के ही ढंग पर वर्णित है। पुस्तक में कवित्वपूर्ण रचनाएँ अधिक नहीं हैं वरन् घटनाओं के गूढ़ संकेत ही मिलते हैं।

दोहावली : यह मुक्तक रचना है। इसके ५७३ छन्दों में २३ सोरठे और शेष दोहे हैं। इसकी रचना संवत् १६५६ से ७६ के मध्य हुई होगी। बाहु-पीड़ा का भी इसमें उल्लेख है। इसमें रचित दोहों और सोरठों में बहुत-से मानस, वैराग्य संदीपिनी, रामाज्ञा

प्रश्न और सतसई में भी मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इसकी रचना बीस वर्ष के दीर्घकाल में हुई है। इसका प्रमुख उद्देश्य नीति-वर्णन है। समाज, धर्म, व्यक्ति और राज-नीति के सुन्दर प्रसंग इसमें मिलते हैं। चातक के प्रसंग में प्रतीक रूप से लिखी गई उक्तियाँ भक्त का एक आदर्श रूप प्रस्तुत करती हैं। व्यक्ति के आचार और नीति सम्बन्धी दोहे तो बड़े ही प्रभावकारी हैं। जैसे—

उपल बरसि गरजन तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुं दूसरी ओर ?
मंत्री, गुरु अस बैद जो, प्रिय बोलहिं भय त्रास।
राज, धरम, तन तीनि कर, होइ बेगिही नास॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहै, हमैं पूछि हैं कौन॥

कवित्त रामायण : गोस्वामी जी ने 'मानस' के अतिरिक्त जिन काव्यों में राम-कथा का वर्णन किया है उनमें कवितावली और गीतावली मुख्य हैं। कवितावली में अन्य रामायणों के समान सात काण्डों में विभाजित करके रामचरित को मुख्य रूप से सवैया और घनाक्षरी में कहा गया है। बाल से लेकर लंका काण्ड तक रामचरित का चित्रण है और उत्तर काण्ड में कवि के सिद्धान्त, राम भक्ति के महत्व, आत्म-विश्वास, आत्मग्लानि तथा आत्मचरित सम्बन्धी उक्तियों के अतिरिक्त तत्कालीन देश की दशा सम्बन्धी बहुत-से छन्द हैं। कुछ पद काशी की तत्कालीन दशा का भी परिचय देते हैं। इसी ग्रन्थ का अन्तिम खण्ड 'हनुमान बाहुक' है, जिसमें ४४ कवित्तों के अन्तर्गत गोस्वामी जी ने अपनी भयंकर बाहुपीड़ा का निवेदन हनुमान जी तथा अन्य देवों से किया है। हनुमान के बल, चरित्र और कथा का संकेतात्मक उल्लेख है।

यह ग्रन्थ विभिन्न समयों और स्थानों पर लिखे गए कवित्त, सवैया आदि छन्दों का संग्रह प्रतीत होता है, क्रमबद्ध रूप में रचित नहीं। काशी की महामारी, रुद्रबीसी, मीन की सनीचरी तथा अन्तिम प्रयाण के प्रसंग यह सिद्ध करते हैं कि इसमें कम से कम दस-बारह वर्ष की रचनाएं सम्मिलित हैं।

कवितावली सरस, मधुर और ओजपूर्ण छन्दों से भरपूर है। इसमें राम के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विविध प्रसंग बड़े ही मनोहर और सजीव हैं। रामचरित मानस के समान यह ग्रन्थ भी बड़ा ही प्रिय है। बनवास के लिए अयोध्या से निकलते ही सीता की दशा देखिये—

पुर तें निकसी रघुबीर बधू, धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकीं भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति हैं, चलनो अब केतिक, पर्न-कुटी करिहौ कित ह्वै ?
तिय को लखि आतुरता पिय की, अंखियां अति चारु चलीं जल च्वै॥

गीतावली : इसमें राम कथा का क्रम-बद्ध वर्णन है पर इसे प्रबन्ध कोटि में

नहीं गिना जाता। इसमें भी सात काण्डों में कथा का विभाजन हुआ है। कथानक की दृष्टि से रामचरितमानस से मिलता है। इसमें परशुराम संवाद का कोई उल्लेख नहीं। उत्तर काण्ड में राजाधिराज रामचन्द्र के आनन्दमय जीवन की झांकी दिखाई गई है। इसके साथ ही साथ सीता के निष्कासन और लव कुश कथा का भी उल्लेख है।

गीतावली एक सरस और प्रौढ़ साहित्यिक कृति है। शृंगार, हास्य,वीर, करुण आदि रसों की अभिव्यक्ति बड़ी सुन्दर है। वात्सल्य रस का वर्णन तो बहुत ही सजीव है। विश्वामित्र के साथ जाने के पश्चात् राम के समाचार न मिलने पर कौशल्या की दशा का वर्णन इस प्रकार है —

मेरे बालक कैसे धौं मग निबहिंगे ?
भूख पियास सीत स्रम सकुचनि क्यों कौसिकहिं कहहिंगे !
को भोर ही उबटि अन्हवैहै, काढ़ि कलेऊ दैहै।
को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख पैहैं !

रामचरित मानस : प्रबन्ध सौष्ठव, कवित्व और प्रभाव आदि दृष्टियों से 'रामचरितमानस' गोस्वामी जी की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कवि ने घोषणा की है—

नाना-पुराण-निगमागम-सम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

इससे सूचित होता है कि अनेक शास्त्रों के आलोडन के पश्चात् यह प्रौढ़ रचना उपस्थित हुई है। यह ग्रन्थ हिन्दू संस्कृति का सारभूत ग्रन्थ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व में नर और नारायणत्व का समन्वित रूप विद्यमान है। यह हिन्दी का तो सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है ही, संसार की अन्य प्रसिद्ध भाषाओं में भी इस कोटि का ग्रन्थ कदाचित् ही हो। विदेशी भाषाओं में भी, इसके गुणों पर रीझ कर अनुवाद हो रहे हैं। इसकी रचना १६३१ संवत् के मधुमास की नौमी तिथि भौमवार को प्रारम्भ हुई थी।

यह ग्रन्थ ७ सोपानों में विभक्त है। विभिन्न छन्दों का यथास्थान प्रयोग करते हुए प्रमुखतः दोहा और चौपाइयों में इसकी रचना हुई है। प्रायः आठ चौपाइयों पर एक दोहा रखा गया है। 'मानस' के एक छन्द में चौपाइयों की संख्या का संकेत करते हुए तुलसी ने लिखा है—

'सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुबर हरै॥'

रामचरित मानस में पौराणिक, नाटकीय और महाकाव्यात्मक, तीनों शैलियां मिलती हैं। इसमें चार कथाएं चलती हैं। याज्ञवल्क्य ने भारद्वाज से, शिव ने पार्वती से, काकभुशुण्डि ने गरुड़ से, और तुलसी ने भक्तों से राम कथा कही है—

सुठि सुन्दर संवाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेहि एहि पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि।

रामचरित मानस मानव-जीवन का महाकाव्य है। इसके द्वारा गोस्वामी जी ने हमारी आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया हैं। राम, सीता, भरत, दशरथ, कौशल्या, लक्ष्मण, हनुमान आदि के त्याग, प्रेम, सेवा और कर्तव्य-पूर्ण चरित्र हमारे ईर्ष्या-द्वेष, वैर-संघर्ष से जर्जरित समाज के लिए अमृतमयी जीवन-दायिनि औषधि हैं। पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा के जो आदर्श रूप इसमें विद्यमान हैं समाज में उसी की स्थापना के लिये गोस्वामी जी ने निरन्तर प्रयत्न किया।

गोस्वामी जी को निर्गुण-पंथियों की वाणी में लोक धर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत-से अनधिकारी और अशिक्षित, वेदान्त के कुछ चलते शब्दों को लेकर ज्ञानी बनकर भोली-भाली जनता को लौकिक कर्तव्यों से विचलित कर रहे हैं। नाथपंथियों की हृदय-पक्ष-शून्यता भी इनको अखरी। प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर शैवों और वैष्णवों के बीच बढ़ते विद्वेष को आप न सह सके। इन सभी समस्याओं का समाधान करने के लिए आपने मानस की रचना की। तत्कालीन निराकार और साकार के विवाद का भी समन्वय किया। भक्ति की चरम सीमा पर पहुंचकर भी लोक-पक्ष और लोक-संग्रह उन्होंने नहीं छोड़ा।

रामचरित मानस राजा-रंक, पठित-अपठित सबके घर में विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इसकी चौपाइयां उद्धृत की जाती हैं। इसके द्वारा भारतीय समाज के आदर्श की रक्षा हुई है साथ ही प्रेम और त्याग द्वारा समाज-संगठन का उपदेश मिला है।

विनय पत्रिका : कहा जाता है कि गोस्वामी जी के प्रभाव से काशी में राम के प्रति लोगों की भक्ति बढ़ रही थी। इससे कलियुग उन पर कुपित हुआ। उससे बचने के लिए हनुमान जी की प्रेरणा से उन्होंने राजाधिराज रामचन्द्र की सेवा में यह विनय पत्रिका भेजी थी। इसमें राम के प्रति राजोचित सम्मान और शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने आत्म-निवेदन किया है। अपनी प्रार्थना स्वीकृति के लिए राम के मुसाहिबों को अपनी कार्य-सिद्धि में सहायक बनाने का उन्होंने ध्यान रखा। वे मर्यादा-पालन में बहुत सावधान रहते थे। सर्वप्रथम गणपति की स्तुति है, फिर सूर्य, शंकर, भैरव, पार्वती, विश्वनाथ, दुर्गा, गंगा, यमुना, काशी और चित्रकूट की स्तुतियां हैं। तदनन्तर राम के मुख्य पार्षद हनुमान तथा उनके अंश लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की प्रार्थना की। इस प्रकार राज-सभा को अनुकूल कर, सबसे राम-भक्ति की ही याचना करके उन्होंने महारानी सीता से अपनी चर्चा चलाने की विनती इस प्रकार की—

कबहुं क अम्ब अवसर पाइ !
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन कथा चलाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।
बूझि हैं सो है कौन ? कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ।

गोस्वामी जी ने हनुमान, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न से अपनी पत्रिका महाराजाधिराज के सामने उपस्थित करने की प्रार्थना की है। लक्ष्मण ने पत्रिका उपस्थित की। सभी ने समान रूप से समर्थन किया। सीता के स्मरण दिलाने पर राम की स्वीकृति मिल जाती है। इस प्रकार इसमें सारे पद स्वतंत्र होते हुए भी क्रमबद्ध हैं।

विनय-पत्रिका के भीतर गोस्वामी जी ने विभिन्न दार्शनिक मतवादों के विवादों में न पड़कर एक भक्ति-मार्ग को अपनाने का संकेत किया है। इस मार्ग पर उनकी अविचल आस्था है। तुलसी ने अपनी प्रत्येक रचना एक विशिष्ट उद्देश्य को सामने रखकर विरचित की। वे रचनाएं राम-कथा की पुनरुक्ति नहीं, वरन् 'रामचरित मानस' की पूरक हैं।

भाव-पक्ष

'रामचरित मानस' है तो वाल्मीकि रामायण की परम्परा में, पर उसकी पद्धति से सर्वथा भिन्न है। उसमें पुराणों की छाया और आगमों का अनुगमन भी है। इतना वृहद् ग्रन्थ होते हुए भी इसकी कथा ऐसी सुगठित है कि कहीं शैथिल्य का नाम नहीं। तुलसी के सभी ग्रन्थों में भाव-प्रवणता प्रचुर मात्रा में है। एक भक्त होते हुए तुलसी ने शृंगार-वर्णन में जो भाव-प्रवणता दिखाई है वह पाठक को विस्मय के साथ आनन्द विभोर बना देती है। विप्रलंभ शृंगार की छटा एक स्थान पर देखिए—

हे खग मृग हे मधुकर स्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप-निकर कोकिला प्रवीना॥
कुंद-कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकुन संक सकुच मनमाहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥—(अरण्य काण्ड)

वन-यात्रा के समय रास्ते के समीपवर्त्ती गांवों की वधूटियां आकर सीता को घेर लेती हैं। प्रेम-पूर्ण आग्रह पर सीता को अपने पति का परिचय इस प्रकार देना पड़ता है—

सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुं मुसुकानी॥
तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुं सकोच सकुचति बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृगनयनी। बोली मधुर बचन पिकबयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नाम लषन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढांकी। प्रिय तन चितइ भौंह करि बांकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

(अयोध्या काण्ड)

रामचरित मानस में राम की व्याकुलता दो स्थानों पर स्पष्ट दीख पड़ती है। और उनका प्राकृत रूप सर्वथा निखर कर हमारे सामने आ गया है। इनमें एक तो

सीता-हरण के अवसर पर जब वह पशु-पक्षियों से सीता का पता पूछते हैं और दूसरा लक्ष्मण को शक्ति लगने पर जब वह मूछित हो पृथ्वी पर लेट जाते हैं। राम का विलाप उनके भ्रातृ-स्नेह को व्यक्त करता है—

जो जनत्यौ बन बन्धु बिछोहू। पिता बचन नहिं मनतेउं ओहू।।

सहृदय-शिरोमणि तुलसी की दृष्टि मानव-हृदय और प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर पैठने में ही अभ्यस्त न थी, वह सृष्टि के जीवों के अन्तस्तल की दशा देखने का प्रयास किया करती थी। राम के वियोग में प्रकृति और पशु-पक्षियों की दशा देखिए—

बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं।।

और

हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुर पसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर।।
राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहं तहं मनहुं चित्र लिखि काढ़े।।

राम, लक्ष्मण और सीता के बन जाने पर राजा दशरथ, सुमन्त्र को रथ लेकर इसलिए भेजते हैं कि उन्हें रथ पर चढ़ा कर दो-चार दिन जंगल में घुमा कर वापस ले आना। यदि राम न भी लौटें तो किसी विशेष परिस्थिति में चर्चा छेड़कर सीता को तो लौटा ही लाना। पर किसी ने लौटने का नाम न लिया। सुमन्त्र को राम ने समझा-बुझा कर लौटा दिया। मनुष्यों का तो क्या राम के वियोग में घोड़ों की दशा देखिये—

तरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहु आनि रथ जोरे।।

लंका में जब हनुमान ने आग लगा दी, तब प्रचण्ड-ज्वाला से भयभीत नर-नारियों की त्रस्त दशा 'कवितावली' में देखिये—

जहां तहां बुबुक बिलोकि बुबकारी देत,
जरत निकेत धाओ धाओ लागी आगि रे।

राम के प्रसंग में निषाद की उपेक्षा किसी प्रकार उचित नहीं हो सकती। निषाद की भाव-भरी भोली वाणी में राम को जो रस मिलता है वह हास्यरस का दाता है। देखिये केवट के प्रेम लपेटे अटपटे बैन—

रावरे दोष न पायन को पग धूरि को भूरि प्रभाउ महा है।
पावन पायं पखारि कै नाव चढ़ाइहौं, आयसु होत कहा है?
तुलसी सुनि केवट के बर बैन हंसे प्रभु जानकि ओर हहा हैं।।

(कवितावली—अयोध्या)

गोस्वामी तुलसीदास राम के शील और सौन्दर्य को व्यक्त करने के अवसरों को चूकते नहीं। राम मृगया खेल रहे हैं, फिर भी मृग भागते नहीं, प्रत्युत उनको देखते ही रह जाते हैं—

सर चरिक चारु बनाइ कसे कटि, पानि सरासन सायक लै।
बन खेलत राम फिरै मृगया, तुलसी छबि सो बरनै किमि कै।।

अवलोकि अलौकिक रूप मृगी मृग, चौंकि चकें चितवें चित दें।
न डगै न भगै जिय जानि सिलीमुख, पंच धरें रतिनायक है ।।

(कवि०—अयोध्या)

राम चित्रकूट आ रहे हैं ! इस समाचार को सुनकर सबसे अधिक प्रसन्नता विन्ध्य-वासी उदासियों को हुई। तुलसी ने इन उदासियों को आड़े हाथों लिया है और हास का गहरा रंग दिखाया है। कैसी फबती में कहते हैं—

बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतम तीय तरी, तुलसी, सो कथा सुनिये मुनिवृन्द सुखारे ।।
ह्वै हैं सिला सब चन्द्र मुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पग धारे।।

(कवि० अयो०)

आत्मग्लानि की व्यंजना इन शब्दों में करते हैं—

जो हौं मातु मते महं ह्वै हौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहां कालिमा ध्वै हौं ?
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानि है सांची ?
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिषन्ह बांची ?

विस्तार-भय से इस पक्ष को अधिक न दिखा कर इतना ही कहना पर्याप्त है कि सब रसों और भावों की व्यंजना इन्होंने की है, पर मर्यादा उल्लंघन कहीं नहीं किया है।

कला-पक्ष

गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-कला का विश्लेषण एक बहुत बड़ा विषय है, साथ ही व्यापक भी। यहां उनकी काव्य-कला का दिग्दर्शन ही कराया जा सकता है। तुलसी की रचनाओं में उनके व्यक्तित्व की छाप विद्यमान है। आश्चर्य होता है कि एक ही व्यक्ति राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक, साहित्यिक आदि सभी पक्षों में एक साथ इतना जागरूक कैसे रह सकता है ?

तुलसी के सामने भाव प्रकाशन की क्षमता का प्रश्न ही नहीं। भाषा और शब्दों पर उनका इतना अधिकार है कि काव्य चमत्कार और अलंकार विधान स्वतः उनके सामने हाथ जोड़े खड़े हो जाते हैं। फिर भी उन्होंने नम्र भाव से निवेदन किया—

कवि न होउं नहिं बचन प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू ।।
आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक बिधाना।।
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा।।
कबित बिबेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।।

यहां उन्होंने कवित्व-विवेक से अनभिज्ञता की जो चर्चा की है वह केवल इसलिए कि वे ऐसे उक्ति-वैचित्र्य को कभी महत्व नहीं दे सकते जिसके भीतर सत्य का समावेश न हो

अथवा जिसके भीतर जीवन का मार्ग दर्शन करने वाले उदात्त चरित्र का चित्रण न हो। उनका तो दृढ़ सिद्धान्त था कि जो समाज के प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का कल्याण कर सके वही कला है। 'कला कला के लिये' यह धारणा उन्हें सदा अमान्य रही। सीता की शोभा का दर्शन करते हुए 'उपमा' की स्थिति देखिए—

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदम्बिका रूप गुन खानी॥
उपमा सकल मोहिं लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी॥
सीय बरनि तेहि उपमा देई। कुकबि कहाइ अजस को लेई॥
जौं पटतरिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहां कमनीया॥
गिरा मुखर तनु अरघ भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिऊ रमा सम किमि बैदेही॥
जौं छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छप सोई॥
सोभा रज्जु मंदरू सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
एहि बिधि उपजे लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कबि, कहहिं सीय सम तूल॥—(बाल काण्ड)

लंका में हनुमान द्वारा आग लगाने पर लंका निवासिनी नारियां रावण को किस प्रकार कोस रही हैं तथा गाली दे रही हैं, इसका स्वरूप इस रूपक में देखिये—

हाट बाट हाटक पिघलि चलो घी सो घनो,
कनक कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि पागि ढेरी कीन्हीं भली भांति भाय सों।
पाहुने कृसानु पवमान सो परोसो,
हनुमान सनमानि के जेंवायें चित्त चाय सों।
तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारी कहैं,
बावरे सुरारी बैर कीन्हों राम राय सों।—(कवितावली)

तुलसीदास ने अनुप्रासों की योजना भी ऐसे ढंग से व्यक्त की है कि हृदय बरबस खिंच जाता है। राम के वन जाने के समय सीता अयोध्या में रहने का विरोध किन शब्दों में शालीनता के साथ-साथ करती हैं—

मैं पुनि समुझि दीखि मन माहीं। प्रिय वियोग सम दुखु जग नाहीं॥
प्राननाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान॥
मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई॥
जहं लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

राम के वियोग में कौशल्या बहुत दुःखी हैं, पर मृत्यु को चाहने पर भी नहीं पातीं, इसकी व्यंजना देखिये—

हाथ मीजिबौ हाथ रह्यो।
पति सुर पुर सिय राम लखन बन मुनि व्रत भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो॥—(गीतावली)

तुलसी ने विभिन्न स्थिति और अवस्थाओं में पड़े हुए मानवों का मनोविश्लेषण बड़ी ही रोचकता के साथ प्रस्तुत किया है। इस दिशा में बाल मनोविज्ञान का उनका ज्ञान अद्भुत है। बाल वृन्द के साथ राम का बाल वर्णन कितना मनोहारी और सजीव हो उठा है, राम का चारों भाइयों के साथ चित्रण देखिये—

कबहूं ससि मांगत आरि करें, कबहूं प्रतिबिंब निहारि डरें।
कबहूं करताल बजाइ के नाचत, मातु सबै मनमोद भरें॥
कबहूं रिसियाइ कहैं हटि कै पुनि लेत सोइ जेहि लागि अरें।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिर में बिहरें॥

ऐसे ही कृष्ण के बाल-स्वभाव का एक दृश्य है। गोपियां कृष्ण पर नटखटी का दोष लगाती हैं, तो वे अपनी सफाई कितनी चतुरता से देते हैं। वे कहते हैं—

मेरी टेव बूझि हलधर सों संतत संग खेलावहिं।
जे अन्याउ करें काहू को ते सिसु मोहि न भावहिं॥

हलधर सदा साथ खेलाते हैं, यही कृष्ण की साधुता का प्रमाण है, नहीं तो वे साथ ही न खेलाते और वे सदा साथ रहते हैं अतः वे अधिक जानते हैं, यह ग्वालिन क्या जाने।

तुलसी काव्य-रचना में राम-भक्ति को ही प्रधानता देते हैं। उनकी काव्य-भावना इन पदों में स्पष्ट देखिये—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।
बिधुबदनी सब भांति संवारी। सोहन बसन बिना बर नारी॥

तुलसी युग-युग के जन-जन के कवि हैं। युग-परिवर्तन के साथ आज जीवन सम्बन्धी बहुत-सी मान्यताएं बदल गई हैं, फिर भी तुलसी के उदात्त दृष्टिकोण से प्रभावित हुए बिना हम नहीं रह सकते। इनकी मान्यता है कि कला किसी विशिष्ट वर्ग की नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव समाज की है, जन-जन कलाकार एवं कला प्रेमी हो सकता है और वास्तविक कला-कृति वही है जिससे सभी लाभ उठा सकें। तुलसी के ही शब्दों में—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई।"

दार्शनिक विचार

गोस्वामी जी भारतीय धर्म परम्परा के पोषक थे। उनका हृदय विशाल था और दृष्टि थी व्यापक। वे साधु, ऋषि, क्रान्तदर्शी, समाज-सुधारक और सम्पूर्ण जीव-धारियों से स्नेह करने वाले महात्मा थे। देश में परतंत्रता के कारण समाज की विशृंखलता को उन्होंने

पहचाना। विवाद-ग्रस्त निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, अवतारवाद तथा जीवन की विविध समस्याओं को उन्होंने सुलझाया। उन्होंने राम-भक्ति का प्रतिपादन करते समय अध्यात्म-तत्व का जो निरूपण किया है उसका सर्वमान्य आर्य सिद्धान्तों से कहीं विरोध नहीं।

उपनिषद् ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को मानते हैं। गोस्वामी जी का भी सिद्धान्त यही है—

सगुन अगुन दोउ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।

दोनों का समन्वय करते हुए तुलसी कहते हैं—

सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोई कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।।
आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा।।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।

इस प्रकार सगुण-निर्गुण का समन्वय करते हुए तुलसी ने स्पष्ट किया है कि ज्ञान के लिए निर्गुण और उपासना या भक्ति के लिए ब्रह्म का सगुण रूप ग्राह्य है। सर्वशक्तिमान् निर्गुण ब्रह्म ही, अधर्म से बचाने और भक्तों को दर्शन देने के लिए सगुण रूप धारण करता है। अगर ब्रह्म निर्गुण होता तो सगुण की कल्पना ही न होती। जल-वायु के भीतर भी वाष्प रूप में अदृश्य पड़ा रहता है वैसे ही निर्गुण ब्रह्म भी आंखों से ओझल है। जैसे जल का ही ठोस रूप उपल, बर्फ तथा ओला होता है, तो भी उससे अभिन्न है, वैसे ही निर्गुण ब्रह्म भी सगुण रूप धारण करता है।

तुलसी ने भगवान् के विराट रूप का भी वर्णन किया है। गीता के विराट रूप की तरह इसका भी निखिल-ब्रह्माण्ड में व्यापकत्व है। यह विराट रूप सगुण का विशाल रूप है। लंका काण्ड में मंदोदरी ने इस विराट रूप का वर्णन किया है—

पद पाताल सीस अज धामा। अपरलोक अंग अंग बिश्रामा।।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कचघन माला।।
जासु घ्रान अस्विनी कुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।।
आनन अनल अंबु-पति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।।
रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।।

योग और भोग का समन्वय करने वाले विदेह जनक ने विवाह के उपरान्त राम को विदा करते समय कहा था—

राम करौं केहि भांति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा।।
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी। चिदानन्दु निरगुन गुन रासी।।
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुं काल एक रस रहई।।

नयन विषय मो कहं भयउ, सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभ जग जीव कहं, भएं ईस अनुकूल।।

तुलसीदास जी की दृष्टि व्यापक थी। उन्होंने संसार के भले-बुरे दोनों पक्षों को विधिवत् देखा था और उसकी विषमता देखकर अपने मन को यह समाधान दिया था—

सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग-जलधि अगाधू।।

जगत को केवल राममय न कहकर 'सियाराममय' कहा है।

इससे स्पष्ट है कि वे विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुयायी थे। सीता प्रकृति स्वरूपा है और राम ब्रह्म हैं, प्रकृति अचित् पक्ष है और ब्रह्म चित् पक्ष। अतः पारमार्थिक सत्ता चिदचिद्विशिष्ट है। चित् और अचित् वस्तुतः अभिन्न हैं। तुलसी कहते हैं—

गिरा अर्थ, जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौ सीता-राम पद, जिनहिं परम प्रिय खिन्न।।

गोस्वामी जी का सिद्धान्त है कि क्रोध बिना द्वैत भाव के हो ही नहीं सकता, क्योंकि यदि जीवमात्र ईश्वरमय अर्थात् एक हैं तो क्रोध किस पर करे? और द्वैत मत होने से अज्ञान आ ही गया। मनुष्य की द्वैत बुद्धि छूट जाने पर वह परमेश्वर-तुल्य हो जाता है। किन्तु ऐसी स्थिति असम्भव है, अतः ज्ञानी होना भी सम्भव नहीं। उनका मत है —

क्रोध कि द्वैतक बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।।

तुलसीदास जी भक्ति और सत्संग दोनों को बहुत महत्व देते हैं। उनका कथन है कि ईश्वर और जीव का भेद जाने बिना भक्ति हो नहीं पाती। ज्ञान-प्राप्ति से ही यह सम्भव है? 'बिनु गुरु होहिं न ज्ञान' के अनुसार गुरु की प्रतिष्ठा भी अनिवार्य है। चित्रकूट में लक्ष्मण ने राम से पूछा कि ज्ञान-वैराग्य, माया-भक्ति तथा ईश्वर और जीव के भेद के विषय में मुझे समझाइये। राम कहते हैं—

मैं अरु मोर तोर तें माया। जेहिं बस कीन्हें जीव निकाया।।
गो गोचर जहं लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अविद्या दोऊ।।
एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।।

संसार में मेरा-तेरा भाव अर्थात् अहंकार और ममतामय बुद्धि माया के कारण होती है। मन और इन्द्रियों के विषय माया के ही हैं। माया के दो रूप हैं—विद्या और अविद्या। अविद्या अत्यन्त दुष्ट और दुःखदायिनी है।

तुलसीदास के समय में ज्ञान की धूम मची थी। इन्होंने देखा कि अलख जगाने वालों ने लोक-संग्रह की भावना को नष्ट कर भक्ति-रहित समाज बना डाला है। अतः भक्ति की महिमा स्थापित कर उन्होंने समाज में फिर चेतना लाने का प्रयास किया। उनका कहना है कि ज्ञान और भक्ति दोनों भक्त के साधन हैं जिनके द्वारा सांसारिक बंधन या माया दूर हो सकती है। ज्ञान का दर्जा बहुत ऊंचा है, 'सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा' अर्थात्

मैं वही ईश्वर हूं इस प्रकार का ज्ञान होना बड़ा उत्तम है। पर ऐसा ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। अगर ज्ञान को प्राप्त भी कर लिया तो इसे स्थिर रखना बड़ा कठिन है। अनेक बाधाएं उसे वश में कर लेती हैं। भक्ति और ज्ञान का विवेचन करते हुए वे कहते हैं—

भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहि भव-संभव खेदा ।।

किन्तु अन्तर यह है कि ज्ञान पुरुष होने के कारण माया-वश हो सकता है पर माया और भक्ति नारि-वर्ग की होने के कारण परस्पर मुग्ध नहीं हो सकतीं अर्थात् भक्ति माया पर विजय पा लेगी—

मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा ।।
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि वर्ग जानइ सब कोऊ ।।
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी ।।
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया ।।

इस रहस्य को जानकर मुनि, ज्ञानी लोग भी भक्ति की ही याचना करते हैं। राम ने अपने सिद्धान्त-निरूपण में कहा है कि भक्ति मुझे सब से प्रिय है। वे भक्ति का समर्थन दृढ़ता के साथ करते हैं—

भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मन बानी।
बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि-भजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल ।।

तुलसी के समय शैवों और वैष्णवों में बड़ा विरोध था। सुनते हैं एक ही प्रसिद्ध नगरी कांची पुरी के दो रूप हो गये थे—शिव कांची और विष्णु कांची। इनमें परस्पर वैर भाव हो गया था। इस विरोध को 'रामचरित मानस' बहुत अंशों में दूर करने में समर्थ हुआ है। शंकर जी राम के सर्वश्रेष्ठ भक्त के रूप में हैं। राम की कथा के आदि स्रोत शंकर ही हैं।

शिव जी बारम्बार राम की स्तुति करते हैं और राम भक्ति में ही लीन रहते हैं। इधर राम के इष्टदेव शिव हैं। राम शिव की उपासना करते हैं। 'पूजि पार्थिव नाये माथा'। लंका पर आक्रमण के पूर्व रामेश्वरम् में समुद्र तट पर राम ने शिव की आराधना की—

लिंग थापि विधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा ।।
सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुं मोहि न पावा ।।

ऊपर के सिद्धान्त प्रचार के कारण शैवों और वैष्णवों के बीच तुलसी ने द्वेष की भावना हटाकर ऐक्य स्थापित किया।

निषाद गुह को तथा कोल-भीलों को राम की भक्ति-भावना में ओतप्रोत कर तुलसी ने यह दिखा दिया कि किसी वर्ग का व्यक्ति संयत होकर राम का परमप्रिय हो सकता है।

इन अनेक प्रसंगों के आधार पर हम कह सकते हैं कि तुलसी के दार्शनिक विचार बड़े ही व्यापक और उदार हैं। उनमें न संकीर्णता है न मूढ़ग्राहता। उनकी धर्म संबंधी धारणा सर्वजन सुलभ और लोक कल्याणकारिणी है। संसार के अधिकांश धर्मों और संप्रदायों को तुलसी का चिर सत्य सिद्धान्त मान्य हो सकता है।

५. मीराबाई

जीवन-वृत्त

मीरा के जन्म और निधन की निश्चित तिथि एक विवादग्रस्त विषय है। उनके जीवन-काल के सम्बन्ध में मुख्यतः तीन धारणाएं चल पड़ी हैं। एक वर्ग कर्नल टाड, गोवर्धनराम, माधोराम त्रिपाठी एवं कृष्णलाल मोहन लाल झावेरी का है, जिन्होंने मीरा का जीवन-काल १५वीं शताब्दी निर्धारित किया है। जन-श्रुतियों के आधार पर इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने महाराणा कुम्भा के साथ मीरा का वैवाहिक सम्बन्ध होना माना है। उन्होंने लिखा है कि 'अपने पिता की गद्दी पर सन् १४६१ ई० में बैठने वाले राणा कुम्भा ने मेवाड़ के मेड़ताकुल की कन्या मीराबाई के साथ विवाह किया, जो अपने समय में सुन्दरता तथा सच्चरित्रता के लिए बहुत प्रसिद्ध थी और जिसके रचे हुए अनेक प्रशंसनीय गीत अभी तक सुरक्षित हैं।' ऐतिहासिक शोध के उपरान्त झावेरी साहब इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मीरा का जन्मकाल लगभग १४०३ के आसपास रहा होगा और ६७ वर्षों तक जीवित रहकर १४७० में स्वर्गलोक सिधारी होंगी। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ठा० शिवसिंह जी ने भी मीरा का विवाह सं० १४७० अर्थात् सन् १४१३ ई० के लगभग राजा मोकलदेव के पुत्र राजा कुंभकर्णसी चित्तौर नरेश के साथ होने का उल्लेख किया है।

कुछ विद्वानों ने मीरा को राठौर सरदार जयमल की बेटी ठहराया है और उनका जन्म-सम्वत् १६७५ (सन् १६१८) माना है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी का इस बात से मतभेद है। उन्होंने लिखा है कि "वास्तव में राव जयमल जी मीराबाई के पिता न होकर उनके चचेरे भाई थे और दोनों ने बचपन में अपने प्रसिद्ध पितामह भगवद्भक्त राव दूदा जी (सन् १४४०-१५१५ ई० तक) के यहां एक ही साथ रहकर अपनी प्राथमिक शिक्षा पाई थी।"

एक तीसरे वर्ग के लोग भी हैं जिन्होंने मीरा को १६वीं शताब्दी की कवयित्री माना है। यह निष्कर्ष अधिक संगत है और मीरा के जीवन की अन्य घटनाओं से मेल खाता है। इसके प्रमुख शोधकर्त्ता स्वर्गीय मुं० देवी प्रसाद जी मुंसिफ, बा० हरिविलास जी शारदा तथा म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी हैं जिन्होंने अपने तर्कपूर्ण प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि मीरा राठौर नरेश राव दूदा जी की पोती तथा रत्नसिंह जी की इकलौती पुत्री थी। इन व्यक्तियों के निश्चय के अनुसार मीरा का जन्म सन्

१४६८ और सन् १५०४ के बीच किसी समय हुआ था। इनका विवाह १५१६ ई० में मेवाड़ के महाराणा सांगा के ज्येष्ठ राजकुमार भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ तथा सन् १५४६ ई० में इनकी मृत्यु हुई। मीरा के जन्म-मरण सम्बन्धी इस निष्कर्ष को विद्वानों द्वारा बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया गया है।

मीरा का व्यक्तित्व

किसी कवि की कृतियों का ठीक मूल्यांकन करने के लिए उसके व्यक्तित्व का परिचय आवश्यक होता है। 'व्यक्तित्व मानस (में होने वाले घनीभूत द्वन्द्वों) की प्रक्रियाओं का संयत संगठन होता है।' अपने मानस को बिना किसी आवरण के सहज रूप में उड़ेल देने वाले कवि की कविता का हमें तभी सम्यक् ज्ञान मिल सकता है जब हम उसके व्यक्तित्व से भी परिचित हों। समालोचना की आधुनिक मनोवैज्ञानिक पद्धति ने कवित्व से पहले व्यक्तित्व को ही प्रधानता दी है। 'विषयी-प्रधान कविताओं में निहित भावोद्रेक व्यक्तित्व की ही उपज है।'

सामाजिक बन्धनों के प्रति मीरा का द्वन्द इस बात का द्योतक है कि मीरा का व्यक्तित्व कितना दृढ़ था, उनके मानस में होने वाले रागात्मक द्वन्द्वों में कितनी प्रबलता थी, जिनके उद्‌गार हमें उनके पदों के रूप में प्राप्त हैं। मीरा के व्यक्तित्व का रहस्य उनकी प्रेमानुभूतियों में निहित है। उनके प्रेम की कई अवस्थाएं हैं। उनकी कृतियों में कुछ ऐसे पद मिलते हैं जो उनके पूर्वानुराग को व्यंजित करते हैं। पं०परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में "उनके पूर्वानुराग में मधुर आकर्षण, स्नेहसिक्त लगाव, अपूर्व उलझन एवं दृढ़ निश्चय के भाव हैं; उनके हृदय में श्री गिरिधरलाल के प्रति जो मधुर रति है, वही उनके अनेक पदों में प्रदर्शित विभाव, अनुभाव आदि द्वारा क्रमशः परिपुष्ट होकर मधुर रस का रूप ग्रहण करती हुई दीख पड़ी है।" उन्होंने अपने 'गिरिधरलाल' के अंग-अंग के सौंदर्य का वर्णन किया है। उनके कृष्ण, सौन्दर्य के निधान व मूर्तिमान शृंगार हैं जिन्हें वह रिझाना चाहती हैं। उनकी टेढ़ी चितवन और 'मंद मुसकान' मीरा की सुप्त आभ्यंतरिक रति को उद्दीप्त करती है। वे अपने पति गिरिधरलाल को 'निरमोहिया' 'धतूरा जोगी' आदि नामों से सम्बोधित कर उपालंभ का भाव व्यक्त करती हैं। कुछ फ्रायडवादी मनोवैज्ञानिकों ने मीरा के इस पूर्वराग को वासनामूलक बताया है। वे लोग 'सन्तन संग बैठि बैठि लोक लाज खोई' आदि पदों को अपनी पुष्टि के लिए उद्धृत करते हैं। परन्तु, जैसा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संकेत किया है, मीरा वासना के स्वर से बहुत ऊपर उठ चुकी थीं। उन्होंने लिखा है कि 'जो मीरा की रचना की छान-बीन में आधुनिक नूतन मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं उन्हें यह भी अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि दमित-वासना परीवाह के द्वारा परिष्कृत होकर उदात्त रूप धारण करती है, यह तथ्य भी नूतन मनोविज्ञान को ग्राह्य है।'[1] 'उनके विषय में फैले हुए लोकापवाद तथा विष आदि

---

१. देखो: जन-भारती, वर्ष ३ अंक १ सं० २०१२

देने की घटनाओं का कारण लौकिक आलम्बन के प्रति प्रणयासक्ति मान लेना ठीक नहीं। साधु-सन्तों के सत्कार करने के लिए उन्होंने उस समय की मान्य लोक-मर्यादा की भी अवहेलना की थी जिसका संकेत वे इस प्रकार देती हैं—

"राजकुल की लाज गंवाई साधां के संग मैं भटकी।"

अपनी परिस्थिति की इस प्रकार की सहज अभिव्यक्ति निष्कल्मष हृदय द्वारा ही की जा सकती है, किसी अभिसारिका द्वारा नहीं। मीरा की प्रेमाभिव्यंजना हमारे सामने परिष्कृत रूप में ही आती है अत: आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के अनुसार 'इन्हें साधु या भक्त अभिव्यंजक ही मानना चाहिए।'

मीरा के व्यक्तित्व का दूसरा पक्ष विषाद से व्याप्त है। अधेड़ावस्था में ही मीराबाई को अपनी माता का वियोग सहना पड़ा था। तब से उनके पितामह, पति, पिता, श्वसुर एवं चाचा का भी एक दूसरे के अनन्तर देहान्त होता गया। इस प्रकार उन्हें पारिवारिक जीवन की ठेस बराबर लगती गई। वेदना से पूर्ण उनके हृदय को लोगों का व्यंग्य और पारिवारिक ताड़ना भी सहनी पड़ी थी। इन सबके कारण उन्हें सांसारिक जीवन के प्रति घोर निराशा हुई। उन्होंने संसार को क्षण भंगुर और सार रहित माना। वे विरक्त भक्तों की भांति भवसागर को दु:खपूर्ण या विकार-सागर मानती हैं—

**"यो संसार विकार सागर बीच में घेरी।
नाव फाटी प्रभु पाल बांधो बूड़त है बेरी।"**

लौकिक प्रेम के इस अभाव ने मीरा के हृदय को अलौकिक प्रेम की ओर उन्मुख किया। उनके मन में ऐहिक जीवन के प्रति विराग तथा अलौकिक के प्रति राग उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा के व्यक्तित्व के मूल में अनुराग और विषाद का विषम द्वन्द्व था। मानस में इन दोनों प्रवृत्तियों के क्रमिक आलोड़न के कारण उनके हृदय का दिनों-दिन उन्नयन होता गया। उन्होंने अपने हृदय की इन दो विरोधी प्रवृत्तियों को ही आलम्बन बनाकर व्यक्त करना चाहा है। अनुराग की प्रवृत्ति ने उन्हें पूर्वानुराग सम्बन्धी रचनाओं की ओर प्रवृत्त किया और विषाद की प्रवृत्ति ने विप्रयोग सम्बन्धी रचना की ओर। विषयी-प्रधान रचना होने के कारण उनके पदों में उनका यही व्यक्तित्व सर्वत्र झलकता है।

मीरा की रचनाएं

मीरा की निम्नलिखित रचनाओं का विवरण हमें प्राप्त है—

नरसी जी रो माहेरो : इस ग्रन्थ में प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के माहेरा वा 'भात भरने' की कथा का वर्णन है। माहेरा गुजरात और राजस्थान की लोक-प्रिय प्रथा है। यह प्रश्नोत्तर संवाद पद्धति में पदों में लिखा गया है। इसके पद साहित्यिक दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इसमें कहीं-कहीं कोमल भावनाओं से युक्त प्रेम-भरा मीरा का हृदय

छलक पड़ता है। रहस्यमयी भावनाएँ भी परिलक्षित होती हैं जो साधक के मन की भावनाओं को उद्भासित करती हैं। उदाहरण के लिए देखिए—

"सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिउ आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर दैन कूं, जाग परी पिव ढूंढ न पाए।।
और सखी पिव सोय गमाए, मैं जु सखी पिय जागि गमाए।
आज की रात कहा कहूं सजनी, सपना में हरि लेत बुलाए।।

गीत गोविन्द की टीका : इस ग्रन्थ का अभी तक पता नहीं चला है।

राग गोविन्द : इस ग्रन्थ के विषय में भी सन्देह ही है। म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का यह अनुमान है कि इस नाम से कविता का एक ग्रन्थ मीरा ने रचा था।

राग सोरठा के पद : मिश्र-बन्धुओं ने इस संग्रह की चर्चा की है। मीरा के पद के अतिरिक्त इसमें नामदेव और कबीर के भी राग सोरठा के पद संग्रहीत हैं।

फुटकर पद : यह मीरा के अनेक पदों का संग्रह है।

मीरा की प्रेम-साधना

परम्परा में मीरा का प्रेम 'गिरधर गोपाल' से प्रसिद्ध है। अर्थात् उनकी उपासना माधुर्यभाव की उपासना मानी जाती है। कहीं-कहीं सख्य और दास्यभाव की भी अभिव्यंजना उनके पदों में परिलक्षित होती है परन्तु उनकी पृथक् कोई सत्ता नहीं। वे भी माधुर्यभाव के शासन में आ जाते हैं। दास्यभाव का उपासक भगवदैश्वर्य को सारी सृष्टि में छाया देखकर उपास्य के विराट् रूप से ही अपना संतोष कर लेता है। भगवद्सान्निध्य की लालसा होने पर भी उसके लिए उतनी अधिक तड़पन उसमें नहीं होती। किन्तु सख्य और कान्त भाव का उपासक प्रिय-सान्निध्य के लिए आतुर हो उठता है। माधुर्यभाव-प्रधान उपासक अपने आराध्य देव के साथ एकान्त में आत्म निवेदन करता है। उसके सहवास की कल्पना करता है। उसके वियोग में तड़प उठता है तथा उसके मिलन में अपूर्व सुख की प्राप्ति करता है। मीरा में ये भावनाएं स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं। वे सहृदया, श्रद्धालु और भक्त नारी हैं जिसमें, उनके स्त्री होने के कारण रागानुभक्ति के माधुर्यभाव अपनी पराकाष्ठा तक पहुंच गए हैं।

वे अपने 'गिरधर' का वर्णन इस प्रकार करती हैं मानो उन्हें प्रत्यक्ष देखती हों। उनकी प्रेमासक्ति अत्यन्त तीव्र है। वे अपने प्रियतम के रूपगत लावण्य के साथ-साथ उसके चेष्टाग्रस्त सौन्दर्य पर भी मुग्ध हैं। निम्नलिखित पद में उनका आकर्षण देखिए—

"या मोहन के मैं रूप लुभानी।। टेक।।
सुन्दर बदन कमलदल लोचन,
बांकी चितवन मन्द मुसकानी।
जमना के तीरे तीरे धेनु चरावै,
बंशी में गावै मीठी बानी।।

मीरा के प्रेम की तीव्रता निम्नलिखित प्रेम में स्पष्ट रूप से व्यंजित है—

पग घुंघरू बांधि मीरा नाची रे—
लोग कहैं मीरा हो गई बावरी, सास कहै कुलनासी रे।
जहर का प्याला राणा जी भेजा पीयत मीरा हांसी रे।
मैं तो अपने नारायण की हो गई आपहिं दासी रे।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर वेग मिलो अविनासी रे।

विरह-वेदना की आशंका से प्रिय से आग्रह करती हैं—

"जोगी मत जा मत जा मत जा, पाइ परूं मैं चेरी तेरी हौं।।
प्रेम भगति को पैंड़ों ही न्यारो, हमकूं गैल बता जा।
अगर चंदण की चिता बणाऊं, अपणे हाथ जला जा।
जल बल भई भस्म की ढेरी, अपणे अंग लगा जा।
मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर, जोत में जोत मिला जा।"

इस पद में मीरा की प्रेम-भक्ति चरम उत्कर्ष पर पहुंची हुई दिखाई पड़ती है।

मीरा के कुछ ऐसे पद भी मिल जाते हैं जिनसे उनके सपत्नी भाव की टीस व्यंजित होती है। कहती हैं—

वारी वारी हो राम हूं वारी, तुम आ ज्या गली हमारी।।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है, जोऊं बाट तुम्हारी।
कूण सखी सूं तुम रंग राते, हम सूं अधिक पियारी।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा ने ऐसे बहुत से पदों की रचना की है जिनसे मीरा की साधना सगुणरूपवत् प्रतीत होती है। उन्होंने लीलामय भगवान् को सगुण रूप में भी अंकित किया है, उनके सौन्दर्य और चेष्टाओं का वर्णन किया है। सगुण रूप के प्रति की जाने वाली नवधा भक्ति के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त मीरा ने बहुत-से ऐसे पदों की भी रचना की है जो निर्गुणोपासना की ओर संकेत करते हैं। निर्गुण सन्त कवियों की भांति मीरा ने सुन्न महल में जाने की क्रिया का भी वर्णन किया है —

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहां से झांकी लगाऊंगी।
सुन्न महल में सुरत जमाऊं सुख की सेज बिछाऊंगी।
पिया पलंग जा पौढूंगी मीरा हरिरंग रांचूंगी।

मीरा ने भगवान् को 'हरि अविनासी' की संज्ञा दी है और अपने हृदय में निवास करने वाला भी बतलाया है। सृष्टि के लय हो जाने पर भी वह सदा अटल रहने वाला है। इस कारण स्थाई प्रेम उसी के साथ हो सकता है और वही अपना सच्चा पति-देव कहलाने योग्य है। वे कहती हैं—

मैं गिरधर रंग राती, सैयां मैं० ।। टेक ।।
पचरंग चोला पहर सखी मैं, झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट मां मिल्यो सांवरो, खोल मिली तन गाती।

जिनका पिया परदेस बसत है, लिख लिख भेजै पाती ।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहुं आती जाती ।
चंदा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणी अकासी ।
पवन पाणी दोनों ही जायंगे, अटल रहै अविनासी ।
सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती ।
प्रेम हटी का तेल मंगा ले, जगे रह्या दिन ते राती ।
सतगुरु मिलिया सांसा भाग्या, सैन बताई सांची ।
ना घर तेरा ना घर मेरा, गावै मीरा दासी ।।

मीराबाई उसी अविनासी के द्वार पर खड़ी हो पुकार करती हैं —

मैं जाण्यो हरि मैं ठग्योरी, हरि ठग ले गयो मोय ।
लख चौरासी मोरचारी, छिन में गेरया छै विगोय ।
सुरत चली जहां मैं चली री, कृष्ण नाम झणकार ।
अबिनासी की पोल पर जी मीरा करै छै पुकार ।।

तो भी उनके अनुसार वह राम 'अगम' एवं 'अतीत' है। वह 'आदि अनादि साहब' है जिसकी सेज 'गगन मंडल' पर बिछी रहा करती है। अतएव उन्होंने उसकी प्राप्ति के साधन, 'ज्ञान की गुटकी' वा 'ग्यान की गली' से होकर बताया है। वे, गुरु-ज्ञान द्वारा अपने तन का कपड़ा रंगकर तथा मन की मुद्रा पहनकर निरंजण कहे जाने वाले के ही ध्यान में निरत रहना चाहती हैं —

बाल्हा मैं बैरागिण हूंगी हो ।
जें जें भेष म्हांरो साहिब रीझै, सोई सोई भेष धरूंगी, हो ।
सील संतोष धरूं घट भीतर, समता पकड़ रहूंगी, हो ।
जाको नाम निरंजण कहिए, ताको ध्यान धरूंगी, हो ।
गुरु ज्ञान रंगूं तन कपड़ा, मन मुद्रा पेरूंगी, हो ।
प्रेम प्रीत सुं हरिगुण गाऊं, चरण लिपट रहूंगी, हो ।
या तन की मैं करूं कींगरी, रसना राम रटूंगी, हो ।
मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, साधां संग रहूंगी, हो ।

वे कभी-कभी 'सुरत' वा 'निरत' का 'दिवला' संजोने के लिए 'मनसा की बाती' बनाती हैं और 'प्रेम हटी' से तेल मंगाकर उसे 'दिनराती' जगते रहने योग्य कर देती हैं तो दूसरी बार, 'तन' को ही 'दियना' वना उसमें, 'मनसा' की बाती डाल देती हैं और प्रेम का तेल उसमें भरकर 'दिनराती' जलाया करती हैं तथा 'ज्ञान की पाटी 'रचकर' वा 'मति' की मांग संवारकर 'बहुरंग की बिछी सेज पर, अपने सांवरे' का स्वागत करने के लिए 'पंथ जोहती' वा प्रतीक्षा किया करती हैं।

स्याम तेरी आरति लागी हो ।
गुरु परतापे पाइया, तन दुरमति भागी हो ।। टेक ।।

या तन को दियला करो, मनसा करो बाती हो।
तेल भरावों प्रेम का, बारों दिन राती हो।
पाटी पारों ज्ञान की, मति मांग संवारों हो।
तेरे कारण सांवरे, धन जोवन वारों हो।
या सेजिया बहु रंग की, बहु फूल बिछायो हो।
पंथ में जो हौं स्याम का अजहुं नहिं आयो हो।
सावन भादों उमड़ो, बरसा रितु आई हो।
मोह घटा घन घेरि के, नैनन झरिलाई हो।
मात पिता तुमको दियो, तुमहीं भल जानो हो।
तुम तजि और भतार को, मन में नहिं आनों हो।
तुम प्रभु पूरन ब्रह्म हो, पूरन पद दीजै हो।
मीरां व्याकुल बिरहनीं, अपनी करि लीजै हो।

मीरा के इन पदों के पढ़ने से यह निश्चय-सा होने लगता है कि मीरा की उपासना पर कबीर आदि निर्गुण सन्तों का भी अत्यधिक प्रभाव रहा है। मीरा की रचनाओं में दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों का सहारा लिया गया है—निर्गुणपरक और सगुणपरक। यह निष्कर्ष निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है कि मीरा कहां तक सगुण हैं और कहां तक निर्गुण। उपासना की दोनों पद्धतियों को उन्होंने श्रद्धा से अपनाया। इस सम्बन्ध में आचार्य चन्द्रबली का सुझाव अधिक संगत प्रतीत होता है कि 'मीरा साधना के क्षेत्र में निर्गुण भले ही हों किन्तु भावना के क्षेत्र में तो वह सर्वथा गोपी ही हैं।' उनके सन्त-साधना की ओर संकेत करने वाले पदों में भी भक्त-भावना परिलक्षित होती है।

मीरा की इस मिश्रित उपासना-सरणी के कारण यह विवाद उठ खड़ा होता है कि मीरा का प्रणयालम्बन वास्तव में क्या था—'अदिव्य, दिव्यादिव्य या दिव्य।' इस विवाद का निपटारा तभी हो सकता है जब मीरा की उपासना-पद्धति का कोई स्वरूप निश्चित किया जा सके। पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने अपने लेख 'मीरा की साधना : व्यक्ति की मीमांसा' (जन भारती; वर्ष ३ अंक १ सं० २०१२) में इस झगड़े को सुलझाने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं : "जिस समय मीरा अपनी अनुभूतियों को वाणी का रूप दे रही थीं उस समय साधना के क्षेत्र में भारतीय सगुणमार्ग के साथ ही साथ निर्गुणमार्ग की दो धाराएं प्रवाहित थीं—एक शुद्ध-विदेशी सूफी धारा और दूसरी रहस्य-रंजित निर्गुण की देशी कही जाने वाली धारा। सूफी-धारा में प्रणय की अभिव्यक्ति, विषयी पक्ष-प्रधान और निर्गुण की रहस्यरंजित धारा में विषयी और विषय उभय-पक्ष-प्रधान अभिव्यक्ति सरणी थी। भारतीय सगुण मार्ग विषय-पक्ष प्रधान सरणि लेकर चल रहा था, जिसमें सूफी रहस्य की विषयी-पक्ष प्रधान रहस्य-धारा का मेल भी होने लगा था। मीराबाई ने साहित्य और साधना दोनों क्षेत्र में अपने को अग्रसर किया था। उनकी अभिव्यक्ति की सरणी सूफियों की विषयी-पक्ष प्रधान सरणी थी। किन्तु साधना के क्षेत्र में उन्होंने

सूफियों की रहस्यात्मक पद्धति को ग्रहण नहीं किया। सूफियों के यहां अलौकिक प्रेम तक पहुंचने का मार्ग लौकिक प्रेम के माध्यम से कहा गया है। इसलिए सूफ़ियों की प्रणय-साधना लौकिक प्रणय से अलौकिक प्रणय की ओर उन्मुख होती है। अधिकतर सूफियों के आलम्बन लौकिक होते हैं और उनको आधार बनाकर अलौकिक आलम्बन सामने रखा जाता है। सूफियों ने अलौकिक प्रणय के अभिव्यंजन की दो पद्धतियां ली थीं—प्रकीर्णक पद्धति और प्रबन्धबद्ध पद्धति। प्रकीर्णक रचनाओं की अभिव्यक्ति विषयी-पक्ष प्रधान रहती थी और प्रबन्धबद्ध रचनाओं में विषयी-पक्ष प्रधान पद्धति ग्रहण की जाती थी। मुक्तक का कर्त्ता लौकिक आलम्बन होते हुए भी उसे आवृत किये रहता और प्रबन्ध-बद्ध रचना का कर्त्ता आवरण में अपनी बात न कहकर प्रत्यक्ष कहता। अर्थात् लौकिक आलम्बन इन दोनों के होते थे जिनमें से प्रकीर्णक का प्रणेता अपने प्रस्तुत पक्ष को प्रस्तुत के द्वारा सामने करता था और प्रबन्ध का प्रणेता प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत को सामने लाता था। एक अन्योक्ति पद्धति से चलता था दूसरा समासोक्ति पद्धति से।

जब मीरा पर विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उनकी रचना न तो अन्योक्ति पद्धति की है और न किसी समासोक्ति पद्धति की। समासोक्ति का तो कोई प्रश्न ही नहीं क्योंकि उनकी रचना प्रबन्धबद्ध है ही नहीं। प्रकीर्णक के रूप में उनकी रचना पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी पद्धति अन्योक्ति-पद्धति नहीं कही जा सकती। वे जिस अलौकिक की ओर संकेत करती हैं उसका माध्यम या साधन कोई लौकिक नहीं है। इस बात को उन्होंने बहुत स्पष्ट घोषित कर दिया है—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।" यह प्रत्यक्ष रूप से कह दिया गया है कि इन रचनाओं के आलम्बन 'गिरधर गोपाल' ही हैं, उनके अतिरिक्ति कोई दूसरा नहीं। फिर भी किसी दूसरे की खोज की जाती है और उसके लिए तर्क यह दिया जाता है कि उन्होंने अपनी रचना में स्थान-स्थान पर 'योगी' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'योगी' शब्द किसी लौकिक आलम्बन की ओर संकेत करने वाला नहीं है जैसा भ्रम से समझा गया है। श्रीकृष्ण-विरह की अभिव्यंजना करते हुए विद्यापति, सूर आदि कवियों ने श्रीकृष्ण के लिए 'योगी' शब्द का प्रयोग किया है। विरह की व्यंजना करते हुए विरहिणी अपने प्रवासी प्रिय को 'योगी' नाम से संकेतित करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि कवि गोपिकाओं की विषय-प्रधान रचना करता हुआ अपने किसी लौकक प्रणयालम्बन के लिए 'योगी' शब्द का प्रयोग कर रहा है। इस प्रकार मिश्र जी ने सिद्ध किया है कि मीरा की उपासना का कोई लौकिक आलम्बन न था। उनका 'गिरधर गोपाल' के प्रति ही विशुद्ध प्रेम था जिसका स्वरूप दिव्य था।

यह विचार कर लेने के उपरान्त कि मीरा की प्रणय साधना शृंगार भाव से उद्बुद्ध न होकर माधुर्य भाव से प्रेरित थी, यह प्रश्न उठता है कि माधुर्यभाव की उपासना में प्रेम की कितनी अवस्थाएं संभावित हैं ? तथा मीरा ने किसका अनुसरण किया ? माधुर्यभाव से उपासना करने वाला प्रिय के प्रति दो प्रकार से प्रवृत्त हो सकता है। एक तो वह अपने

प्रेम का आलम्बन केवल अपने प्रिय को बनाए दूसरे वह अपने प्रिय को प्रेम का आलम्बन बनाते हुए भी औरों के प्रति अन्य प्रकार के प्रेम की अभिव्यक्ति कर सके। कोई पत्नी जब अपने पति को ही पति मानती है और अन्यों को नारी-कोटि में ही समझती है तो उसका प्रेम पहले प्रकार का होता है। यदि कोई पत्नी अपने पति को पति और दूसरों के पति को पिता, भ्राता या पुत्र रूप में मानती है तो उसका प्रेम दूसरे प्रकार का होता है। तुलसीदास ने पहले प्रकार के प्रेम को उत्तम तथा दूसरे प्रकार के प्रेम को मध्यम माना है। अनसूया जी सीता को शिक्षा दे रही हैं—

उत्तम के अस बस जगमाहीं। सपनेहुं आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम पर पति देखई कैसे। भ्राता, पिता, पुत्र निज जैसे।।

मीराबाई श्रीकृष्ण के प्रति प्रथम प्रकार का कान्त भाव रखती थीं अर्थात् वे कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को पुरुष नहीं मानती थीं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।

निष्कर्ष यह निकलता है कि मीरा का अपने सगुण रूप गिरधर गोपाल के प्रति अनन्य प्रेम था। उनके प्रेम में तन्मयता थी और विह्वलता थी। वे कृष्ण के प्रेमावेश में नाच उठती हैं—

"जहां जहां पांव धरूं धरणी पर, तहां तहां विरत करूंरी।"

उनकी प्रेम साधना में अद्भुत उत्कंठा है। मीरा का उद्योग भी ऐसा ही है और उपालम्भ भी अपने ढंग का अनूठा है। अपने आराध्यदेव की मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध हो जाती हैं। उनकी समस्त अभिलाषाएं, सारा चिन्तन, सारा क्रिया-कलाप प्रियतम के प्रति ही आकृष्ट हो जाता है। आशा का संसार भी दृष्टिगोचर होता है। अभीष्ट से मिलन का दिग्दर्शन भी है। आचार्य चन्द्रबली पांडेय के शब्दों में उनकी प्रेम-साधना को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है:—"पद्मिनी की लपट और मीरा की लिपट में जो रस है वह अमृत और अनुपम है। मीरा है तो नाम पर वह आती है प्रतीक के रूप में ही। प्रेम-साधना के रूप का नाम ही मीरा है।"

मीरा का रहस्यवाद

मीरा की उपासना माधुर्यभाव से भरी थी और माधुर्यभाव में आध्यात्मिक रहस्य आवश्यक है। आध्यात्मिकता की भावना से जहां प्रेम का भोग हुआ, रहस्यवाद का जन्म हो जाता है। मीरा के पदों में निर्गुण तथा सूफीमत दोनों की बातें मिलती हैं। त्रिकुटी, सुरत, शून्यमहल, निरंजन, सतगुरु आदि का स्थान-स्थान पर प्रयोग है। प्रेम की पीर का वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर है। विरह का जो वर्णन मीराबाई के पदों में हुआ है वह एक रहस्यवादी का ही विरह है जो आत्मा परमात्मा के प्रति अनुभव करती है। यद्यपि मीरा ने अपने गिरधर नागर की पतिभाव से उपासना की है फिर भी वह जानती है कि उनके गिरधर पूर्णब्रह्म, अविनाशी तथा घट-घट में निवास करने वाले हैं। इनकी भक्ति के कारण इनका रहस्यवाद शुष्क तथा नीरस नहीं बना। इसमें कबीर की पहुंच तथा

जायसी का प्रेमाभिनय है।

मीरा ने 'सुन्न महल' में जाने की क्रिया का चित्रण किया है—

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहां से झांकी लगाऊं री। इत्यादि

उन्होंने 'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं,' आदि पदों में तादात्म्य स्थापित कर आत्मविभोर होने की भावना की भी व्यंजना की है।

उनके पदों में साधना की अन्तिम अवस्था का भी वर्णन मिलता है। जब साधक को सर्वत्र परमतत्व ही व्याप्त हुआ दिखाई देता है—

सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।

* * *

दीपक जोऊं ज्ञान का, चढूं अगम अटारी हो।
मीरा दासी राम की, इमरत बलिहारी हो।

आत्मा परमात्मा का मिलन, वियोग, निष्ठा, अद्वैतभाव, सभी कुछ मीरा के पदों में सन्निविष्ट है।

मीराबाई के पदों में उनका व्यक्तित्व ही सर्वत्र व्याप्त है। अभिव्यक्ति में कला-लाघव का अभाव होने के कारण उन्हें सफल कवियित्री तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु अनुभूतियों की गम्भीरता और प्रभावकारिणी शक्ति के कारण उन्हें साधु या भक्तिभाव अभिव्यंजक माना जा सकता है। 'मीरा के मन की वेदना ने ही काव्य का रूप धारण कर लिया है।' उनके कोमल स्वभाव के कारण ही उनकी रचना सरल, सरस और सुबोध हुई है। यह उनकी अनुभूतियों की ही विशिष्टता है कि कला-पक्ष शिथिल होने पर भी उनके पदों में अपूर्व सौन्दर्य या रमणीयता है। अतः उनके कवित्व में भाव-पक्ष की ही प्रधानता है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं, "मीराबाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्मसमर्पण का भाव है। इसी कारण वह सहृदयों को स्पन्दित और चालित करती हैं और अपने रंग में रंग डालती हैं।"

माधुर्यभाव की उपासिका होने के कारण मीरा का भाव-पक्ष उनके प्रेमी हृदय के विभिन्न स्वरूपों की ही व्यंजना करता है। इनकी प्रेमसाधना के अन्तर्गत चार प्रकार के भाव ही विशेष रूप से लक्षित हैं—प्रेम के स्वरूप का सात्विक चित्रण, माधुर्यभाव के प्रदर्शन में गोपीभाव, पतिभाव तथा विरहभाव का चित्रण; साथ ही मिलन की अवस्थाओं का उद्घाटन भी है।

जैसा कि साधना के प्रसंग में सिद्ध किया जा चुका है, उनका प्रेम वासनामूलक न होकर शुद्ध और सात्विक था। वह अपने गिरधर के प्रेम में एकनिष्ठ भाव से रत थीं। उनके गिरधर के प्रति प्रेम-निवेदन में स्वाभाविकता है। उनकी प्रेम-भावना इतनी तीव्र थी कि प्रेमावेश में नाच उठती थीं।"

श्री गिरधर के आगे नाचूंगी।
नाचि नाचि प्रभु रसिक रिझाऊं प्रेमी जन को जांचूंगी।"

अपने इष्ट के प्रति इस प्रकार आत्म-विभोर हो उठने की भावना उत्कृष्ट प्रेम की द्योतक है।

गोपी-भाव

कृष्ण की आराधना में मीरा का गोपी-भाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। मीरा अपने आपको कृष्ण की गोपिका समझती थीं और कृष्ण को भजती गोपी-भाव से ही थीं। गोपी-भाव की उपासना 'मधुररस' की उपासना होती है, जिसके अनुसार भक्त अपने इष्ट-देव को सर्वस्व के रूप में देखता है और उसके सान्निध्य का अनुभव करता है। गोपियों की भांति इनका भी कृष्ण के प्रति परकीया-प्रेम था जिस कारण गोपियों की भांति इन्हें भी लोक-बाधाओं का सामना करना पड़ा। किन्तु जैसा नियम है, इन बातों में बाधाएं जितना संकट लातीं हैं, प्रेम की गति उतनी ही तीव्र होती जाती है और अंत में वह एक विचित्र मधुर पागलपन का रूप धारण कर लेती है। इस प्रेम का उद्देश्य इन्द्रिय उपभोग, शरीरादि मात्र की आसक्ति का स्वार्थ-लाभ में ही नहीं हो जाता। यह नितान्त नित्य, एकरस व स्वार्थ रहित, अतएव 'कामगंध हीन' हुआ करता है। ऐसे प्रेम में काम-वासना को स्थान नहीं। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने लेख 'मधुरस की साधना' (कल्याण-साधनांक पृष्ठ १७५) में यह सिद्ध किया है कि "कामगंधहीन होने पर ही उस 'गोपी-भाव' की प्राप्ति होती है।"

संयोग-भाव तथा विरह-भाव का चित्रण

भारतीय भक्ति-साधना और काव्य-साधना विरह-जन्य निराशा के साथ-साथ आशावाद को भी लपेटे चलती है। सूफियों की तरह इनकी साधना केवल विरह की ही साधना नहीं है न ही छायावादी कवि की भांति मीरा केवल नैराश्य जगत में ही रहती है। मीरा की अनुभूतियां विरह-प्रधान अवश्य हैं पर संयोग-भाव के पद भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इसी अनुपम मेल के कारण इनकी साधना प्रेम की साधना होने पर यह सूफी-प्रेम-साधना से भिन्न दिखाई पड़ती है। अपनी इसी विलक्षणता के कारण साधना-क्षेत्र में मीरा किसी एक मार्ग का (सगुण या निर्गुण) अनुसरण करती हुई नहीं दिखाई पड़तीं। उसमें उभय मार्गों का समन्वय भारतीय भक्ति-मार्ग के स्वरूप के अन्तर्गत ही है।

मीरा को प्रभु मिलन की सदा आशा बनी रहती है। कभी-कभी उनका प्रिय से मिलन हो जाता है। कभी-कभी प्रिय मिलन की तैयारी में वे समस्त पृथ्वी को आनन्दमय देखती हैं—

सुनि हो मैं हरि आवन की अवाज।
दादुर मोर पपइया बोलै कोइल मधुरे साज।

वे अपने 'पिया' को सदा अपने पास देखती हैं और उसके प्रेम में दिन-रात मस्त फिरती रहती हैं। प्रिय-आगमन से उनका हृदय आह्लाद से भर जाता है और वे फूली

नहीं समातीं—

म्हारा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूं मेरे आंणद छाया जी।
रग-रग शीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी।

इस प्रकार संयोग भाव के अनेक उदाहरण उनकी रचना में बिखरे पड़े हैं। परन्तु संयोग की अनुभूति से कहीं अधिक तीव्रता उनकी विरहानुभूति के वर्णन में हैं। मीरा-बाई के प्रेम की दूसरी अवस्था वा विरह का दर्शन विप्रलम्भ शृंगार ही जैसा हुआ है किन्तु, उसमें आन्तरिक वेदना का समावेश अधिक होने से, मानसिक पक्ष की प्रधानता है; शारीरिक तप आदि का वर्णन कम होने से शारीरिक पक्ष गौण समझा जा सकता है। जिस विरह-वेदना में मानसिक वेदना प्रधान होती है और शारीरिक वेदना गौण, वह प्रेम अध्यात्मवाद की ओर झुकने लगता है। मीरा के पदों में शारीरिक कष्टों की तीव्रता और असह्यता का भी प्रदर्शन है परन्तु मानसिक कष्ट ही प्रधान है। शारीरिक कष्टों की तीव्रता वा असह्यता का प्रदर्शन अधिकतर परम्परानुसार है और कई पदों में अत्युक्ति से भरा पड़ा है परन्तु स्वानुभूति के कारण, उसमें भी उतनी अस्वाभाविकता नहीं जान पड़ती। मानसिक कष्टों के वर्णन प्रायः सभी अनूठे और स्वाभाविक हैं। उनमें प्रायः सब कहीं बेचैनी, विवशता से भरी हुई मर्मान्तिक वेदना की एक सच्ची कहानी सुन पड़ती है। उनका विरह-वर्णन भी मर्यादित है और सूफियों के समान ही उसमें विह्वलता और टीस भी है। वह अपने 'दरद' को व्यक्त करने में भी असमर्थ हैं क्योंकि उसे या तो दर्द देने वाला या वैसा ही 'दर्द' अनुभव करने वाला ही समझ सकता है। उनके 'दरद' की अनुभूति देखिए—

हेरी मैं दरद दिवाणी होइ, दरद न जाणै मेरो कोइ।
घायल की गति घाइल जाणै, की जिन जौहर होय।
सूली ऊपर सेज पिया की, सोवणा किस विध होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलणा होइ।
दरद की मारी बन बन डोलूं, बैद मिल्या नहिं कोइ।
मीरा की प्रभु पीर मिटेगी, जब बैद सांवलिया होइ।

मीरा के विरह-वर्णन में एक अद्भुत आकर्षण है। उनकी विरह-वेदना में मधुर आतुरता है। जैसा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का मत है, "मीरा की विरह-वेदना गोपियों के आरम्भिक जीवन की विरह-व्यथा से न मिलकर उनके प्रवास-विरह से अधिक मिलती है। यही कारण है कि उनकी विरहानुभूति में केवल तीव्रता ही नहीं है, गम्भीरता और गरिमा भी है।"

कला पक्ष

भाव-वैशिष्टय के साथ-साथ अभिव्यक्ति-सौन्दर्य भी कविता का आवश्यक गुण है। मीरा के पदों में कला-पक्ष का सर्वथा अभाव ही दिखाई पड़ता है। फिर भी उन्हें अपने भावों को व्यक्त करने के लिए कोई न कोई माध्यम अपनाना ही था। उन्होंने अपनी रचनाएं पदों में की हैं जिनमें गेय गुण प्रधान है। मीरा से पूर्व भी अनेक कवियों ने अभिव्यक्ति की इस गीत-पद्धति का अनुसरण किया था। इसकी परम्परा हमें सिद्धों व नाथों की पद्य-रचना से ही मिलने लगती है। सिद्धों के गीतों में भी रागों की व्यवस्था है; किन्तु उनमें टेक प्रायः नहीं दीख पड़ते और पूरे का पूरा पद एक ही प्रकार के सामान्य छन्द अरिल्ल, चौपाई, चौबोला आदि की द्विपदियों में लिखा हुआ मिलता है। परन्तु भाषा की शुद्धता व प्रवाह न होने के कारण इनके पदों में गेयत्व का अभाव ही रहा।

हिन्दी गीत-परम्परा के अन्तर्गत मीरा से पूर्व, एक और पद्धति का भी विकास हो चुका था जिसे वैष्णव पद्धति कहते हैं। इस पद्धति का सर्व प्रथम प्रयोग भक्त जयदेव के द्वारा रचे गए 'गीत गोविन्द' के पदों में मिलता है। मैथिली में विद्यापति, गुजरात में नरसी मेहता, तथा बंगाल में चण्डीदास ने भी इस प्रकार की शैली अपनाई। इस पद्धति का अनुसरण अष्टछाप के कवियों ने भी किया। इस पद्धति के अनुसार प्रत्येक पद का विषय भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, लीला का ही वर्णन होता है और कभी-कभी उसमें भक्तिपूर्ण मनोभावों का भी समावेश हो जाता है।

मीरा ने गीत की इसी वैष्णव-पद्धति को अपनाया। कहीं-कहीं मात्राओं और छन्दों की गड़बड़ी के कारण गीतों के प्रवाह में शिथिलता आ गई है परन्तु मधुरभाव के वैशिष्टय के कारण उनके पदों से सरसता कभी भी लुप्त नहीं होने पाई है। पदों में अपने ढंग की मधुरिमा भी है जो "सहृदय को स्पन्दित और चालित करती है।" महादेवी की भांति यद्यपि कला को संवारने का प्रयास मीरा ने कभी नहीं किया तथापि कहीं-कहीं उनके पदों में अलंकारों और छन्दों की सुन्दर योजना बन पड़ी है तथा भाषा में भी प्रवाह आ गया है। अलंकारों में सबसे अधिक ध्यान रूपक पर है। मीरा के कई पद रूपक पर ही आश्रित हैं। इन रूपकों में विशेषता यह है कि इनकी रचना विशेषतः सन्त साधना के साथ हुई है। साथ ही कहीं-कहीं लोकोक्तियां भी बड़े ठिकाने से आ गई हैं। जैसे 'हाथ का मीजना', 'हाथी से उतर कर गधे पर चढ़ना', 'मन का काठ करना' 'हो गए चांद दुइज के चन्दा'।

छन्द-योजना

पिंगल की दृष्टि से पदावली के पद अनियमित हैं। मात्रा-दोष के कारण गतिभंग दोष भी आ गया है। इन्होंने सार और सरसी छन्द का अत्यधिक प्रयोग किया है। ये दोनों मात्रिक छन्द हैं। दोहा छन्द भी बहुत बार आया है। कहीं-कहीं सार और दोहे का

सम्मिश्रण भी किया है। जैसे —

बंड़े घर ताली लागे रे, म्हारां मन री उणारभ भागीरे।
इम्रत प्याला छांडि कै, कुण पीवै कड़वो नीर।

इसमें प्रथम पंक्ति में सार छन्द का तथा दूसरी में दोहा प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त ताटंक छन्द, कुण्डल छन्द, चान्द्रायण, उपमा छन्द, विष्णु पद आदि छन्दों का भी प्रयोग इन्होंने किया है।

अलंकार-योजना

एक परोक्ष वस्तु अर्थात् 'हरि अविनासी' प्रियतम होने से, उसके साथ प्रेम एवं सम्बन्ध को भावोत्तेजना द्वारा स्पष्ट करने के लिए सादृश्य-योजना का आश्रय भी लेना पड़ा है और फलस्वरूप उसमें यत्र-तत्र कुछ अलंकार का विधान भी स्वभावतः हो गया है। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं—

रूपक : (क) **मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।**
अंसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-बेल बोई
अब तो बेल फैल गई आणन्द फल होई॥

(ख) **या तन को दियना करों, मनसा करों बाती।**
तेल भरावों प्रेम का, बारों दिन राती॥

उपमा : **अधर बिम्ब अरुण नैन, मधुर मन्द हाँसी।**
दसन दमक दाड़िम दुति, चमके चपला सी॥

उत्प्रेक्षा : **कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।**
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई।
कुटिल भृकुटि तिलक भाल, चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन, भूलो मृग छौना॥

अनुप्रास : **कहा करूं कछु बस नहिं मेरो पंख नहीं उड़ जावन को।**

इसी प्रकार स्वभावोक्ति, उदाहरण, अर्थान्तर न्यास आदि भी स्थान-स्थान पर आ गए हैं।

मीरा की भाषा

मीरा के सभी पद एक ही भाषा में नहीं रचे गए हैं। उनमें से कुछ पद राजस्थानी, कुछ ब्रजभाषा, कुछ गुजराती में लिखे गए हैं। कहीं-कहीं पंजाबी, खड़ी बोली और पूरबी आदि का भी सम्मिश्रण है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए गए हैं—

पंजाबी : **लागी सोही जाणै, कठण लगण दी पीर।**
बाहर घाव कछू नहिं दीसै रोम-रोम दी पीर।

खड़ी बोली : **मैं तो गिरिधर के घर जाऊं।**
अवधी : **बरजहु आपन उलसवा, हमसो अरुझाय।**
राजस्थानी : **थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ मैं हाजिर नाजिर कब की खड़ी।**

मीरा के पदों में प्रकृति-चित्रण

अनादि काल से ही प्रकृति मानव की चिर सहचरी रही है। वह मनुष्य की बाह्य ावश्यकताओं की पूर्ति करती हुई अन्तरंग अनुभूतियों को भी अपने रूप-सौन्दर्य से भावित और चमत्कृत करने की अद्‌भुत क्षमता रखती है। अपनी रागात्मक प्रवृत्तियों के नुरूप मानव को प्रकृति स्पन्दनशील और संवेदनशील प्रतीत हुई। कविता का विषय ागात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होने के कारण कवि का प्रकृति की ओर सहज ही ाकर्षित होना स्वाभाविक था। अत: जाने-अनजाने किसी भी कवि की कविता में प्रकृति ा समावेश हो ही जाता है। प्रकृति सदा कवि के अन्तर्जगत को आलम्बन या उद्दीपन रूप प्रभावित करती रही है।

मीरा प्रकृति के प्रति यद्यपि उदासीन रही हैं और उनकी रचना में प्रकृति न तो ालम्बन के रूप में दिखाई देती है और न ही उद्दीपन के रूप में। फिर भी प्रकृति के साथ नुष्य का इतना लगाव है कि वह उसे अपने से सर्वथा दूर नहीं रख सकता। इसी सहज गाव के कारण मीरा के पदों में कहीं-कहीं प्रकृति का भी चित्रण अच्छा हो गया है। द्दीपन के रूप में प्रकृति का वर्णन यदा-कदा मीरा के पदों में मिल ही जाता है : पपीहा ा-पी' करता फिरता है। विरहिणी वैसे ही प्रिय की निर्ममता के कारण दु:खी हैं। ःसी प्रकार अपने दु:ख को भूल जाने का प्रयत्न कर रही हैं। 'पी-पी' की ध्वनि सुनकर ा वह चिढ़ जायगी। अत: मीरा उसे समझाती है—

पपइया रे पिय की वाणी न बोल।
सुणि पावेगी विरहणी रे थारो रालैली पंख मरोड़॥

काली घटा को देखकर विरहिणी डरती हैं—

काली पीली घटा उमड़ी बरस्यो एक घरी।
जित जाऊं तित पाणी पाणी हुई हुई मोय हरी।

प्रेम-साधना को प्रकट करती हैं—

अंसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आनन्द फल होई॥

इनके प्रकृति-वर्णन में व्यापकता नहीं; विविधता भी नहीं पर नैसर्गिक भावोद्रेक का ावण्य अवश्य है जो किसी भी प्रकार के कला-कौशल के अभाव में भी श्रोता को पलभर लिए आत्मविभोर कर ही देता है।

६. केशवदास

जीवन-परिचय

अन्तस्साक्ष्य, बहिस्साक्ष्य एवं किंवदन्तियों के आधार पर केशवदास के जीवन के सम्बन्ध में विवेचन करने के उपरान्त इतिहास-लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उनका जन्म सनाढय कुल में हुआ था। इनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र राजा रुद्रप्रताप के कृपा-भाजन थे और इनके पिता काशीनाथ को राजा मधुकर शाह से सम्मान प्राप्त हुआ था। केशवदास को महाराजा इन्द्रजीत सिंह अपना गुरू मानते थे एतदर्थ २१ गावों की जागीर उन्हें दक्षिणा रूप में प्राप्त हुई थी। 'रसिक प्रिया' नामक ग्रन्थ से यह भी प्रकट होता है कि केशवदास पर बुन्देलखंड के ओरछा महाराज की भी बड़ी अनुकम्पा थी और वे प्राय: बेतवा नदी के तट पर स्थित ओरछा नगर में निवास करते थे।

केशवदास के जन्म-काल के सम्बन्ध में विविध विद्वानों ने अपना-अपना मत प्रकट किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु एवं रामनरेश त्रिपाठी के मतानुसार केशवदास का जन्म सं० १६१२ वि० के समीप माना जाता है। किन्तु लाला भगवानदीन सं० १६१८ वि०एवं शिवसिंह सैंगर सं० १६२४ वि० मानते हैं। विचार करने से जन्म-काल सं० १६१२ वि० अधिक समीचीन प्रतीत होता है। प्रमाण यह है कि महाराज इन्द्रसिंह का जन्म सं० १६२० निश्चित रूप से माना जाता है और रसिक प्रिया की रचना सं० १६४८ वि० में हुई थी। उस समय इन्द्रसिंह की अवस्था २८ वर्ष की थी। अत: इनका जन्म १६१२ वि० के सन्निकट हुआ होगा तभी वे महाराज इन्द्रसिंह के गुरू के रूप में विराजमान हुए होंगे। अधिकांश विद्वानों ने केशवदास का मृत्यु काल सं० १६७४ वि० माना है।

'रसिकप्रिया' के निम्न उद्धरण के आधार पर उनके परिचय की समीक्षा की जाती है :—

नदी बेतवै तीर जहं तीरथ तुंगारन्न।
नगर ओड़छो बहु बसै, धरणीतल में धन्न।
दिनप्रति जहं दूनों लहैं, जहां दया अरु दान।
एक तहां केशव सुकवि, जानत सकल जहान।।

इसी प्रकार कवि प्रिया में उनके जीवन का परिचय मिलता है—

तिनको वृत्ति पुराण की दीनी राजा रुद्र।
तिनके काशीनाथ सुत सोभे बुद्धि समुद्र।।

जिनको मधुकर साह नृप बहुत कर्‌यो सनमान।
तिनके सुत बलभद्र शुभ प्रकटे बुद्धि निधान॥
बालहि ते मधु साह नृप, जिन पे सुनें पुरान।
तिनके सोदर द्वै भये केशवदास कल्यान॥

केशव तथा बिहारी का सम्बन्ध

सं० १९५२ में सर्वप्रथम राधाकृष्ण दास जी ने एक लेख के द्वारा केशव और बिहारी में पिता पुत्र का सम्बन्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उन्होंने जिन चार प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य की ओर साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित किया था संक्षेप में उनका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. दोनों कवि समकालीन माने जाते हैं।

२. **जन्म ग्वालियर जानिये, खंड बुंदेले बाल।**
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥

३. बिहारी के दोहों में बुन्देल खण्डी भाषा का प्रचुर प्रयोग मिलता है।

४. बिहारी का केशवराय की प्रशंसा में एक दोहा मिलता है।

विद्वानों में केशव तथा बिहारी के पिता-पुत्र में मतभेद है। जगन्नाथदास रत्नाकर यह सम्बन्ध स्वीकार करते हैं किन्तु डा० श्यामसुन्दर दास, मायाशंकर याज्ञिक, गणेश प्रसाद द्विवेदी इस मत से सहमत नहीं।

'रत्नाकर' जी ने बिहारी के जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक दोहा अपने मत को प्रमाणित करने के लिये इस प्रकार लिखा है—

मम पितुमह बसुदेव जू पिता जु केशव देव।
बसत मधु पुरी मधु पुरी केशव देव सुदेव।
नाम छः घरा गाइयतु चौबे माथुर देव॥
वेद जु पढ़ियतु सीखियतु ऋग पुनि परम पुनीत।
नाम बिहारी जानियतु मम सुत कृष्णा जान।

* * *

संवत जुग शर रस सहित भूमि रीति गिन लीन्ह।
कातिक सुदि बुधि अष्टमो जन्म हमहि बिधि दीन्ह॥

इस उद्धरणों से बिहारी का जन्म सं० १६५२ वि० कार्त्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार सिद्ध होता है। किन्तु गणित के अनुसार सं० १६५२ वि० की कार्तिक शुक्ला अष्टमी गुरू वार को थी। इस प्रकार विद्वानों ने 'रत्नाकर' की स्थापना का खंडन करके इन दोनों के पिता-पुत्र के सम्बन्ध को अस्वीकार किया है।

केशव का अध्ययन

कवि कार्य की सम्पन्नता कवि के विस्तृत अध्ययन पर निर्भर रहती है। महाकवि

क्षेमेन्द्र ने, कविकुलकंठाभरण में कवि को तर्क, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीति, महाभारत, रामायण, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्न-परीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजतुरंग-परीक्षा, इन्द्रजाल आदि विषयों का ज्ञान आवश्यक बताया है।

डा० हीरालाल दीक्षित ने अपने थीसिस में यह सिद्ध किया है कि केशवदास का ज्ञान और अनुभव भी बहुत विस्तृत था। सांसारिक ज्ञान का कदाचित् ही कोई विषय हो जहाँ केशव की थोड़ी-बहुत पहुंच न हो।......अलंकार एवं काव्य-शास्त्र के आप आचार्य थे। इसके अतिरिक्त भूगोल, ज्योतिष, वैद्यक, वनस्पति विज्ञान, संगीत-शास्त्र, राजनीति, समाज नीति, धर्मनीति, वेदान्त आदि विषयों का भी केशव को पर्याप्त ज्ञान था।

केशवदास जिस इन्द्रजीत सिंह के राजदरबार के आचार्य थे उसमें संगीत एवं नृत्य-कला में पारंगत नव-गायिकाएँ अथवा गणिकाएँ विराजमान थीं। ऐसे रसिक कलाकारों की संगति में रहकर कवि केशवदास को संगीत एवं नृत्यकला का सामान्य ज्ञान तो स्वतः हो गया होगा। अल्प प्रयास से तो वे इन कलाओं के पारखी बन गये होंगे। उन्होंने अपने इस ज्ञान का उपयोग अपनी रचनाओं में स्थान-स्थान पर किया है। रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में वे संगीत-शास्त्र की स्वर, नाद, ताल आदि विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

स्वर नाद ग्राम नृत्यत सताल। सुख बरन विविध आलाप कालि।
बहु कला जानि मूर्च्छना मानि। बड़ भाग गमक गुण चलत जानि ॥

संगीत शास्त्र में ऋषभ-गान्धार आदि सप्त स्वरों का बड़ा माहात्य है। स्वरों के उच्चारण प्रकार को 'नाद' कहते हैं। संगीत में समय की माप का नाम 'ताल' है, गाने के ढंग विशेष को 'आलाप' कहते हैं और ताल में मात्रा की गणना का हिसाब 'कला' कहलाता है। ताल-ज्ञान के ढंग विशेष को जाति कहते हैं। एक स्वर के अन्त और दूसरे के आरम्भ की सन्धि को 'मूर्च्छना' की संज्ञा दी जाती है। गति-प्रबन्ध को 'भाग' और संगीत में स्थान विशेष पर स्वर-कम्पन को 'गमक' कहते है।

इसी प्रकार मुखचालि, शब्दचालि, उड्डुपानि, तिर्यंग पति, पति, अडाल, लाग, घाउ, रायरंगाल, उलथा, टेंकी, आलम, दिंड, पदपलटी, हुरमयी, निःशंक तथा चिंड नामक नृत्य के बहु भेदों का भी उल्लेख केशव ने रामचन्द्रिका के उत्तरार्द्ध में काव्य शैली में किया है। केशवदास जी ने प्राचीन अस्त्र-शस्त्रों का भी उल्लेख किया है। 'रामचन्द्रिका' के एक छंद से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है—

सूरज मूसल नील पट्टिश, परिघ नल,
जामवंत असि, हनु तोमर संहारे हैं।
परसा सुखेन, कुन्त केशरी, गवयशूल,
विभीषण गदा, गज भिंदपाल टारे हैं।
मोगरा द्विविद, तार कटरा, कुमुद नेजा,
अंगद शिला, गवाक्ष विटप विदारे हैं।

अंकुश शरभ, चक्र दधि मुख, शेष शक्ति,
वाण तीन रावण श्री रामचन्द्र मारे हैं।

रचनाएं

केशवदास विरचित नौ ग्रन्थों की सूची रचना-क्रम के अनुसार इस प्रकार है—रतनबावनी, रसिक प्रिया, कविप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंह देव चरित, विज्ञान गीता, जहांगीर जस चन्द्रिका, नखसिख और रामालंकृत मंजरी। इनमें प्रमुख रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

रतनबावनी : इसमें इन्द्रजीत सिंह के ज्येष्ठ भ्राता रतनसिंह के शौर्य वर्णन के लिए बावन छन्द रचे गए हैं। केशवदास जी की यह सर्वप्रथम रचना है। आगे चलकर इसी बावनी की शैली पर भूषण ने शिवा बावनी की रचना की।

रसिक प्रिया : इस ग्रंथ में संस्कृत शैली पर रस-विवेचन का प्रयास किया गया है। केशवदास ने सब रसों में शृंगार को श्रेष्ठ सिद्ध किया है और इसी रस में शेष रसों का समावेश कर दिया है।

रस के अतिरिक्त वृत्ति एवं काव्य-दोषों का भी इसमें वर्णन मिलता है।

इस ग्रंथ को सोलह प्रकाशों में इस प्रकार विभाजित किया गया है—

प्रथम प्रकाश में मंगलाचरण, ग्रंथ रचना काल आदि के उपरान्त संयोग एवं विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन। दूसरे में नायक भेद, तीसरे में नायिका भेद, चौथे में चार प्रकार के दर्शन, पांचवें में नायक-नायिका की चेष्टाओं का, छठे में भाव, विभाव, अनुभाव आदि भावों एवं हावों का, सातवें में काल और गुण के अनुसार विविध नायिकाओं का वर्णन पाया जाता है। आठवें प्रकाश में विप्रलंभ शृंगार, नवें में मान प्रकार, दसवें में मान-मोचन के उपाय, ग्यारहवें में वियोग शृंगार के भेद, बारहवें में शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का वर्णन, पन्द्रहवें में वृत्तियों का एवं सोलहवें में काव्य-दोषों का वर्णन पाया जाता है।

कवि प्रिया : इसमें भी १६ प्रभाव इस प्रकार पाये जाते हैं—

प्रथम प्रभाव में नृप-वंश-वर्णन, द्वितीय में कविवंश परिचय, तीसरे में काव्य-दोष, चौथे में कवि-भेद एवं कवि-रीति, पांचवें में वर्णालंकार, छठे में विविध वस्तु वर्णन, सातवें में भूमि-श्री वर्णन, आठवें में राज्य-श्री वर्णन, नवें से पन्द्रहवें तक काव्यालंकार, सोलहवें में चित्रालंकार का विवेचन है।

रामचन्द्रिका : इस ग्रंथ की समाप्ति सं० १६५८ वि० कार्तिक सुदी बुधवार को हुई। इसमें राम-कथा की रूप-रेखा प्रायः वाल्मीकि एवं तुलसीकृत रामायण के आधार पर निर्मित है। किन्तु विस्तार में बड़ा अन्तर पाया जाता है। इस ग्रंथ में सर्वत्र केशवदास के पांडित्य प्रदर्शन का आभास मिलता है। इस ग्रंथ में जितने विविध छन्दों का प्रयोग केशवदास ने किया है उतने छंद कदाचित् हिन्दी साहित्य के एक ग्रंथ में कहीं न मिलें।

रामचन्द्रिका प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से केशव की सर्वोत्कृष्ट रचना मानी जाती है।

इस काव्य को सम्भवतः केशव ने संस्कृत महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखकर लिखा हो, क्योंकि महाकाव्य के प्रायः सभी प्रमुख लक्षण इसमें विद्यमान हैं। इसके नायक राम धीरोदात्त, सद्वंश क्षत्रियकुल में उत्पन्न है। इसका अंगी रस वीर है और शृंगार-शान्त आदि रसों का सामंजस्य हुआ है। इसके आदि में मंगलाचरण, मध्य में खलनिन्दा, सज्जनस्तुति, सन्ध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रजनी, प्रभात, मध्यान्ह, पर्वत, बन, सागर एवं ऋतुओं का वर्णन पाया जाता है। इसमें ३९ प्रकाश हैं जिनमें भिन्न-भिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है।

इस महाकाव्य का सबसे बड़ा दोष इसका प्रबन्ध-शैथिल्य है। चिर प्रचलित राम-कथा का संक्षिप्तीकरण एवं विशदीकरण केशव ने ऐसे मनमाने ढंग से किया है कि प्रबन्धात्मकता में सौष्ठव नहीं आ पाया है। केशव ने राम-कथा के मार्मिक स्थलों को नहीं पहचाना है। वे अलंकारों के चमत्कार, संवादों की हाजिर-जवाबी के मोह में फंस कर कथा-प्रवाह एवं चरित्र चित्रण की महत्ता भल जाते हैं। कथा-प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए विषय की बोधगम्यता आवश्यक है, किन्तु केशवदास जी ने श्लेष के मोह में अनेक स्थलों को दुरूह बना दिया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबन्ध काव्यों के मार्मिक स्थलों को ग्रहण करने के लिये जो रागात्मिका वृत्ति अपेक्षित थी केशव में उसका अभाव था। उन्होंने रामचन्द्रिका में दशरथ-मरण, रामवनगमन, चित्रकूट में राम-भरत मिलाप, शबरी के आतिथ्य, सीत-हरण, लक्ष्मण शक्ति आदि अवसरों पर वर्णन में हृदय की वह तल्लीनता नहीं अभिव्यक्त की है जो हमें तुलसी में परिलक्षित होती है। इसीलिए कितने ही आलोचक उन्हें हृदय-हीन की उपाधि देते हैं। आचार्य शुक्ल रामचन्द्रिका की आलोचना करते हुए लिखते हैं, "रामचन्द्रिका अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव केवल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे। जीवन के गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। प्रबन्ध-पटुता उनमें कुछ भी न थी। प्रबन्ध-काव्य के लिये तीन बातें अनिवार्य हैं—१. सम्बन्ध निर्वाह, २. कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों की पहचान और ३. दृश्यों की स्थानगत विशेषता। सम्बन्ध निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी राम-चन्द्रिका, अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह-सी जान पड़ती है। कथा का चलता प्रवाह न रख सकने के कारण ही उन्हें बोलने वाले पात्रों के नाम नाटकों के अनुकरण पर पद्यों से अलग सूचित करने पड़े हैं।" शुक्ल जी ने केशव में मार्मिक स्थलों की सूझ के सम्बन्ध में लिखा है, "उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल हैं उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया। वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यों ही इतिवृत्तमात्र कहकर चलता कर दिया है।"

रामचन्द्रिका में एक स्थल ऐसा मिलता है जिसे पढ़कर मन में आनन्द के स्थान पर वितृष्णा उत्पन्न होती है। वन-गमन के समय राम अपनी माता से विदा लेते समय उसे उपदेश देने लगते हैं। वह उपदेश इस मात्रा तक बढ़ जाता है कि वैधव्य धर्म की व्याख्या करते

हुए राम कहने लगते हैं—

नारी तजै न आपनो, सपनेहूं भरतार।
पंगु पंगु बौरा बधिर, अन्ध अनाथ अपार ॥
अन्ध अनाथ अपार, वृद्धबावन अति रोगी।
बालक बंड कुरूप, सदा कुवचन जड़ जोगी ॥
कलही कोढ़ी भीत, चोर ज्वारी व्यभिचारी।
अधम अभागी कुटिल, कुमति पति तजै न नारी ॥

संवाद योजना

इसके विपरीत कुछ आलोचकों का मत है कि केशव ने यत्र-तत्र भले ही भूल की हो किन्तु सब मिलाकर प्रबन्ध काव्य में संवाद योजना की जो छटा केशव में विराजमान है वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्य शुक्ल जी भी यह स्वीकार करते हैं कि, "रामचन्द्रिका में केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में। इन संवादों में पात्रों के अनुकूल 'क्रोध उत्साह आदि की व्यंजना भी सुन्दर है तथा वाक् पटुता और राजनीति के दांव-पेच का आभास भी प्रभाव पूर्ण है। उनका रावण-अंगद-संवाद तुलसी के संवाद से कहीं अधिक उपयुक्त और सुन्दर है।"

केशवदास में व्यंग्य शक्ति, प्रत्युत्पन्न मति एवं व्यवहार-कौशल का प्राचुर्य था। इन गुणों के कारण सूर्पणखा और राम, रावण और सीता, सीता और हनुमान, राम और परशुराम, रावण और अंगद की संवाद योजना अत्यन्त स्पृहणीय बन गई है। इन संवादों से पद-पद पर केशव की हाजिर जवाबी एवं उनके उक्ति-वैचित्र्य का परिचय प्राप्त होता है। उदाहारण के लिए अंगद रावण का संवाद देखिए—

राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यो कहा ?
बालि बली छल सों, भृगुनन्दन गर्व हरयो द्विज दीन महा।
दीन सु क्यों छिति छत्र हत्यो बिन प्राणन हैहयराज कियो।
हैहय कौन ? वहै बिसरयो जिन खेलत ही तोहिं बांध लियो ॥

रावण राजनीति के अनेक हथकंडे दिखाने का प्रयास करते हुए अंगद को अपने पक्ष में लाने का अभिलाषी है। वह अंगद को राम के विरुद्ध उत्तेजित करने की अभिलाषा से कहता है।

जो सुत अपने बाप को बैर न लेइ प्रकास।
तासों जीवत ही मरयो लोग कहैं तजि आस ॥

इस संवाद में रावण की राजनीति-पटुता, अंगद की रामभक्ति एवं दोनों के उक्ति वैचित्र्य का आभास मिलता है।

रामचन्द्रिका में रामाश्वमेध का वर्णन बड़ा ही प्रभावोत्पादक है। जानकी की अनुपस्थिति में राम एक अश्वमेध यज्ञ का विधान रचते हैं। सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा

निर्मित की जाती है। पूजनोपचार के उपरान्त चतुरंग सेना दिग्विजय के निमित्त प्रस्थान करती है। यज्ञ का तुरंग वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचता है और लव अश्व का भाल पट्ट देख कर उसे बांध देते हैं। शत्रुघ्न और लव का युद्ध होता है। बालक लव का शौर्य सूचक पद इस प्रकार मिलता है—

कछु बात बड़ी न कहौ मुख थोरे।
लव सौं न जुरौ लवणासुर भोरे।
द्विज दोषन ही बल ताको संहारचो।
मरि ही जु रह्यो सो कहा तुम मारचो॥

लक्ष्मण के बाणों से लव घायल होता है और शत्रुघ्न से घोर युद्ध करने लगता है। लव के आहत होने का समाचार पाकर कुश भी आ जाते हैं और दोनों दलों में घोर युद्ध होने लगता है।

इस प्रसंग में लव-कुश की वीरता का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। उन वीरों ने शत्रुघ्न के साथ राम की समग्र सेना को विकम्पित कर दिया। यह संवाद पाकर राम विस्मय-विभोर हो उठे। केशव ने इस स्थल पर राम के मनोभावों का सूक्ष्म वर्णन किया है। वे लक्ष्मण को ऐसे मुनि बालकों को देखने के लिए भेजते हैं। लक्ष्मण का हाथ मुनि कुमारों पर उठता ही नहीं और सेना का संहार होता चला जा रहा है। भरत की दशा भी लक्ष्मण के समान है। अब राम का पदार्पण होता है और वे मुनि-कुमारों का परिचय प्राप्त कर युद्ध बन्द कर देते हैं। इस युद्ध के उपरान्त वाल्मीकि मुनि के कृपा-प्रसाद से सीता राम का पुर्नमिलन होता है।

केशव की प्रबन्ध पटुता का आभास देने वाला यह प्रसंग वास्तव में बड़ा ही मनोहारी बन गया है। इसमें न तो अलंकारों के चमत्कार की लालसा है न उक्ति वैचित्र्य के मोह में मनोविज्ञान की हत्या ही। केशव ने अपने प्रबन्ध काव्यों के अन्तर्गत संवाद योजना को प्रमुख स्थान दिया है। 'वीरसिंह देव-चरित' के प्रारम्भ में ही दान और लोभ का विवाद छिड़ जाता है और 'जहांगीर जस चन्द्रिका' में भाग्य और उद्यम का। इन संवादों में एक दूसरे की उक्तियों के खंडन के लिए उपयुक्त तर्कों की योजना कौशलपूर्ण रीति से की गई है।

विज्ञान गीता : इस काव्य के २१ अध्यायों में से १२ में विवेक एवं महामोह के युद्ध का वर्णन है। मानव के हृद्प्रदेश में निरन्तर होने वाले युद्धों का वर्णन 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' की शैली पर किया है। शेष ९ अध्यायों में श्रीमद्भगवद् गीता एवं योग-वाशिष्ठ के आधार पर ज्ञान का स्वरूप दिखाया गया है। इस काव्य में कवि अपने वैराग्य-मूलक ज्ञान एवं अपनी विरक्त प्रवृत्ति का परिचय देता है।

जहांगीर-जस-चन्द्रिका : यह केशवदास की सम्भवतः अन्तिम कृति है जिसकी रचना सं० १६६९ वि० है। केशवदास के आश्रयदाता वीरसिंह देव पर जहांगीर की बड़ी कृपा रहती थी। ये दोनों घनिष्ठ मित्र थे। अतः केशवदास ने जहांगीर की प्रशंसा में यह काव्य रच डाला। इस काव्य में जहांगीर की प्रशंसा में अल्प परिवर्तन के साथ एक कवित्त

ऐसा है जिसको केशवदास ने रामचन्द्रिका में राजा दशरथ के लिए लिखा था। 'जहांगी जस चन्द्रिका' का ११०वां कवित्त इस प्रकार है—

विधि के समान है विमान कृत राजहंस,
बिबिध विबुध युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातौं दीप दीपयत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है।
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छनदान प्रिय किधौं सूरज अमल है।
सब बिधि रणधीर सोहै साहि जहांगीर,
जाको जस निर्मल गंगा को सो जल है।।

ऐसा प्रतीत होता है कि केशव की दृष्टि में जो भी शासक है वह आदर्श है। अन्यथ राजा दशरथ और जहांगीर शाह के चरित्र की समानता दिखाने का प्रयोजन ही क्या पं० चन्द्रबली पांडे का मत है कि "उनका ध्यान जैसा कर्म पर रहता है वैसा मर्म प नहीं।...वे किसी अवसर पर कुछ रचते थे तो देश, काल और व्यक्ति पर उतना ध्या नहीं रखते थे, जितना सामान्य अथवा जाति पर। केशव की इसी प्रवृत्ति के कारण उनक रचना में व्यक्तियों का उचित विकास नहीं हो पाया और पात्रों का शील भी नहीं निख सका।"

केशव का आचार्यत्व

केशव ने कविप्रिया और रसिकप्रिया के द्वारा काव्य-शास्त्र के सूक्ष्म विवेचन क प्रयास किया है। उन्होंने काव्य के सभी अंगों पर प्रकाश डाला है और रस एवं अलंका की सूक्ष्म व्याख्या की है। केशव ने हिन्दी अलंकारों को सामान्य एवं विशिष्ट दो वर्गों मे विभाजित किया है। सामान्य अलंकारों के वे ४ भेद करते हैं—वर्णालंकार, वरार्यालंकार, भूमिश्री वर्णन तथा राजश्री वर्णन। विशिष्ट अलंकारों के अन्तर्गत शब्दालंकार एवं अर्था-लंकार आ जाते हैं। सामान्य अलंकारों के विवेचन में केशव ने 'अलंकार शेखर' तथा 'काव्य कल्पलता वृत्ति' का आश्रय लिया है। विशिष्ट-अलंकारों का वर्णन मूलतः 'काव्या-दर्श' के आधार पर है। एवं अलंकारों के विवेचन में केशव ने कई नवीन अलंकारों का उल्लेख किया है। प्रेम,सुसिद्ध, प्रसिद्ध, गणना, प्रहेलिका एवं आशिष अलंकार हिन्दी साहित्य में नवीन प्रतीत होते हैं। कई अलंकार तो ऐसे हैं जिनका संस्कृत ग्रन्थों में नामोल्लेख भी नहीं मिलता।

रस-विवेचन

केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-विवेचन के लिए संस्कृत के किस ग्रन्थ को मुख्य रूप से स्वीकार किया, यह निर्णय करना बड़ा कठिन है। किन्तु विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'केशव की काव्यकला' नामक ग्रन्थ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'रसिक प्रिया' के

आधारभूत ग्रंथ, रसमंजरी, नाटचशास्त्र, कामसूत्र आदि हैं। डा० हीरालाल दीक्षित का मत है कि 'रसिकप्रिया' के आधार ग्रंथ 'नाटचशास्त्र', 'सरस्वती-कुल-कंठाभरण', 'शृंगार-प्रकाश', 'रसार्णव सुधाकर' तथा 'साहित्य-दर्पण' हैं।

रस-विवेचन एवं नायिका-वर्णन में केशव ने संस्कृत आचार्यों की सहायता के साथ-साथ मौलिकता का भी उपयोग किया। प्रमाण यह है कि केशव लक्षण लिखते समय संस्कृत आचार्यों के मत का अनुवाद नहीं करते अपने अनुभव का ही उपयोग करते हैं। 'शठ नायक' मध्या धीराधीरा नायिका, प्रौढ़ा अधीरा नायिका, भाव, हेला, हाव, वियोग शृंगार तथा उत्तमा, मध्यमा एवं अधमा आदि नायिकाओं के केशव के लक्षण उपर्युक्त संस्कृत के किसी आचार्य के लक्षणों से नहीं मिलते। ये लक्षण केशव के अपने हैं। केशव ने नायिकाओं की संख्या में भी वृद्धि की है।

आचार्य शुक्ल ने केशव के काव्यशास्त्र सम्बन्धी विवेचन की समीक्षा के उपरान्त उनका स्थान निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'केशव की रचना में सूर, तुलसी आदि की-सी सरसता और तन्मयता चाहे न हो पर काव्यांगों का विस्तृत परिचय करा कर उन्होंने आगे के लिए मार्ग खोला।'

रस-विवेचन करते हुए केशव शृंगार को ही रसराज स्वीकार करते हैं। वे दूसरे रसों के स्थायी भाव को भी शृंगार के अन्तर्गत संचारी रूप में मानते हैं। रौद्र, वीभत्स आदि रसों को शृंगार के अन्तर्गत सिद्ध करने में वे सफल नहीं हो पाए हैं। शृंगार के उपादान-विभाव, अनुभाव, संचारियों का सूक्ष्म तथा शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है। रस का काव्य से क्या सम्बन्ध है, रस की निष्पत्ति विभावादिकों से कैसे होती है, भावों और रसों का क्या सम्बन्ध है, रसाभास तथा भावाभास क्या है इत्यादि विषयों को केशवदास ने छोड़ ही दिया है।

केशवदास काव्य में रस का महत्व संस्कृत आचार्यों की पद्धति पर मानते थे। रसोद्रेक के उपकरण विभाव, अनुभाव तथा संचारियों के द्वारा रसनिष्पत्ति में उनका भी विश्वास था। पर सम्भवतः उनका मत था कि इन उपकरणों की योजना मात्र से पाठक के मन में रसोद्रेक हो जाता है। भाव के उद्रेक के लिए कवि में कौशल विशेष की आवश्यकता अपेक्षित है। उसकी ओर उनका ध्यान कम था। विभावों की उनकी व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। केशवदास कहते हैं—

जिनतें जगत अनेक रस प्रगट होत अनयास।
तिनसों विमति विभाव कहि, बरनत केसवदास।

इसी सिद्धान्त के आधार पर सम्भवतः उन्होंने विभिन्न रसों का उद्रेक कराने के लिए विभावों की विविध योजनाएं प्रस्तुत कीं। एक स्थान पर हास्यरस का उदाहरण देते हुए केशव लिखते हैं—

आजु सखी हरि तोसों कछु बड़ी बार लों बात कही रसभीनी।
मेलि गरे पटुका पुनि केसव हार हिये मनुहार सी कीनी।

मोहिं अचंभो महा सुहहा कहि चाहि कहा बहु बारन लीनी।
तें सिर हाथ दियो उनके उन गांठि कहा हँसि आंचर दीनी ॥

केशव ने समझा कि काव्य में जहां किसी के हँसने की चर्चा आई वहां पाठक को स्वतः हँसी आने लगेगी। केशव भूल जाते हैं कि किसी रस के वर्णन के समय उसका नाम आ गया तो वहां दोष उपस्थित हो जाता है।

हास्यरस के समय करुण रस का उदाहरण भी देखिए—

मिले जाय जननीन सों जबही श्रीरघुराय
करुना रस अद्‌भुत भयो, मोपै कह्यौ न जाय।

रसोद्रेक के लिए उपयुक्त परिस्थिति-निर्माण समीचीन न हो तो आलंबन, उद्दीपन एवं अनुभावों की उत्तम से उत्तम योजना भी रसोद्रेक में समर्थ नहीं हो सकती।

केशवदास का ध्यान उक्त सिद्धान्त की ओर प्रायः नहीं जाता था। केशवदास रामचन्द्रिका में राम को मनाने के लिए जाते समय भरत और उनके साथियों का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"युद्ध को आज भरत्थ चढ़े, धुनि दुन्दुभि की दसहूं दिसि धाई,"

समझ में नहीं आता कि केशव ने अपनी प्रतिभा का ऐसा दुरुपयोग कैसे किया। लाला भगवानदीन जी के मन में केशव के प्रति ममता थी। किन्तु इन्हीं कारणों से उन्होंने एक स्थान पर लिखा—

ऐसे समय में इस वर्णन में ये उत्प्रेक्षाएं हमें समुचित नहीं जंचती। न जाने केशव ने इन्हें क्यों यहां स्थान दिया है ? इसमें केवल सूखा पांडित्य-प्रदर्शन ही प्रधान है। कैसा समय है और कैसा प्रसंग है, इसका ध्यान कुछ भी नहीं।"

इतना होते हुए भी 'रसिकप्रिया' एवं 'कविप्रिया' के रम्य स्थलों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सच्चे कवियों की दृष्टि केशव को प्राप्त थी। "पर एक ओर तो वे पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि से, जो चमत्कार-विधान ही को काव्य का उद्देश्य समझती थी, लाचार थे, दूसरी ओर उन्हें श्रृंगार के नंगे चित्र अंकित करने में अधिक आनंद मिलता था। इन्हीं कारणों से काव्योचित कल्पना, जिस के लिए बड़े संयम तथा मार्मिकता की आवश्यकता है, उनमें दब-सी जाती थी, परन्तु कविप्रिया इत्यादि ग्रंथों में बहुत कुछ काव्योचित सौन्दर्य है।"

भाषा

केशव ने मूलतः ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। उसमें बुन्देलखंडी, संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव रूप, प्राकृत के प्रयोग एवं फारसी और उर्दू के शब्द भी पाए जाते हैं।

केशव की भाषा अत्यन्त क्लिष्ट मानी जाती है। उसके अनेक कारण थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि 'वे संस्कृत साहित्य से सामग्री लेकर अपने पांडित्य और रचना कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा

अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक संस्कृत काव्यों की उक्तियाँ लेकर भरी हैं। पर उन उक्तियों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में उनकी भाषा बहुत कम समर्थ हुई है।

केशव के काव्यों का अर्थ स्पष्ट न होने से भी उनकी भाषा क्लिष्ट प्रतीत होती है। तथ्य तो यह है कि कहीं-कहीं "पदों और वाक्यों की न्यूनता, अशक्त फालतू शब्दों के प्रयोग और सम्बन्ध के अभाव आदि के कारण भाषा भी अप्राञ्जल और ऊबड़-खाबड़ हो गई है और तात्पर्य भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सका है।"

केशव की रचना में लाक्षणिक प्रयोग कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है। स्थान-स्थान पर सुन्दर मुहावरों एवं लोकोक्तियों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। कतिपय लोकोक्तियाँ तो बड़ी ही मार्मिक एवं नवीन प्रतीत होती हैं। चन्द्रबली पांडे का मत है कि केशव अपनी भाषा को ग्वालियरी भाषा मानते थे। ग्वालियरी और ब्रजभाषा में वास्तव में कोई अन्तर नहीं। केशव दरबारी कवि थे। दरबार की भाषा जनभाषा से किसी अंश में पृथक् होती है। केशव का सम्बन्ध दरबार से था अतः दरबार में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक था। जुवान, बकसीस, अफताली, लायक, वकसाये, आलमतोग, आदि शब्द फारसी, उर्दू भाषा के हैं। इस प्रकार केशव ने संस्कृत के साथ अरबी-फारसी शब्दों को प्रयुक्त कर ब्रजभाषा को समृद्ध बनाने का प्रयास किया है।

आलोचकों का एक दूसरा वर्ग भी है जो केशवदास की भाषा को अति पुष्ट मानकर क्लिष्टता का कारण दूसरा ही बताता है। संक्षिप्त रामचन्द्रिका की भूमिका में प्रो० जगन्नाथ तिवारी लिखते हैं—

"बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा में संस्कृत के मेल से भाव व्यंजना की अत्यन्त अधिक शक्ति आ गई है। भाषा की इसी क्षमता के कारण केशव श्लेष, अनुप्रास, विरोधाभास इत्यादि चमत्कारपूर्ण अलंकारों के प्रयोग में सफल हुए हैं। केशव की भाषा को क्लिष्ट और ऊबड़-खाबड़ कहना उनके प्रति अन्याय करना है। केशव की क्लिष्टता उनकी साहित्यिकता के कारण है। जो लोग साहित्यिक परम्परा से परिचित हैं तथा जिन्हें अलंकार, छन्द, रस, गुण इत्यादि का पूर्ण ज्ञान है उनके लिए केशव में किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं है।"

संक्षेप में कहा जा सकता है केशवदास हिन्दी के प्रथम आचार्य होने के कारण काव्य-शास्त्र सम्बन्धी सूक्ष्म विचारों की अभिव्यक्ति के अनुकूल भाषा के निर्माण में संलग्न थे। उन्हें किसी अंश में सफलता भी प्राप्त हुई। केशवदास के उपरान्त होने वाले आचार्यों की भाषा से तुलना करने पर उनकी भाषा में दोष भले ही दिखाई पड़े किन्तु तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए उनकी भाषा को यदि अनुकरणीय नहीं तो समयानुकूल तो मानना ही पड़ेगा।

७. भूषण

जन्म-परिचय

आचार्य शुक्ल ने अपने हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भूषण का जन्म-काल संवत् १६७० दिया है। सम्भवतः इसी को निर्विवाद मानकर उन्होंने अपने इस मत पर प्रमाण देने की आवश्यकता न समझी। परन्तु आज विद्वान् इस जन्मकाल को प्रमाणों की अविद्यमानता में स्वीकार कर लेने के पक्ष में नहीं हैं। कतिपय इतिहास लेखकों के विचार से यह जन्म संवत् अनुमान के बल पर ही आश्रित है। भूषण को शिवाजी का दरबारी कवि सिद्ध करने के लिए इस संवत् का आविष्कार हुआ।

श्री भागीरथप्रसाद दीक्षित ने अपनी पुस्तक 'महाकवि भूषण' में स्पष्ट कहा है कि 'भूषण छत्रपति शिवाजी के दरबार में कदापि नहीं थे। उनका जन्म ही शिवाजी की मृत्यु के एक वर्ष पीछे हुआ था। अतः उक्त किंवदन्ती नितान्त अनर्गल और मिथ्या है, जिसने भूपण कवि की महत्ता को ही लुप्त कर दिया है। इनके अनुसार भूषण का जन्म-काल सं० १७३८ है। 'शिवसिंह सरोज' के रचयिता ने भी इनका जन्म संवत् १७३८ वि० माना है। दीक्षित जी के अनुसार भूषण ने स्वयं भी अपने जन्म के विषय में एक स्थल पर संकेत देते हुए कहा है—

सन सत्रह सेंतीस पर, शुचि वदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सूनो सुज्ञान॥

(शिवराज भूषण, छन्द ३८०)

अर्थात् १७३७ के बाद १७३८ वि० में आषाढ़ बदी १३ रविवार के दिन देवाधिदेव शिवजी ने भूषण को जन्म दिया। यह तथ्य इस छन्द में श्लेष के द्वारा प्रकट किया गया है। इस संवत् के अनुसार भूषण शिवाजी के दरबार में न रहकर उनके पुत्र शम्भा जी के दरबार में रहे होंगे।

आवश्यक तथ्यों के अभाव में यह कह सकना कि भूषण का वास्तविक समय कौन-सा था—अत्यन्त कठिन है। भूषण ने अपने आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है, इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक तथ्य भी उनके समय की रचनाओं में भरे पड़े हैं—इन्हीं के आधार पर उनके समय की खोज की जा सकती है। परन्तु यहां हमारा उद्देश्य ऐतिहासिक चर्चा न होकर साहित्यिक चर्चा करना है। यहां हम इतना अवश्य कहेंगे कि जितनी आसानी से दीक्षित जी ने आचार्य शुक्ल के मत को उड़ाने की चेष्टा की है—उतनी आसानी से वह

उड़ाया नहीं जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि भूषण कवि शम्भा जी के ही दरबार में रहे और उनके पिता के यश का ही गुणगान किया—तो फिर भी यह शंका उठती है कि शम्भा जी ने भी जो अनेकों शौर्य पूर्ण कार्य किए थे उनका उल्लेख क्यों नहीं मिलता? यदि भूषण शम्भा जी के दरबारी कवि थे और उनके साथ ही रहे थे तो जहां उन्होंने अन्य आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में कवित्त रचे वहां क्या एक-दो कवित्त भी उनके विषय में न कहते। ऐसा उन्होंने क्यों नहीं किया? अधिकांश विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भूषण का जन्म बनपुर में हुआ किन्तु आगे चलकर उन्होंने तिकमापुर को निवासस्थान बना लिया था।

द्विज कन्नौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि-तनूजा तीर॥

इस दोहे से स्पष्ट है कि भूषण कान्यकुब्ज ब्राह्मण कश्यप गोत्र के तिवारी थे। इनके पिता का नाम रत्नाकर था—जो अत्यन्त सात्विकी वृत्ति के व्यक्ति थे—तथा शिव-भक्ति में मग्न रहते थे। आचार्य शुक्ल ने चिन्तामणि और मतिराम को भूषण का भाई कहा है, परन्तु दीक्षित जी के अनुसार चिन्तामणि तो भूषण के सगे भाई थे पर मतिराम रिश्ते में भाई लगते थे। कारण यह है कि दोनों का गोत्र भिन्न है। मतिराम वत्सगोत्री विश्वनाथ के पुत्र थे[1] और भूषण कश्यपगोत्री रत्नाकर के आत्मज बतलाये गये हैं।

भूषण की उपाधि

'भूषण' कवि का वास्तविक नाम नहीं, उपाधिमात्र है। इनका वास्तविक नाम विद्वान् मनिराम बतलाते हैं।[2] भूषण संस्कृत के अच्छे जानकार थे। इन्होंने वेद, कोश, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, अलंकार, एवं पिंगल-शास्त्र का गंभीर अध्ययन किया था। अध्ययन के उपरान्त यह भी अपने बड़े भाई चिन्तामणि की भाँति ब्रजभाषा में कविता करने लगे, परन्तु इनकी मनोवृत्ति अपने ज्येष्ठ भ्राता से भिन्न थी। चिन्तामणि का झुकाव जहां शृंगार-रस और मिथ्या चापलूसी की ओर था, वहां भूषण वीरता और सच्ची प्रशंसा पर अधिक बल देते थे। मिथ्या प्रशंसा के कारण चिन्तामणि क्रमशः उत्कर्ष करते हुए औरंगजेब के दरबार में जा पहुंचे और भूषण अपने आश्रयदाता की खोज में इधर-उधर घूमते रहे। कहते हैं कि एक बार अपने भाई के साथ यह भी औरंगजेब के दरबार में गए और वहां इन्होंने अपनी वीरतापूर्ण कविता सुनाई—परन्तु यह हिन्दू-धर्म के नाशक बादशाह से सन्तुष्ट नहीं थे। अतः वह प्रलोभनों को छोड़कर वहां से लौट आये।

भूषण राष्ट्र-उद्धार करने वाले राजा का ही गुणगान करना चाहते थे। धन की उन्हें कमी नहीं थी, अतः उन्होंने अपने चरितनायकी को ढूंढने के लिए कई राज्यों का चक्कर

---

१. महाकवि भूषण—दीक्षित पृ० १६
२. महाकवि भूषण—दीक्षित पृ० १४

लगाया—और सभी जगह उन्हें धन तथा मान की प्राप्ति हुई। परन्तु उनका मन छत्रसाल और शिवाजी के दरबार में ही प्रसन्न हुआ। अपने भ्रमण का उल्लेख उन्होंने निम्नलिखित कवित्त में किया है—

मोरंग जाहु कि जाहु कुमांऊं
सिरीनगरे कि कवित्त बनाये।
बान्धव जाहु कि जाहु अमेरि कि
जोधपुरं कि चितौरहि धाये॥
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै कि
दिलीसहु पै किन जाहु बुलाये।
भूषण गाय फिरौ महि में,
बनिहै चित चाहि सिवाहि रिझाये॥[1]

(शि० भू० पृ० २५०)

इससे अनुमान लगाया जाता है कि भूषण कवि मोरंग, कुमाऊं, श्रीनगर, रीवां, जयपुर, जोधपुर, चित्तौड़, कुतुबशाह और आदिलशाह के वंशजों के दरबार में जा चुके थे तथा दिल्ली के बादशाह से इन्हें बुलाने का निमन्त्रण भी मिल चुका था। इनके अतिरिक्त प्रारंभ में ही चित्रकूट पति (हृदयराम सुरकी) द्वारा हमारे चरितनायक मनिराम का 'कवि भूषण' की उपाधि प्राप्त हो चुकी थी। परन्तु अन्त में इन्होंने छत्रसाल और शिवाजी के दरबार का ही आश्रय लिया।

रीतिकाल में शृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रय-दाताओं की स्तुति रूप में उनके तेज, प्रताप आदि के प्रसंग में उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुष्क प्रथा-पालनमात्र होने के कारण अधिक ध्यान देने योग्य नहीं है। जहां यह शंका उठ सकती है कि 'भूषण' ने भी तो छत्रसाल-दशक लिखकर छत्रसाल की प्रशंसा और शिवाबावनी लिखकर शिवाजी की प्रशंसा की। अतः यदि अन्य राजाओं की स्तुति से सहानुभूति जागृत नहीं होती तो इन्हें पढ़कर वह क्यों जागृत होगी ? आचार्य शुक्ल ने इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था 'भूषण ने जिन दो नायकों की कृतियों को अपने वीर काव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिन्दू-धर्म के संरक्षक, दो इतिहासप्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिन्दू जनता के हृदय में उस समय भी थी और आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीर रस के उद्‌गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति बने हुए हैं।

---

१. यहां यह बात ध्यान देने की है कि उक्त छंद में शिवा जी को रिझाने की बात कही गई है—परन्तु रिझाया उसी को जाता है जो उपस्थित हो। यदि शिवा जी पहले ही मर चुके थे तो भूषण को शम्भा जी को रिझाना था— न कि शिवा जी को।

रचनाएं

भूषण रचित 'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल-दशक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त इनके रचे तीन ग्रंथ और कहे जाते हैं—'भूषण उल्सास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हजारा'।

'शिवराज भूषण' एक अलंकार ग्रंथ है। रीतिकालीन कवि होने के कारण भूषण ने भी इसको महत्ता दी है। परन्तु उसकी महत्ता का एकमात्र यही कारण नहीं है, क्योंकि रीति ग्रंथ की दृष्टि से अथवा अलंकार-निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। इसमें लक्षणों की भाषा यत्र-तत्र स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर उपयुक्त नहीं हैं। इन्होंने 'भ्रम' 'संदेह' और 'स्मरण' अलंकारों के लक्षणों में सादृश्य की बात छोड़ दी है। इससे बहुत जगह उदाहरण अलंकार के न होकर भाव के हो गए हैं। भ्रम के उदाहरण को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि को स्वयं भ्रम हो गया हो।

'शिवराज भूषण' के उदाहरणों में कवि ने शिवा जी के ही चरित का गुण-गान करने की चेष्टा की है। प्रायः उदाहरणों में शिवा जी के चरित को ही उदात्त रूप में प्रकट किया गया है। भूषण शिवा जी को केवल एक राजा ही नहीं मानते थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उन्हें विष्णु का अवतार माना है—

इन्द्र को अनुज तें उपेन्द्र अवतार याते,
तेरो बाहुबल लै सलाह साधियतु है।

अथवा

कस के कुटिल बल बंसन बिधसिबे को,
भयो यदुराय बसुदेव को कुमार है।
पृथ्वी पुरुहूत, साहि के सपूत शिवराज,
म्लेच्छन मारिवे को तेरो अवतार है॥

अतः यदि भूषण ने अपना सारा समय शिवाजी के गुणगान में बिताया तो आश्चर्य ही क्या ? भूषण की यह धारणा बन गई थी कि राष्ट्र का उद्धार शिवाजी द्वारा ही सम्भव है। अतः उन्होंने यहां तक कह दिया—

को कविराज सभाजित होत,
सभा सरजा के बिना गुन गाये॥

काव्य का लक्ष्य

वस्तुतः रचना, वाणी और कार्य के द्वारा भूषण की भावना एक ही लक्ष्य की ओर निरन्तर अग्रसर होती हुई दिखलाई देती है। वह लक्ष्य है देश में राष्ट्रीय जागरण और संगठन को पूर्ण करना। भूषण जीवन भर इसी की पूर्ति की ओर लगे रहे।

राष्ट्रीय जागरण और जातीय संगठन को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लेने के कारण भूषण की रचना में आद्योपान्त उत्साह ही उमड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने लक्ष्य को अपने तक ही सीमित रखना उचित नहीं समझा। उन्होंने अन्य देशवासियों में भी इसी उत्साह को उद्बुद्ध करने का सतत यत्न किया। इस प्रकार उनकी रचना का प्रतिपाद्य विषय श्रोताओं तथा पाठकों में उत्साह नामक स्थायी भाव को जागृत करना रहा है। इस कारण उनकी रचना में वीर रस का स्वभावतः पूर्ण परिपाक होता गया है।

कवि ने शिवाजी की वीरता का जितना वर्णन किया है उससे कहीं अधिक शत्रुओं पर उनके आतंक का प्रभाव दिखाया है। शिवाजी के भीषण आक्रमण से डरी हुई स्त्रियों को सदा ही शिवाजी की सेना ही दूर से आती हुई दृष्टिगत होती है। पावस में चमकती हुई चपला और गड़गड़ाते मेघों की आवाज़ सुनकर वह कहती हैं—

"चमकती चपला न, फेरत फिरंगै भट,
इन्द्र को न चाप, रूप बैरख समाज को।
धाए धुरवा न, छाए धूरि के पटल मेघ,
गाजिबो न, बाजिबो है दुन्दुभी दराज को।
भौंसिला के डरन डरानी रिपुरानी कहैं,
प्रिय भाजो, देखि उदो पावस के साज को।
घन की घटा न, गज घटनि सनाह साज,
भूषण भनत, आयो सेन सिवराज को।"

'शिवा बावनी' में इस प्रकार के अनेक कवित्त हमें मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त कवि ने श्रोताओं में उत्तेजना भरने के लिए शिवाजी के साहस-पूर्ण कर्मों का बड़ी ओजपूर्ण शैली में वर्णन किया है। इससे एक ओर जहां शिवाजी की प्रशंसा होती है वहां दूसरी ओर लागों में उत्साह भी भरता जाता है। ऐसे स्थलों में एक स्थल औरंगजेब के दरबार से निःशस्त्र रहते हुए भी बादशाह का गर्व हरण करके चले आने का है। इसका वर्णन अत्यन्त ओजपूर्ण शैली में इस प्रकार है—

दीन्हों कुज्वाब दिलीपति को
अरु कीन्हों वजीरन को मुंह कारो।
नायो न माथहि दक्खिन-नाथ
न साथ में फौज न हाथ हथ्यारो॥

भूषण ने केवल शिवाजी के शौर्य का ही व्यक्तिगत रूप से वर्णन नहीं किया अपितु साथ में उनकी विशाल सेना तथा उसकी विलक्षण शक्तिमत्ता का भी वर्णन किया है। यद्यपि इस प्रकार का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है तथापि इससे उनके उत्साह या उत्तेजना की मात्रा में कोई कमी नहीं पड़ती। और वह अतिशयोक्ति भी अपने उपयुक्त स्थल पर स्थित होकर दोष तो क्या गुण के रूप में 'मणि-कांचन' संयोग सी प्रतीत होती है। प्रमाण

के लिए देखिए—

> "तादिन अखिल खल भलै खल खलक में
> जा दिन सिवाजी गाजी नेक करखत हैं।
> सुनत नगारन अगार तजि अरिन की
> दारगन भाजत न बार परखत हैं।"

यहाँ शिवाजी की सेना का प्रयाण होते ही समस्त सृष्टि में खलबली मच जाती है। किसी भी राजा के शौर्य का वर्णन जब कवि करते हैं तो इसी प्रकार की भावनाएं व्यक्त करते हैं। अतः ऐसे वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण होते हुए भी उत्साह-वर्धक अवश्य होते हैं। बढ़ा-चढ़ाकर कहने की बात इसलिए भी समझ में आती है कि बड़ी वस्तु के द्वारा सादृश्य के आधार अपने तथ्य को स्पष्ट रूप में रखने की चेष्टा करता है। जैसा कि निम्न पंक्तियों में—

> "क्यों न उतपात होंहि बैरिन के झुण्डन में
> कारे घन उमड़ि अंगारे बरसत हैं।

यहां स्पष्ट है कि अंगारे कहीं नहीं बरसते हैं परन्तु जो कड़ी मार शिवाजी की सेना यवनों पर बरसाती है, वह अंगारों की बरसात से कम नहीं। यही कवि का आशय है।

कई दृष्टियों से इस प्रकार के कवित्त महत्वपूर्ण हैं। प्रथम यह साहित्यिक कृति है अतः कवि ने रस-परिपाक की समस्त सामग्री जुटाई है। नायक के उत्साह और प्रतिनायक और उसके पक्ष के अत्याचारमय आतंक का जितना भी अधिक और विशद वर्णन होता है, उतनी ही रस-परिपाक में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त कवि ने अलंकारों के द्वारा भी अपनी बात को स्पष्ट किया है। अगर वह तलवार की मार न कहकर अंगारों की बरसात कहता है तो अलंकारों के आश्रय से भावों के उद्दीपन की शक्ति बढ़ जाती है। अतः यह अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन कवि के कला नैपुण्य का द्योतक है, न कि उसकी शक्तिहीनता का।

कई स्थलों पर भूषण ने कुकर्मी औरंगजेब की निन्दा भी की है। उसने अपने पिता शाहजहां को बन्दी बनाया, भाइयों का वध कराया तथा समस्त परिवार को छिन्न-भिन्न कर डाला। इस प्रक्रिया का बड़ा सुन्दर विवेचन मिलता है। इन सभी बातों को कहने के उपरान्त एक ही पंक्ति में उन्होंने उसका सजीव चित्र इस प्रकार उपस्थित किया है—

> सौ-सौ चूहे खाय कै बिलाई बैठी तप के।

औरंगजेब की पारिवारिक संहार सम्बन्धी निन्दा के अतिरिक्त सामाजिक निन्दा भी कवि ने की है। पक्का सुन्नी होने से औरंगजेब ने हिन्दुओं को असह्य कष्ट दिये। 'चोटी राखी हिन्दुन की' इस पंक्ति से ही स्पष्ट है कि शिवा जी ने बलात् धर्म-परिवर्तन को किस प्रकार रोका था। इसके अतिरिक्त मंदिर गिराने और उनके स्थान पर मस्जिद बनवाने का भी वर्णन हमें मिल जाता है। यह वर्णन रस की दृष्टि से उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत आता है। इस प्रकार के वर्णनों को सुनकर श्रोताओं में तुरन्त यह भावना जागृत हो उठती है कि यदि इस प्रकार का अत्याचारी व्यक्ति सामने आ जाय तो उसे कच्चा खा जाएं।

व्यक्तिगत-विजय एवं राष्ट्रीय विजय

कई छन्दों में भूषण ने शिवाजी की विजयों का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। यह विजय-वर्णन कहीं-कहीं सामूहिक रूप में है और कहीं व्यक्तिगत रूप में दिखाई पड़ता है। परन्तु दोनों ही प्रकार के वर्णनों में कवि ने अपनी कुशलता प्रदर्शित की है। सामूहिक वर्णन के सम्बन्ध में सल्हेरि की विजय का यह वर्णन लिया जा सकता है—

सिवा जी खुमान सलहेरि में दिली-दल को
किन्हों कतलाम करबाल गहि कर में।
सुभट सराहे चन्द्राबत कछबाहे, ढाहे
मुगलो पठान फरकत परे फर में॥
भूषण भनत, भौंसिला के भट उदभट
जीति घर आए धाक फैली घर घर में।
मारू के करैया अरि अमर पुरैगे तऊ
अजों मारू मारू सारे होत है समर में॥

अलंकार वर्णन

इसी प्रकार व्यक्ति पर विजय का भी अच्छा वर्णन किया गया है। जहाँ कवि ने व्यक्ति की विजय में अलंकारों का सहारा लिया है वहां वर्णन बहुत उपयुक्त बन पड़ा है। लक्षण—उदाहरण की दृष्टि से यद्यपि कवि सर्वत्र सफल नहीं हुआ है, तथापि यह निश्चित है कि जिन अलंकारों के लक्षणों के विषय में कवि स्वयं स्पष्ट था उनके उदाहरण भी अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट दिए गए हैं। उदाहरण के लिए समासोक्ति के इस वर्णन से ऐदिलशाह को कैसे सावधान किया गया है—

खोइयो प्रबल मद गल गजराज एक
सरजा सों बैर के बड़ाई निज मद की।

किन्हीं छन्दों को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो कवि शत्रु पक्ष के सरदारों के सामने जाकर उन्हें फटकार रहा हो। बहलोल को फटकारते हुए इसी तरह कवि कहता है—

बचैगा न समुहाने बहलोल खां अयाने,
भूषण बखाने दिल आन मेरा बरजा।

इसी प्रकार वे शिवाजी से भी कहते प्रतीत होते हैं—

महाराज सिवराज तेरे बैर देखियत
घन बन है रहे हरम हबसीन के।

इस प्रकार की शैली के अपनाने से वर्णन में पूर्ण सजीवता और ओजस्विता आ गई है।

शिवाजी का व्यक्तित्व

भूषण ने शिवाजी की कृपाण के साथ उनके दान का भी विशद वर्णन किया है। शिवाजी के दरबार में भूषण का सम्मान भी था और वहां से उन्हें धन की भी प्राप्ति होती थी। साथ ही कवि ने शिवाजी के गुणों—व्यवहार, राजनीति आदि का वर्णन भी सांगोपांग रूप में किया है। शिवाजी के विवेक में लालच नाम को नहीं है, प्रेम में कपट नहीं है, व्यवहार में अनीति नहीं है, तथा कार्य करने में अपयश नहीं। धार्मिक दृष्टि से भी शिवाजी ने कभी मुस्लिम प्रजा को त्रास नहीं दिया। स्त्रियों की सदा रक्षा होती थी और मस्जिद का मन्दिरों की भाँति ही सम्मान था। इसी धार्मिक सहिष्णुता ने ही उन्हें अमर किया। 'छत्रसाल दशक' में कवि ने अपने दूसरे चरित नायक छत्रसाल की वीरता का विशद वर्णन किया है। वह भी उसी प्रकार स्फूर्तिदायक और उत्साहवर्धक है जिस प्रकार शिवाजी का वर्णन। सेना में जोश भरने वाला छन्द उदाहरण के लिये पर्याप्त होगा—

सांगन सों पेलि-पेलि खग्गन सों खेदि-खेदि,
समद सा जीता जो समर लौं बखाना है।
भूषण बुन्देल मनि चंपत सपूत धन्य,
जाक धाको बचा एक मरद मियां ना है॥
जंगल के बल से उदगल प्रबल लूटा,
महमद अमी खां का कटक खजाना है।
वीररस मत्ता जाते कंपत चकत्ता यारो,
कत्ता ऐसी बांधिये जो छत्ता बांधि जाना है॥

वीर रस के सहायक रस

भूषण ने वीर रस के सहायक अन्य रसों का भी वर्णन अपने काव्यों में किया है। शिवा जी का मुण्डमाल पहनना—जोगिनियों का कपाल भर कर नाचना वीभत्स, शिवाजी के क्रोध के कारण रौद्र और इसी प्रकार अद्भुत रस का वर्णन हमें भूषण की कविता में मिल जाता है।

भूषण के शृंगार रस प्रधान कवित्तों को भी डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने संग्रहीत किया है जिनसे स्पष्ट प्रकट होता है कि समय के प्रवाह के अनुसार भूषण ने भी नायिका-भेद सम्बन्धी रचना की, परन्तु उनकी संख्या अत्यल्प है।

भूषण ने अपने चित्रण में पौराणिक भावों का भी पर्याप्त सहारा लिया है। उन्होंने शिवाजी को अवतार रूप में अंकित किया है और इन्द्र जैसे वैदिक देवता को अपेक्षाकृत गौण स्थान देकर अपने आदर्श की पूर्ण रक्षा की है।

संगठन की दृष्टि से भूषण ने हिन्दू-मुस्लिम मेल पर सबसे अधिक बल दिया। इसके लिए वे शिवाजी जैसे उदार शासक को आदर्श मानते हैं जिन्होंने मस्जिद कुरान एवं

मुस्लिम-स्त्री को संरक्षण दिया था और सेना को इनकी पवित्रता कायम रखने के लिए आज्ञा दे दी थी।

भूषण की भाषा

भूषण को अपना चरित-नायक खोजने के लिए कई राज्यों में चक्कर काटना पड़ा अतः उनकी भाषा मुख्य रूप से ब्रजभाषा होते हुए भी पर्याप्त मिश्रित रूप में दिखाई पड़ती है। उसमें मराठी शब्द जैसे—याची, चिजी, चिजाउर, भटी, हुनौं, वरगी, मल्लारि धम्मिल आदि और फारसी तुरकी भाषा के—दरगाह, बखत बुलन्द, जोरावर, उजीर, गरीब नेवाज, मिजाज, दौलत, उमराव आदि शब्द मिलते हैं। इनके काव्य में अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्द भी दृष्टिगत होते हैं। फारसी-अरबी शब्द वहीं आए हैं जहां मुसलमानों से सम्बन्धित चर्चा की गई है। जैसे—

छूट्यो है हुलास आम खास एक संग छूट्यो
हरम सरम एक संग बिन ढंग ही।

अथवा

जसन के रोज यों जलूस गहि बैठो जोऽब।

परन्तु इन सभी प्रकार के शब्दों को भूषण ने इस प्रकार अपना लिया है कि वे पराए नहीं जान पड़ते। वैसे भूषण की भाषा अत्यन्त परिष्कृत, वीररस के अनुकूल, प्रभावशालिनी, ओजस्विनी तथा मुहावरेदार शुद्ध ब्रजभाषा है। फिर भी कहीं-कहीं शब्दों के साथ जबरदस्ती की गई है। इसी बात को लक्ष्य करके शुक्ल जी ने कहा था—"भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यवस्थित है। व्याकरण का प्रायः उल्लंघन किया गया है और वाक्य रचना भी कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप बहुत बिगाड़े गए हैं और कहीं-कहीं शब्दों के बिल्कुल मनगढ़ंत रूप रखे गए हैं। पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं।"

अलंकारों के लिए तो भूषण ने पृथक् ही स्वतंत्र रूप से शिवराज-भूषण की रचना की थी। फिर भी अन्य रचनाओं में हमें अलंकारों का यथोचित प्रयोग मिलता है। अतः केवल एक ही उदाहरण से उनकी यह विशेषता समझी जा सकती है—

इन्द्र जिमि जंभ पर वाडव सुग्रंब पर,
रावण सदंभ पर रघुकुल राज है।

* * *

त्यों म्लेच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

भूषण ने अपनी कविता में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी अच्छा प्रयोग किया है—

'कालिह के जोगी कलींदे के खप्पर'
"छागो सहै क्यों गयन्द को झप्पर।" आदि

इस प्रकार हम देखते हैं कि भूषण की रचना में वीर रस का उत्कृष्ट रूप उपलब्ध

होता है । उस समय जब अन्य कवि नायिका के नखशिख वर्णन की ओर ही दृष्टि लगाए बैठे थे और देश की दुर्दशा और उसके कारणों से आँखें मूंदें बैठे थे तब भूषण ने अपनी ओजपूर्ण विवरणात्मक, विवेचनात्मक आदि विभिन्न शैलियों में देश में उत्साह की लहर दौड़ाई । वे स्वयं देशोत्थान के लिए कटिबद्ध थे—अतः उन्होंने विभिन्न राज्यों में जा जाकर राजाओं को उत्तेजित किया । अन्त में शिवाजी के दरबार में उन्हें अपना वास्तविक चरित नायक मिला जो एक ही साथ दानवीर, दयावीर, धर्मवीर, कर्मवीर और युद्धवीर था । अतः भूषण ने अपने को सफल समझा । उस देश प्रेमी के वीरता पूर्ण चरित का गुण गा कर वे वीर रस के कवियों में अग्रगण्य हो गए ।

६. देव

देव का जीवन-वृत्त

देव के जन्मकाल के विषय में अनेक मत हैं। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्मकाल संवत् १६६१ माना है परन्तु अन्य आचार्य इस मत से सहमत नहीं। भाव विलास के अन्त में स्वयं देव ने अपना जन्मकाल संवत् १७३० कहा है।

शुभ सत्रह सै छियालिस, चढ़त सोरहिं वर्ष।
कढी देव मुख देवता, भाव विलास सहर्ष॥

'भाव विलास' का रचना काल इन्होंने १७४६ संवत् दिया और उस ग्रन्थ निर्माण के समय अपनी अवस्था १६ वर्ष की बतलाई है। अतः इनका जन्मकाल संवत् १७३० वि० ही प्रतीत होता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें सनाढय ब्राह्मण लिखा है। किन्तु कई अन्य विद्वान् इन्हें कान्यकुब्ज मानते हैं। 'भाव विलास' में देव ने लिखा है—

धौसरिया कवि देव को नगर इटायो बास।
जोबन नवल सुभाव रस, कीन्हों भाव विलास॥

वे अपने आपको इटावे के धौसरिया ब्राह्मण लिखते हैं। डा० नगेन्द्र ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'देव और उनकी कविता' में लिखा है कि धौसरिया दुसरिहा का रूपान्तर है जिसकी उत्पत्ति देवसर शब्द से है और जिसका अर्थ है देव तुल्य। आज भी इटावे में दुसरिहा ब्राह्मण रहते हैं जो अपने आपको द्विवेदी कान्य-कुब्ज ब्राह्मण बताते हैं। कान्य कुब्ज होने का दूसरा प्रमाण है—

काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल, कान्यकुब्ज कमनीय।
देवदत्त कवि जगत में, भये देव रमनीय॥

इनके कुटुम्ब के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। डा० नगेन्द्र ने खोज करते हुए इनके वंश वृक्ष को इस प्रकार पाया है। 'देव के पिता बिहारीलाल दुबे थे और पुत्र पुरुषोत्तम। यह वंश-बृक्ष देव के वंशज पंडित माता दीन से छन्दबद्ध मिला है—

दुबे बिहारी लाल भये निज कुल महं दीपक।
तिनके में कवि देव कविन मंह अनुपम रोचक॥
पुरुषोत्तम के छत्रपती बाबा-कृत लेखक।
भये खुलासी चन्द्र पुत्र बुधिसेन हु जी तक॥

जिनके राजा राम सुत पितु हमारे मतिमान।
ता सुत मातादीन यह दास रावरो जान।।

मातादीन की यह तालिका उनके पितामह बुद्धसेन से प्राप्त हुई थी जिनसे देव का देहावसान ३५-३६ वर्ष पूर्व ही हुआ बताया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसी निर्णय पर पहुंचे हैं कि देव कवि कान्य-कुब्ज नहीं सनाढ्य ब्राह्मण थे।

इनका पूरा नाम क्या था इसमें भी सन्देह है। रामचन्द्र शुक्ल जी ने इनका पूरा नाम देवदत्त बताया है।

आश्रयदाता

इनके ग्रन्थों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि इन्हें कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रह कर ये सुख से जीवन व्यतीत कर सकते। ये बराबर अनेक धन-सम्पन्न व्यक्तियों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं स्थिर न हो सके। शुक्ल जी के अनुसार 'इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता मानें या इनकी कविता के साथ उस काल की रुचि का असामंजस्य।'

देव के प्रथम आश्रयदाता औरंगजेब के बड़े पुत्र आजमशाह थे जिनके दरबार में वे अपनी सर्वप्रथम रचना अष्टयाम और भावविलास लेकर पहुंचे थे। आजमशाह हिन्दी-कविता के प्रेमी थे और उन्होंने देव के ग्रन्थों को सुनकर उनका बड़ा आदर किया। इसके पीछे इन्होंने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर 'भवानी विलास' लिखकर उनको समर्पित किया। फफूंद के राजा कुशलसिंह के नाम पर 'कुशल विलास' की रचना की। फिर मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह वैश्य के लिये 'प्रेम चन्द्रिका' बनाई। इसके उपरान्त ये बराबर अनेक प्रदेशों में घूमते रहे। इस यात्रा के अनुभव 'जाति विलास' नामक ग्रंथ में उपलब्ध हैं। राजा मांगीलाल के यहां रहकर रसविलास की रचना हुई। दिल्ली प्रतिष्ठित रईस सुजान मणि के आश्रय में रहकर इन्होंने सुजान विनोद की रचना की। देव के अन्तिम आश्रयदाता पिहानी-नरेश अकबरअली खाँ थे जिन्हें देव ने अपना आखिरी ग्रन्थ 'सुखसागर तरंग' समर्पित किया हैं। इसके उपरान्त रचा हुआ इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः यह प्रतीत होता है कि संवत् १८२४ के पश्चात् अधिक जीवित नहीं रहे। यद्यपि देव के निधन काल के विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं, तथापि विद्वानों की धारणा है कि वे सं० १८२५ वि० के उपरान्त जीवित नहीं रहे।

देव की रचनाएं

रीति काल के प्रतिनिधि कवियों में सम्भवतः सबसे अधिक ग्रन्थ-रचना देव ने की है। कोई उनकी रचनाओं की संख्या ५२ और कोई ७२ मानते हैं। इनके मुख्य उपलब्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—१. भाव विलास, २. अष्टयाम, ३. भवानी-विलास, ४. सुजान-विनोद, ५. प्रेम तरंग, ६. राग रत्नाकर, ७. कुशल विलास, ८. देव चरित, ९. प्रेम चन्द्रिका

१०. जाति-विलास, ११. रस-विलास, १२. काव्य रसायन या शब्द रसायन, १३. सुख सागर तरंग, १४. वृक्ष विलास, १५. पावस विलास, १६. ब्रह्म दर्शन पचीसी, १७. तत्व दर्शन पचीसी, १८. आत्म दर्शन पचीसी १९. जगद्दर्शन पचीसी, २०. रसानन्द लहरी, २१. प्रेम दीपिका, २२. सुमिल विनोद, २३. राधिका विलास, २४. नीति शतक, २५. नखशिख प्रेम दर्शन।

देव की काव्य प्रकृति को समझने के लिए उनके प्रमुख ग्रन्थों पर विहंगम दृष्टि डाल लेनी चाहिए।

भाव विलास : कवि की प्रथम रचना उनकी १६ साल की अवस्था में आविर्भूत हुई। यह रीति ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में शृंगार रस का सांगोपांग वर्णन है, जिसका आधार भानुदत्त की रस-तरंगिणी माना जाता है। तीन विलासों में रस के भेद विभेद का वर्णन है। चतुर्थ विलास में नायिका भेद और पांचवें में अलंकार हैं जिसका आधार केशव का कविप्रिया नामक ग्रन्थ बताया जाता है।

अष्टयाम : इसमें संयोग शृंगार का प्रमुख वर्णन है। भावों की अभिव्यक्ति अवश्य सरस रीति पर हुई है, परन्तु काव्य-सौन्दर्य उत्कृष्ट नहीं। यह निम्नकोटि की रचना मानी जाती है। नायक नायिका के आठ पहर के विविध विलास का इसमें वर्णन है।

भवानी विलास : यह ग्रन्थ 'भाव विलास' की अपेक्षा निम्नकोटि का है। इसमें शृंगार रस का वर्णन है। नायिका के भेद-उपभेद छः विलासों में मिलते हैं। आठवें विलास में शृंगार के अतिरिक्त दूसरे रसों पर लिखा मिलता है। इसमें भाव सौन्दर्य नहीं वरन् शब्दों का चयन उत्कृष्ट रूप में दीख पड़ता है।

प्रेमतरंग : इस ग्रन्थ में नायिका के जो लक्षण दिये हैं, वे भवानी विलास से भिन्न नहीं परन्तु उदाहरण अवश्य नवीन हैं। यह कवि की मध्यम कोटि की रचना है। यह ग्रन्थ पूर्ण नहीं प्राप्त होता।

कुशल विलास : इस ग्रन्थ में लक्षण और उदाहरणों को छोड़कर प्रेम तरंग की सारी सामग्री संगृहीत है। यह रीति ग्रन्थ है, शृंगार रस, नायिका के विविध भेद, काम की दशाओं, एवं अवस्थाओं का वर्णन है। यह ग्रन्थ भी प्रेम तरंग की कोटि का है।

जाति विलास : इस ग्रन्थ में भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन में उनकी विशेषताएं भली प्रकार नहीं हो पाई हैं।

रस विलास : देव के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना संवत् १७८३ में हुई। यह राजा भोगीलाल के आश्रय काल में लिखा गया था। राजा भोगीलाल की इन्होंने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है जैसे—'मोतीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।' यह ग्रंथ शृंगार का है जिसमें नायिका भेद वर्णित है। स्त्री की प्रशंसा, जाति भेद, नखशिख वर्णन, गुण, कर्म, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व के अनुसार नायिका भेद; संयोग के अन्तर्गत यह हावों तथा वियोग के अन्तर्गत दस काम दशाओं का वर्णन है। यह ग्रंथ बहुत कुछ परिमार्जित शैली में निर्मित है।

प्रेम चन्द्रिका : देव का यह ग्रंथ काव्य की दृष्टि से उत्तम है। कवि की सरसता और सहृदयता है, विषय में उसकी तल्लीनता है। नारी जगत् की यथार्थ सुन्दरता से वह कितना परिचित है, हमको इसका सहज ही ज्ञान इस पुस्तक से हो जाता है। इस ग्रंथ में प्रेम का माहात्म्य तथा उसके भेदों का विशद वर्णन है। इसमें कवि ने वर्णनात्मक शैली को छोड़कर व्यंजनात्मक शैली को अपनाया है।

सुजान विनोद : इसका रचना काल १८०० के आस-पास जान पड़ता है। इस ग्रंथ में ऋतुओं के अनुसार नायिका भेद वर्णित है। इसके आखिरी दो विलासों में ऋतु वर्णन है जिसमें कुछ मौलिकता है।

राग रत्नाकर : यह संगीत का ग्रंथ है। इसमें राग, रागिनियों का विस्तार से वर्णन है। संगीत की दृष्टि से यह ग्रंथ बड़ा महत्वपूर्ण है। देव काव्य के ज्ञाता तो थे ही, संगीत के भी विशारद थे, इस ग्रंथ से भली भांति ज्ञात होता है।

शब्द रसायन : यह ग्रंथ कवि की सर्वांगपूर्ण और प्रौढ़तम रचना है। इसका निर्माण लक्षण ग्रन्थों के पश्चात् संवत् १८०० के लगभग माना जाता है। देव का यही ग्रंथ अपने आप में पूर्ण है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी अंग समाविष्ट हैं। ११ प्रकाशों में यह ग्रंथ विभक्त है। दूसरे प्रकाश में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना एवं तात्पर्य नामक चौथी वृत्ति का विवेचन है। तीसरे से छठे प्रकाश तक रस-विवेचन मिलता है। सप्तम प्रकाश में रीतियों और गुणों की व्याख्या पाई जाती है। आठवें प्रकाश में चित्रकाव्य का, नवम में अर्थालंकारों का एवं दशम और एकादश में छन्दों का विवेचन पाया जाता है।

तथ्य तो यह है कि इसी ग्रंथ में देव का आचार्यत्व निखर उठा है। काव्य-शास्त्र के लक्षण और उदाहरण का इसमें समन्वय पाया जाता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि "देव ने मम्मट के काव्यप्रकाश का अच्छा अध्ययन किया होगा। काव्य-रसायन या शब्द-रसायन प्रधान रूप से काव्य प्रकाश पर ही आधारित है। विकसित गद्य का आश्रय न पा सकने के कारण इनके सुलझे विचार भी उलझने को बाध्य हुए हैं।"

देव चरित : यह भक्ति परक देव का प्रथम ग्रंथ है। इस समय देव वृद्ध हो गये थे अतः उनकी प्रवृत्ति भक्ति की तरफ झुक गई। रीतिकाल के कवियों के अनुसार राम-कृष्ण को नायक और गणिका के रूप में वर्णित किया गया है। यह ग्रंथ एक खण्ड-काव्य है। कृष्ण जीवन की कुछ घटनाओं को लेकर लिखा गया है।

देवमाया प्रपंच : ६ अंकों का यह नाटक प्रबोध चन्द्रोदय की प्रतीकात्मक शैली पर लिखा गया है। इसका नायक परम पुरुष है, इसमें अन्य पात्र प्रकृति, बुद्धि, मन, माया, जीव, ब्रह्म आदि आध्यात्मिक भाव हैं। अद्वैतवाद का समर्थन किया गया है। प्रकृति से बुद्धि और माया से मन की उत्पत्ति मानी गई है। मन माया के प्रपंच में फंसकर परम पुरुष से विलग हो जाता है, किन्तु सत्संगति की क्रिया से परम पुरुष की उसे प्राप्ति होती है।

जगदर्शन पचीसी तथा आत्म पचीसी : इसमें जीवन की नश्वरता और जगत्

की निस्सारता का वर्णन है। इस समय कवि-हृदय विश्व-माया का सच्चा स्वरूप देखने के लिये उसके फंदे से निकलना चाहता था।

तत्व दर्शन पचीसी तथा प्रेम पचीसी : इसमें क्रमशः ब्रह्म के स्वरूप और प्रेम का वर्णन है। प्रेम को संसार का सार और ब्रह्म-प्राप्ति का परम साधन माना गया है।

सुखसागर तरंग : बारह अध्यायों एवं ८५६ छंदों में निर्मित यह ग्रन्थ १८२४ में पिहानी के राजा अकबर अली को समर्पित हुआ। यह कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है। भवानी विलास, कुशल विलास एवं रस विलास आदि के छन्द इसमें उद्धृत हैं। प्रथम अध्याय में अकबर अली खां का वंश वर्णन, गौरी-लक्ष्मी-सरस्वती की वंदना, राधा की स्तुति है। तदुपरान्त नायक नायिकाओं की प्रणय भावना के मूल स्रोत का विवेचन पाया जाता है। द्वितीय तृतीय अध्याय में अष्टयाम की शैली पर नायक-नायिकाओं की चर्चा पाई जाती है। शेष अध्यायों में नायिका भेद का विस्तृत वर्णन है।

ग्रन्थों की अधिक संख्या के सम्बन्ध में तथा उनके ग्रन्थों का अवलोकन करने से यह सिद्ध है कि देव जी अपने पुराने ग्रन्थों के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रन्थ प्रायः तैयार कर देते थे। इससे वे ही कवित्त बार-बार इनके अनेक ग्रन्थों में मिलेंगे।

देव की समस्त रचनाओं को हम निम्नलिखित तीन भागों में बांट सकते हैं।

१. शृंगारिक भावना से ओत-प्रोत ग्रंथ :—

इसमें अष्टयाम, जाति विलास, रस विलास और सुजान विनोद आदि ग्रन्थों की गणना है।

२. रीति ग्रंथ :—

भाव विलास, भवानी विलास तथा काव्य रसायन या शब्द रसायन।

३. दार्शनिक विचार :—

देव चरित, देव माया प्रपंच, जगद्दर्शन पचीसी, आत्म-दर्शन पचीसी, तत्व-दर्शन पचीसी, और प्रेम पचीसी हैं। राग-रत्नाकर संगीत का ग्रन्थ है और सुख-सागर एक संग्रह है। अतः इन्हें विभाजन में नहीं सम्मिलित किया गया है।

देव का शृंगार और प्रेम

देव शृंगार के कवि थे। उन्होंने नवरस का विधान करते हुए शृंगार, वीर और शान्त को मुख्य रस माना है और शृंगार को तो रसराज कहा है। उनके मत से शृंगार ही सब रसों का मूल है। शृंगारिक भावना के उत्साह से वीर की तथा उसी की असफलता जन्य भावना से शान्त की अभिव्यक्ति होती है।

रीतिकालीन कवियों में शृंगार का वर्णन जितना अच्छा देव ने किया है उतना और किसी ने नहीं। वे वासना-निहित काम को प्रेम से निकृष्ट स्थान देते हैं। इस प्रकार वे शृंगार का मूल प्रेम ही को मानते हैं। शुद्ध प्रेम के कारण ही स्वकीया नायिका सर्वश्रेष्ठ

मानी जाती है। परकीया एवं वारांगना का प्रेम, प्रेम नहीं। वह वासना प्रधान होने से हेय है। उन्होंने प्रेम के दो रूप पार्थिव और अपार्थिव माने हैं। पार्थिक प्रेम लौकिक है और जब यह वासना से रहित हो जाता है तो अपार्थिव बन जाता है। प्रेम का यही रूप ब्रह्म प्राप्ति में सहायक होता है।

देव ने संयोग और वियोग दोनों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। संयोग में रूप-पान, अधर-पान, चुम्बन, आलिंगन, रतिक्रीड़ा के नाना रूप, विविध नायिकाओं के हाव-भाव आदि पर बड़ी प्रखरता से प्रकाश डाला है। संयोग में परिहास प्रचुर मात्रा में तो नहीं सम्भव है परन्तु सर्वथा उपेक्षित भी नहीं माना जा सकता। विरह में इस देव का चित्रण प्राय: सब कवियों से श्रेष्ठ है। उन्होंने विरह से उत्पन्न इन मानसिक दशाओं का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है। इस विषय में उन्होंने कल्पना का पल्ला न पकड़ कर अनुभूतियों का साकार रूप दिया है।

देव और रीति ग्रन्थ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्ण रूप से कोई समर्थ नहीं हुआ है। कुलपति और सुखदेव जैसे साहित्य शास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धान्त निरूपण का मार्ग नहीं पा सके। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी इसका कारण यह बतलाते हैं कि "एक तो ब्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप में ही हुआ, विचार-पद्धति के उत्कर्ष-साधन के योग्य वह न होने पाई। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। अत: आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता।"

देव ने दोषों को छोड़कर प्राय: सभी काव्यांगों पर विस्तार के साथ लिखा है। रस, रीति, शब्द शक्ति, अलंकार और छन्द का बड़ा सुन्दर और सुसंगत वर्णन किया है। शृंगार में नायिका भेद का वर्णन तो बड़े विस्तार के साथ किया है। देव ने नौ रसों का विवेचन बड़े शास्त्रीय ढंग से किया है। रस की परिभाषा में वे आचार्य मम्मट से सहमत हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों द्वारा स्थायी भावों की पूर्ण वासना को रस कहते हैं।

रस निष्पत्ति के विषय में इन्होंने भट्ट का अनुसरण किया है। नायक नायिका के हृदय को ही रस का आश्रय माना है। यद्यपि वे अभिनव गुप्त के सिद्धान्तों को मानते हैं परन्तु वे रस की निष्पत्ति सहृदय में होती है इससे सहमत नहीं। स्थायी भाव वास्तव में नायक और नायिका में ही उत्पन्न हो सकता है न कि अनुकर्ता स्त्री-पुरुष में या दर्शक में। अत: उसका आश्रय केवल उन्हीं का हृदय हो सकता है। रसों के भेदानुभेद दर्शाने में उन्होंने मौलिकता दिखाई है। विशेषत: नायिका भेद सम्बन्धी इनके विचार अनुभव जन्य परिणाम स्वरूप हैं। रीतिकालीन अन्य कवियों ने नायिका भेद का वर्णन जाति, गुण, कर्म, काल,

अवस्था और दशा के अनुसार किया है परन्तु देव ने इनके साथ-साथ देश, प्रकृति और सत्व को भी ग्रहण किया है।

संचारी भावों का विवेचन कुछ शास्त्र विरुद्ध है। ये सब लक्षण इन्होंने संस्कृत पुस्तक 'रस तरंगिणी' से लिये हैं। देव ने संचारियों के दो भेद माने हैं—तन संचारी और मन संचारी। तन संचारी से अभिप्राय सात्विक भावों से है और सात्विक भाव अनुमान के अन्तर्गत माने गये हैं।

देव ने आठ काम दशाओं के भी बड़े भेद किये हैं, जो उनकी अपनी सूझ है।

देव ने रीति से तात्पर्य गुण लिया है। परन्तु मम्मट आदि आचार्यों ने माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण माने हैं, और उससे पूर्व उनकी संख्या दण्डी ने दस बताई है। देव ने भी दस गुण माने हैं—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदार और कांति।

शब्द शक्ति का निरूपण हिन्दी के रीति ग्रन्थों में प्रायः कुछ भी नहीं हुआ है। देव ने शब्द शक्ति का विवेचन किया है। काव्य की कसौटी शब्द शक्तियों को माना है—

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणा लीन।

अधम 'व्यंजना' का तात्पर्य 'वस्तु व्यंजना' जान पड़ता है। यह दादा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान में था। शक्ति के देव ने चार भेद माने हैं—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्य। इस तात्पर्य नामक शब्द शक्ति की स्थिति वाचक, लाक्षणिक एवं व्यंजक तीनों प्रकार के शब्दों में रहती है। शेष तीनों शक्तियों को उन्होंने मूलतः सभी शब्दों में माना है। शब्द में जिस अर्थ की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार शक्ति उस अर्थ को निकालने में सहायता देती है। शब्द शक्तियों के उन्होंने अनेकानेक विलक्षण भेद किये हैं जो नितान्त नवीन हैं।

'भाव विलास' में देव ने केवल ३६ अलंकार माने हैं परन्तु शब्द रसायन में इनकी संख्या ७० मानी है जिसमें ४० मुख्य और ३० गौण। भावविलास में जिन अलंकारों का वर्णन है उनका आधार दण्डी का काव्यादर्श है। कुछ नये अलंकारों की योजना इन्होंने की है। काव्यलिंग, प्रतिवस्तूपमा आदि कुछ प्रसिद्ध अलंकार इन्होंने छोड़ दिये हैं। शब्दालंकार में चित्रालंकार को अनुप्रास और यमक का आधार माना है। चित्र काव्य देव की दृष्टि में अधम काव्य है। एक स्थान पर उसको 'मृत काव्य' और 'प्रेत काव्य' भी लिखा है।

अर्थालंकारों में उपमा और स्वाभावोक्ति को इन्होंने मुख्य माना है। उपमा को तो संस्कृत के आचार्यों ने भी अर्थालंकारों की जननी एवं साधिका स्वीकृत किया है परन्तु स्व-भावोक्ति को किसी ने भी अलंकार का मूल नहीं माना। यद्यपि देव ने रीति-पद्धति में भामह और दण्डी का अनुसरण किया है परन्तु स्वभावोक्ति को अलंकारों का मूल मानने में देव का विचार नितान्त नवीन है।

इस विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि देव ने सभी अलंकारों का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उनके विवेचन का शास्त्रीय आधार तो है ही, साथ ही कुछ

मौलिकता भी है। देव इन काव्यांगों के स्वरूप से पूर्ण परिचित ही नहीं वरन् अपनी व्यापक दृष्टि और अनुभव के आधार पर इनके विधाता भी थे।

इनका छन्द विवेचन भी बड़ा सुन्दर है जिसकी विशेषता यह है कि एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिये हुए हैं। यहाँ पर भी इन्होंने छन्दों में कुछ नवीन भेद किए हैं, जैसे सवैया के भेदों में मंजरी, अलसा आदि।

देव का वैराग्य

देव वैरागी नहीं थे। उनका प्रारम्भिक जीवन बड़ा ही सरस रहा होगा क्योंकि उन्होंने शृंगार का वर्णन और उसमें प्रधानतः नायिका का वर्णन बड़ी अनुरक्ति के साथ किया है। उनके ग्रन्थों में प्रेम का जो उज्ज्वल रूप मिलता है उससे ज्ञात होता है कि उनके अतिशय राग को किसी कारणवश व्याघात लगा था और उनके मानस-पटल पर वैराग्य का चित्र चित्रित हो गया, इससे उनकी ७० वर्ष की अवस्था में वैराग्य ने तूफान का रूप धारण कर लिया।

किसी भी वस्तु की अति अन्ततोगत्वा स्वयं उसी के क्षेत्र में एक क्रांति किया करती है। उन्नति का अन्त अवनति देखा गया और सुख के बाद दुख का आना अनिवार्य है। इसी तरह रीति-कालीन अनेकों कवियों की प्रारम्भिक और अन्तिम रचनाओं को देखा जाये तो ज्ञात होगा कि उनकी अन्तिम रचनाओं में विरक्ति की भावना मिलती है। देव ने जीवन का पूर्ण आनन्द उठाया होगा, परन्तु प्रेम की किसी असफलता अथवा किसी स्थायी आश्रय के प्रभाव ने उन्हें थका कर वैराग्य की ओर उन्मुख किया। प्रेम से उनका अभिप्राय वासना-रहित प्रेम से है। देव चरित तथा देव-माया प्रपंच में तो स्पष्ट ही उनकी विरक्ति एवं भक्तिभावना झलकती है। जगद्दर्शन में उन्होंने जगत् का वास्तविक रूप प्रतिपादित किया। उन्हें माया के असीम प्रभाव से दृश्यमान् असत्य जगत् सत्य-सा प्रतीत होता है। सम्पूर्ण संसार माया के वश में है। प्राणी जानता है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है फिर भी संसार के मनुष्य माया जाल में अपने को जकड़े हुए हैं। संसार के दुख मनुष्य को वास्तविकता का परिचय कराते हैं और वे उसे आत्मदर्शन की ओर प्रेरित करते हैं। जब मनुष्य को जगत् का वास्तविक ज्ञान होता है तब अपने को पहचानने के लिए उत्सुक होता है। माया को मिथ्या एवं जीवात्मा को ईश्वर का अंश मानने लगता है। आत्म-तत्व की खोज करते-करते उसे एक व्यापक विराट् शक्ति का आभास मिलता है। जब वह उस शक्ति में तादात्म्य स्थापित करता है तब उसकी भेद बुद्धि जाती रहती है। इस प्रकार देव ने अपने ग्रन्थों में जगत्, आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन किया है।

देव की भाषा

देव की भाषा मुख्यतः ब्रज है। इसमें यत्र-तत्र संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बुन्देलखण्डी तथा फारसी के अनेक शब्द तत्सम या कुछ बिगड़ कर प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं—

वारौं कोटि इन्दु अरविन्द-रस-बिन्दु पर,
माने ना मिलिन्द-बिंद सम के सुधासरा।

इसमें कोटि, इन्दु, अरविन्द, बिन्दु, मलिन्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं। तत्सम शब्दों के प्रयोग में देव ने कहीं समास शैली को भी अपनाया है। यथा—

करुनानिलय कोटि-कंदर्प-दर्पापहारी,
महासुन्दर श्याम-मूर्ति-छवि ब्रीडनं।

देव ने प्राकृत एवं अपभ्रंश शब्दों का भी प्रयोग किया है, जैसे लोयन, मयन, जूह, बिंजु आदि।

अम्भा आदि बुन्देलखण्डी का व्यवहार भी मिलता है। मुस्लिम सत्ता होने के कारण फारसी का प्रवाह वेग पर था। अतः समय की परिस्थिति के अनुसार देव में भी अनेक फारसी के शब्द मिलते हैं—महल, कलेजा, जहाज़, रूख, जोर, गरीब, कमान और किर्च आदि। सूर, तुलसी, केशव, भूषण, बिहारी आदि प्रतिष्ठित कवियों की भाषाओं में भी फारसी के शब्द मिलते हैं।

देव की भाषा अनुप्रास बहुल है। उस समय के कवियों में अनुप्रास की प्रवृत्ति बड़ी प्रबलता से रही तो देव भला उससे कैसे वंचित हो सकते थे। परन्तु यह अनुप्रासबहुलता प्रयास का परिणाम नहीं है वरन् प्रतिभाशील कवि की समर्थ लेखनी द्वारा सहज उद्भावों का अंकन है, जिसमें शब्दों का चयन खोज के पश्चात् या मस्तिष्क को खुरच कर नहीं हुआ, वरन् निसर्गतः ही ऐसा शब्द-संगठन हुआ है। उनकी इस अनुप्रासबहुलता पर शुक्ल जी लिखते हैं, "कभी-कभी वे कुछ बड़े और मजमून का हौसला बांधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच ही में उसका अंग-भंग करके पद्य को कीचड़ में फंसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध प्रवाह न आने का कारण यह भी था।" अनुप्रास बहुलता के उदाहरण—

डार द्रुम पालना, बिछौना नव पल्लन कै,
सुमन झंगुला सोहै तन छवि मारी है।
पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव,
कोकिल हलावे हुलसावे करतारी है।
पूरित पराग सो उतारो करै राई लोन,
कंजकली नायिका लतानि सिर सारी है।
मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि,
प्रातहि जगावत गुलाब चटकारी है।

* * *

बैरागिन किधौं, अनुरागिनि, सुहागिनि तू,
"देव" बड़भागिन लजाति औ लरति क्यों ?

सोवति, जगति, अरसाति, हरषाति, अन-
खाति, बिलखाति, सुखमानति, डरति कों ?
चोंकति, चकति, उचकति, औ वकति, विथ-
कति और थकति ध्यान, धीरज धरति क्यों ?
मोहति, मुरति, सुतरचति, इतराति साह-
चरज सरा है, आचरज भरति क्यों ?

* * *

अक्षर मैत्री के ध्यान से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त 'शब्द' रखने पड़ते हैं जो कभी-कभी अर्थ को आच्छन्न कर देते हैं। तुकान्त और अनुप्रास के लिये शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उसके उपयुक्त बना लेते थे। उदाहरणार्थ—गुझाई, 'गुह्य'; घूखोत, 'धोखा खाता है'; अचान, 'अचानक'; सरीक में, 'सखियों में'; गाढ़ति, 'गढ़ाई'; उतरायल, 'उतायल'; ईछी, 'इच्छा'; अभिख्या 'अभिलाषा'; विद्योत, 'विदित'। जहां पर भाषा ठीक चली है वहां पर इनकी रचना बहुत ही सरस हो गई है।

व्याकरण की ओर तो देव का ध्यान ही नहीं था। उनका रूप बिगाड़ना तथा वचन दोष आदि की प्रचुरता है—जैसे टिकासरो 'टेक–आश्रय'; परौढ़, 'प्रौढ़' आदि।

नैनन ते सुख के अंसुव मनो भौर सरोजन ते संख्यौ परै।

इसमें अंसुवा बहुवचन है अतः क्रिया भी बहुवचन होनी चाहिये, परन्तु 'सख्यौ' एकवचन है। इस प्रकार 'कुच' का प्रयोग द्विवचन में होता है परन्तु देव ने 'उचक कुच कंक कदंब कली सी' में एकवचन में प्रयुक्त किया है। साथ ही इसमें लिंग दोष भी है क्योंकि 'कुच' पुल्लिग है और 'सी' स्त्रीलिंग है।

क्रियाओं के रूप भी बिगाड़ दिये हैं—

पुखोत है, 'नोषता है'; दुखोत है, 'दुख होता है'; भरियतु है, 'करियतु है'; घहरिया, छहरिया आदि।

उपर्युक्त विवेचन में देव की भाषा का सामान्य परिचय प्राप्त होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने देव की भाषा शक्ति का परिचय देते हुए एक स्थान पर लिखा है—'यद्यपि मतिराम की भांति भाषा का सहज प्रवाह और भावों की समंजस योजना इनकी कविता में नहीं है तथापि अर्थ-गांभीर्य और सरस वाग्विन्यास में देव बहुत ही ऊँचे कवि हैं। जब कभी ये सहज और अनाडम्बर भाषा का प्रयोग करते हैं तभी इनकी रचना अत्यन्त उत्कृष्ट होकर प्रकट होती है, पर जब वे सूक्ति योजना और वाग्वैदग्ध्य के आयोजन में जुट जाते हैं तब उसमें फीकापन आ जाता है।

देव का काव्य सौष्ठव

देव बहुज्ञ थे। उन्होंने शास्त्र-पर्यालोचन एवं देश पर्यटन से बहुत कुछ सीखा था। अनेक देशों की नायिकाओं का चित्रण यद्यपि विलक्षण हो गया है परन्तु उसमें काव्य

सौन्दर्य भी अनुपम है। रीति पद्धति में उन्होंने संस्कृत के ग्रंथों का बहुत कुछ अनुसरण किया है परन्तु अनेक स्थानों पर मौलिकता भी है। देव मूलत: शृंगारी कवि थे अत: उनके शृंगारिक चित्र बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ—

फटिक सिलानि सों सुधास्यो सुधा-मन्दिर,
उदधि-दधि कोसो उफनाय उमगं अमंद ।
बाहर तें भीतरलौं भीति न दिखाइ देत,
छीर कैसे फेब फैली चांदनी फरस बन्द।
तारा सी तरुनि तामें देव, जगमग होति,
मोतिन की ज्योति मिल्यो मल्लिका कौ मकरन्द।
आरति से अम्बर में आभासी उज्यारी ठाढ़ी,
प्यारी राधिका को प्रतिबिम्ब मो लगत चन्द ।

ग्रीष्म की शीतल रात्रि में सर्वत्र चांदनी छिटकी हुई है। उसमें स्फटिक शिलाओं से निर्मित सौधभवन दधि समुद्र के समान लग रहा है और संगमरमर के फर्श पर फेनिल दूध सा फैला हुआ है। उस फर्श पर गौरवदना युवतियाँ मोती एवं मल्लिका की मालाओं से सुसज्जित खड़ी हैं और उनके बीच कान्तिमती राधा है। ऊपर आकाश भी चांदनी से ओत-प्रोत है। उसने मानो एक आरसी का रूप धारण कर लिया है जिसमें चन्द्र राधा का और तारे तरुणियों के प्रतिबिम्ब हैं।

देव की कविता में व्यंजना का बड़ा हाथ है। सन्ध्या समय प्रिय के पास भेजी हुई सखी को प्रात: रति चिन्हों से युक्त देखकर उसके प्रति एक खंडिता नायिका के निम्न वचन में कितना व्यंग्य भरा है—

सांझ ही स्याम को लेन गई,
सुबसी बन में सब यामिनि जाय कै।
सीरी बयारी छिदे अधरा,
उरझो उर झांखर झार मंझाय कै।।
तेरी सी को करि है करतूति,
हुती करिबे सुकरी तैं बनाय कै।
भोर ही आई भटू इत मो,
दुखदाइनि काज महा दुख पाय कै।।

अर्थ : तू संध्या समय श्याम को लेने गई थी, सारी रात तैंने श्याम को ढूंढा पर श्याम न मिले, तेरे तो अधर भी ठंडी वायु से छिद गये और छाती झाड़ झंकाड़ों में उलझ कर छिल गई। तूने मेरे लिए जो 'करतूत' की वैसी भला कौन कर सकता है। अर्थात् बड़ा बुरा काम किया, ऐसा काम कोई नहीं कर सकता था—यह व्यंग्य है अरी भटू। मुझ दुखदायिनी के निमित्त अपार कष्ट झेल कर तू सवेरे ही आ गई ।

यह पद्य व्यंग्यपूर्ण है, परन्तु करतूति, भोरही, भटू, एवं 'दुखदाइन' शब्दों में बड़ा

मनोहर व्यंग्य भरा है। करतूति में तो बुरा कर्म स्पष्ट ही व्यंजित है। भोर ही में ही कितना बल दे रही है कि अभी आ गई, अभी और क्रीड़ा करती। भटू शब्द से दीनता और रोष दोनों ही व्यंगित हो रहे हैं और दुखदाइव शब्द तो बड़ा ही हास्यप्रद व्यंग्य कर रहा है कि मेरा भेजना तेरे दुख का कारण हुआ है जो तूने मेरे प्रिय के साथ रति में उठाया है।

सौष्ठव की दृष्टि से इनका काव्य केशव, बिहारी और मतिराम से भी श्रेष्ठ है। केशव का कला पक्ष देव से समृद्ध है परन्तु काव्य में कला पक्ष की अपेक्षा भाव पक्ष को विशेष महत्व दिया जाता है। देव के काव्य में भावपक्ष अधिक प्रबल है। जैसी अभिव्यंजना शक्ति हमें देव में मिलती है केशव में नहीं। देव का भाव अधिक स्पष्ट और भाषा अधिक परिष्कृत है। भाषा में संगीत की ध्वनि भी है। बिहारी और देव को लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य में बड़ा विवाद रहा है। मिश्र बन्धुओं ने देव को बिहारी से ऊंचा स्थान दिया है। ला० भगवान दीन देव से बिहारी को श्रेष्ठ बताते हैं। इस पर अनेक लेख लिखे गये हैं।

देव का शब्दचयन बड़ा प्रभावशाली था। रामचन्द्र शुक्ल जी लिखते हैं—"कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी। इनका-सा अर्थसौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है।"

देव पर पूर्ववर्ती कवियों का प्रभाव

देव ने रीति ग्रन्थों की रचना के लिए संस्कृत ग्रन्थों का अनुसरण किया है। अतः उनका किसी न किसी रूप में देव पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

देव पर सूर, केशव, बिहारी और मतिराम का प्रभाव तो निर्विवाद है। कुछ उदाहरण, जिनमें भाव साम्य के साथ शब्द साम्य भी है, देकर स्पष्ट किया जाता है। सूर—भले श्याम वह भली भावती, मिले भले मिलि भली करी। देव—लाल भले हो भली सिख दीन्ही भली भई आजु भले बनि आये। केशव—नाह सौं सनेह कीजै नाहीं मौ न कीजिए।

देव— **देवजू देखो विचारि अहो,**
तुम्हें नाहीं सों नातो कि नाह सों नातो।

बिहारी— **दुहूं ओर ऐंची फिरे फिरकी लों दिन जाय।**

देव— **धाई फिरै फिरकी सी दुहूं दिसि,**
देव दुवौ गुन जोर के ऐंचौ।

मतिराम— **जोग तब करैं जो वियोग होई श्याम को,**

देव— **जोग करि मिलैं जो वियोग होई बालम को**

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि देव अपने पूर्ववर्ती कवियों से किस प्रकार प्रभावित थे। परन्तु इससे उनकी मौलिकता पर कोई असर नहीं पड़ता। अपनी रचनाओं से दस पांच स्थलों पर अनुकरण कर लेना कवि की प्रतिभा और प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं लाता।

देव का परवर्ती कवियों पर प्रभाव

देव का रीति ग्रन्थकार तथा कवि की दृष्टि से परवर्ती कवियों पर खूब प्रभाव पड़ा है। विस्तार मद से कुछ उदाहरण देकर यह स्पष्ट कर देते हैं।

देव— तीन मासु अंकुरित नवजोवन नव मुग्भासु।
नवल वधू षट मास लौ वरष तेरही तासु॥
नवयोवना सु चौदही पन्द्रह नबल अनंग।
सोरह वर्ष सलंज-रति मुग्धा पांचो अंग॥

रस लीन— प्रथम अंकुरित जोवना तीनि मास लो होई।
नवल वधू षडमास लौं यह निश्चय जिय जोई॥
बहुरि चौदहें बरस पुनि नवयौवना निवास।
नबल अनंगा पन्द्रहे बरस करत प्रकास॥
दोय सोरहे बरस पर पुनि सलज्ज-रति नारि।

देव— भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइवे को,
भेरे हेत पाली। बहुतेरे दुख पाये हैं।

दास— घनि घनि साख मोहि लागि तू, सहे दसन नख देह।
परम हितू है लाल सो आई सखि सनेह॥

देव— मालिन ह्वै हरि माल गुहै.........

वेनी प्रवीन— मालिन ह्वै हरवा गुहि देत।

देव— पूरन प्रीत हिये हिरकी खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी सी।

पद्माकर— झांकति है खिरकी में फिरै थिरकी थिरकी खिरकी खिरकी में।

देव— देव कछु अपनो वसुना,
रस लालच लाल चितै भई चेरी।
बेगिहि बूड़ि गयी पंखियां,
अंखियां मधु की मंखियां मेरी॥

धनानन्द— माधुरी निधान प्रान ज्यारी जाव प्यारी तेरो।
रूप रस चाखै आंखै मधुमाखी ह्वै गई॥

इतने उदाहरणों से देव का अपने परवर्ती कवियों पर प्रभाव स्पष्टतः लक्षित हो जाता है। उन्होंने केवल भाव ही नहीं वरन् शब्द भी ज्यों के त्यों ग्रहण किए हैं।

देव का साहित्य में स्थान

शुक्ल जी अपने इतिहास में लिखते हैं कि, देव आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। इनका-सा अर्थ सौष्ठव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों मे ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के बड़े कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है।

अर्वाचीन कवि

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

जीवन-वृत्त

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करने वाले महान् कलाकार हैं। उनका जन्म काशी में भाद्रपद शुक्ला ५ संवत् १९०७ (९ सितम्बर, १८५० ई०) को सोमवार के दिन हुआ था। जिस सुप्रसिद्ध अग्रवाल वैश्य परिवार में भारतेन्दु ने जन्म लिया वह मुगल शासन काल में दिल्ली का एक विख्यात घराना था। शाहजहां के द्वितीय पुत्र सुलतान शुजाज के बंगाल का सूबेदार नियुक्त होने पर इनके पूर्वज सेठ बालकृष्ण उसके साथ बंगाल चले गये थे और बाद में मुर्शिदाबाद में स्थायी रूप से बस गये। उनके वंश में इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द पैदा हुए जो प्लासी-युद्ध के बाद अंग्रेजों के कोपभाजन बने। अमीचन्द के निधन के बाद उनके पुत्र फतहचन्द बंगाल छोड़कर काशी आ गये। फतहचन्द का विवाह काशी के सेठ गोकुलचन्द्र की पुत्री से हुआ। उनके हर्षचन्द्र नामक पुत्र हुए। हर्षचन्द्र के पुत्र भारतेन्दु जी के पिता गोपालचन्द्र थे। गोपालचन्द्र के पुत्र ही हरिश्चन्द्र (भारतेन्दु) हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता श्री गोपालचन्द्र जी अपने समय के सफल कवि थे। कविता और भगवद्भक्ति ही इनके व्यसन थे। प्राचीन साहित्य के अध्ययन में भी इनकी विशेष रुचि थी। इनके बनाए हुए ८० ग्रंथ कहे जाते हैं जिनमें नाटक और महाकाव्य भी हैं। आपकी काव्य रुचि का ही नैसर्गिक प्रभाव उनके पुत्र हरिश्चन्द्र पर पड़ा और वे भी शैशव में ही काव्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के विषय में प्रसिद्ध है कि जब वे केवल पांच वर्ष के ही थे उन्होंने एक दोहा बनाकर अपने पिताजी को सुनाया था। अपने पुत्र का उत्साह बढ़ाने के लिए गोपालचन्द्र जी ने उस दोहे को 'बलराम कथा-मृत' नामक ग्रंथ में स्थान दिया। शैशवावस्था में हरिश्चन्द्र जी समस्यापूर्ति-शैली से कविता करने में प्रवृत्त हुए थे और कई अवसरों पर बालक हरिश्चन्द्र ने कवि-समाज को अपनी विलक्षण प्रतिभा से विस्मय विमुग्ध किया था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का परिवार वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित था, अतः नौ वर्ष की आयु में आपका भी यज्ञोपवीत संस्कार किया गया और गोस्वामी श्री व्रजलाल जी ने गायत्री मंत्र का उपदेश दिया। इसी वर्ष आपके पिताजी की मृत्यु हुई। माता की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। फलतः आपके शिक्षाक्रम में व्याघात उपस्थित हुआ। क्वींस कालेज में नाम लिखाने पर भी नियमित रूप से पठन-पाठन नहीं हो सका। पन्द्रह वर्ष की

आयु में परिवार सहित जगदीश यात्रा के लिए पुरी गए। यह यात्रा ही इनके जीवन में परिवर्तन बिन्दु उपस्थित करने वाली सिद्ध हुई। इसी यात्रा के समय भारतेन्दु को ऋण लेने की बुरी आदत पड़ी जिसके फलस्वरूप विपुल पैतृक सम्पत्ति शनैः शनैः इनके हाथ से निकल गई और अन्त में दिवालिया होकर आपको आर्थिक कष्ट का सामना करना पड़ा। भारतेन्दु बाबू को लाखों रुपयों की पैतृक सम्पत्ति मिली थी किन्तु अपनी उदारता, दान-शीलता और व्यावहारिक अपटुता के कारण सब कुछ खोकर केवल साहित्यिक कीर्ति का ही आपने अपने जीवन में संचय किया। कहना न होगा कि वैभव विहीन होकर भारतेन्दु ने अर्थ की दासता से मुक्ति प्राप्त की और सरस्वती के भंडार को भरकर यशः शरीर को अमर बनाया।

साहित्यिक कार्यों को प्रोत्साहन देने तथा विद्याव्यसनी छात्रों और पंडितों की सहायता करने के निमित्त जिस रूप में आप दान-दक्षिणा देते थे वह राजा-महाराजाओं की वदान्यता से किसी प्रकार कम नहीं है। आर्थिक कष्ट और चिन्ता के कारण आप कभी कर्त्तव्य पराङ्-मुख नहीं हुए। क्षय रोग से घिर जाने पर भी जिस कार्य को पुनीत कर्त्तव्य समझते, अवश्य करते। फलतः पैंतीस वर्ष की अल्पायु में ही माघ कृष्ण ६, संवत् १९४१ को आपका देहान्त हो गया।

काव्य कृतियां

भारतेन्दु का रचना-क्षेत्र बहुत व्यापक है। उनके सामने साहित्य का व्यापक क्षितिज फैला हुआ था। केवल कविता तक ही सीमित रहकर साहित्य-सर्जन उनका उद्देश्य न था। अतः नाटक, निबंध, इतिहास, पत्र-पत्रिका, कहानी, आलोचना, कविता आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी प्रतिभा का उपयोग किया। आपने ९ मौलिक नाटक तथा ८ अनूदित नाटक हिन्दी साहित्य को भेंट किए। काव्य के क्षेत्र में ब्रज भाषा, उर्दू और खड़ी बोली तीनों को आपने अपनाया है किन्तु मुख्यतः ब्रज भाषा ही आपकी कविता का आधार माना जा सकता है। भक्ति-काव्य सम्बन्धी आपके छोटे-बड़े ४१ ग्रंथ उपलब्ध हैं। भक्ति के साथ शृंगार (माधुर्य भाव) को आपने अपने काव्य में अधिक स्थान दिया है। राष्ट्रप्रेम तथा राजभक्ति सम्बन्धी कविताएं भी आपने लिखी हैं। इतिहास, निबन्ध, व्याख्यान तथा पत्र-पत्रिका के क्षेत्र में भी आपकी कृतियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

हिन्दी भाषा और साहित्य के सर्वांगीण विकास की दृष्टि से भारतेन्दु की तुलना उनके पूर्ववर्ती या परवर्ती किसी भी साहित्यिक व्यक्ति से नहीं की जा सकती। साहित्य के माध्यम से जन जागरण और चेतना उत्पन्न करने में जितना योग भारतेन्दु की नानाविध रचनाओं से मिला उतना पहले के सामूहिक प्रयत्नों से भी सम्भव नहीं हुआ था। इसीलिए भारतेन्दु-साहित्य उत्तर भारत में जन जागरण का प्रतीक माना जाता है। उनकी प्रेरणा और प्रतिभा द्वारा रीतिकालीन भावधारा का पर्यवसान और नूतन विचार परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ। दरबारी कवियों की शृंगार और विलासपूर्ण कविता से जनता का ध्यान

हटाकर उसे राष्ट्रप्रेम, समाज-सुधार, देशोद्धार, देशाभिमान और देशोपकार की ओर उन्मुख करने वाले भारतेन्दु हिन्दी के प्रथम कवि हैं। स्वदेश, स्वभाषा और स्वसंस्कृति की गरिमा का गान करने में भारतेन्दु की वाणी ही सबसे पहले मुखरित हुई। रीतिकालीन काव्य-साधना का आदर्श एकनिष्ठ था। राजा-महाराजाओं को प्रसन्न-परितुष्ट करने की प्रवृत्ति उनकी काव्य प्रेरणा का मूल स्रोत था। इस एकांगी परम्परा को समाप्त करने में भारतेन्दु की प्रतिभा से ही अन्तिम अध्याय लगा और जागृति एवं जीवन विकास का नूतन काव्य प्रारम्भ हुआ। कविता को राजप्रासादों के संकीर्ण प्रांगण से निकाल कर जनता-जनार्दन के समीप ला खड़ा करने वाले आप ही थे। शताब्दियों की दासता के कारण जर्जर और म्रियमाण देश की अकर्मण्यता को दूर करने के लिए साहित्य को साधना मानने वाले गोस्वामी तुलसीदास के बाद आप पहले व्यक्ति हैं। किन्तु आपकी कविता भक्ति-भाव से परिपूर्ण होने पर भी एक-दूसरे ही साध्य की साधिका है। वह साध्य है देश, जाति और भाषा के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना का प्रचार। अपने काव्य में भावों और विचारों की नवीनता लाने के कारण भारतेन्दु को घिसी-पिटी लीक को छोड़कर नूतन राजपथ का निर्माण करना पड़ा। जातीय-जीवन को आन्दोलित करने के कारण उन्होंने काव्य शैली में स्वच्छन्दता स्वीकार की। एक द्रष्टा और क्रान्तदर्शी कवि के नाते भाषा को व्यापक फलक पर रखकर उसका प्रयोग किया। पुरातन को नवीन के श्लाघ्य कलेवर में नूतन आकांक्षाओं के साथ प्रस्तुत करना ही आपकी कला की विशेषता है।

साहित्य और समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस साहित्य में समाज की आशा-आकांक्षाएं प्रतिफलित नहीं होतीं वह साहित्य एकांगी और अपूर्ण होने के कारण चिरजीवी नहीं होता। रीतिकालीन हिन्दी कविता में साहित्य और समाज का सम्बन्ध बहुत अंशों में टूट गया था। कविगण केवल अपने आश्रयदाताओं की मनस्तुष्टि में ही अपने काव्य की इतिश्री समझ बैठे थे। भारतेन्दु युग में यह सम्बन्ध फिर से स्थापित हुआ। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दी काव्य का भारतेन्दु युग में पुनरुत्थान हुआ। उस युग की कविता में देशवासियों की समस्या, उनके विचार तथा भावना की अभिव्यक्ति हुई। देशवासियों के चित्त में आत्महीनता की जो भावना लम्बी दासता के कारण घर कर गई थी उसे भारतेन्दु ने अपनी सामाजिक कविता के द्वारा दूर करने का महान् कार्य किया। इस महान् कार्य को आलोचकों ने 'एकनिष्ठ सत्ता से लोकनिष्ठ सत्ता की ओर झुकना' कहा है।

जैसा कि हमने पहले कहा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता का विषय केवल रूढ़-परम्परा का शृंगार वर्णन न होकर धर्म, समाज, देश, राजनीति आदि था अतः उसमें व्यापकता स्वाभाविक रूप से आ गई है। यदि विषय-वस्तु की दृष्टि से आपकी कविता का विभाजन किया जाय तो निम्न क्षेत्रों में उसका विकास देखा जा सकता है:—धार्मिक कविता, सामाजिक कविता, देश-भक्ति कविता, राजनीतिक कविता तथा स्वतंत्र मुक्तक या अनुवादपरक कविता।

धार्मिक कविता

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित वैष्णव कवि थे। राधा-कृष्ण के मनोहर रूप का वर्णन, श्रृंगार-माधुर्य पूर्ण भावनाओं का अंकन तथा आत्म-समर्पण के भाव का गायन बड़े स्वाभाविक रूप से इनकी ब्रजभाषा की धार्मिक कविता में हुआ है। 'भक्त सर्वस्व' नामक आपका ग्रंथ राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी प्रस्तुत करने वाला भक्तकालीन परम्परा का ग्रंथ है। प्रारम्भ में दोहा-पद्धति में आपने राधा-कृष्ण की वन्दना की है—

जयति जयति श्री राधिका चरण जुगल करि नेम।
जाकी छटा प्रकास तें पावत पामर प्रेम॥
श्री गिरधर गोविन्द प्रति बालकृष्ण सुखधाम।
गोकुलपति रघुपति जयति जदुपति श्री घनश्याम॥

इसी भक्त सर्वस्व ग्रन्थ में आगे विविध चिह्नों के आधार पर राधा कृष्ण का सविस्तर वर्णन किया गया है। प्रेम मालिका, प्रेम सरोवर, प्रेमाश्रु वर्णन, प्रेम माधुरी, प्रेम तरंग, प्रेम प्रलाप, गीत गोविन्दानन्द, मधु मुकुल आदि अनेक ग्रंथ ब्रजभाषा में श्रृंगार भाव से परिपूर्ण माधुर्य भक्ति का व्यौरेवार वर्णन प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रंथों में भारतेन्दु जी की भाषा और शैली इतनी परिपक्व है कि रीति तथा भक्ति काल के श्रेष्ठ कवियों के साथ उनकी सहज ही में तुलना की जा सकती है। अभिव्यंजना में प्रांजलता के साथ विषयानुरूप मार्दवता और सरसता का जैसा समावेश इन ग्रंथों में भारतेन्दु जी ने किया है वह इस बात का प्रमाण है कि धार्मिक भावना की कविता में उनका मन अत्यधिक रमता था। इन ग्रंथों में भारतेन्दु जी ने पद शैली, दोहा शैली, कवित्त-सवैया शैली, भजन शैली आदि सभी शैलियों को स्वीकार किया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी इस कविता, संयोग-वियोग श्रृंगार, रूप-छवि वर्णन, दृश्य-स्थान वर्णन, भाव वर्णन सभी कुछ दृष्टिगत होता है। रूप वर्णन के जो पद भारतेन्दु की कविता में उपलब्ध होते हैं वे वैष्णव भक्त कवियों से भाव, व्यंजना, शैली या भाषा किसी में भी हल्के नहीं हैं। एक उदाहरण इस तथ्य के प्रमाणस्वरूप नीचे दिया जाता है—

आजु ब्रजछवि की छूट परै।
इत नंदलाल लाडिली उत-इत दीपक ज्योति बरै॥
उत सहचारी ललित ललितादिक मुरछल चंवर ढरै।
इत जरतार तास बागो उत भूषण झलक भरै॥
जमुना जल प्रतिबिम्ब सुहायो जल छवि मिलि लहरै।
हरीचन्द मुखचन्द मिलो सब रवि ससि गरब हरै॥

सूरदास आदि भक्त कवियों की परम्परा में हरिश्चन्द्र जी ने भगवान् कृष्ण से जो अनुनय-विनय की है वह भक्ति काव्य का सुन्दर निदर्शन है। राधाकृष्ण के प्रेम में आत्म-विभोर होकर ब्रज के लता-पत्र बनने की उत्कट आकांक्षा को व्यक्त करने वाला निम्न-

लिखित पद हिन्दी साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया है—

ब्रज के लता पता मोहि कीजै ।
गोपी-पद-पंकज की रज जामैं सिर भीजै ।।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे-श्रीराधे मुख यह वर हरीचन्द को दीजै ।।

ब्रजभूमि के प्रति अपने प्रेम का वर्णन हरिश्चन्द्र जी ने अनेक पदों में उसी प्रकार किया है जैसे राधाकृष्ण प्रेम का। दैन्य और विनय के पदों में उनकी करुण भावना एक सच्चे समर्पित भक्त की है जो भगवान् के अनुग्रह को ही भक्ति और मुक्ति समझता है। मोहन पतित पावन हैं उन्हें अपने भक्तों का उद्धार करने स्वयं आना होगा, यह ऐसा अटूट विश्वास है जो पुष्टि मार्ग का आधार माना जाता है। इसी विश्वास भूमि पर हरिश्चन्द्र ने भी कृष्ण की भक्त वत्सलता का वर्णन किया है—

भरोसो रीझन ही लखि भारी ।
हमहूं को विश्वास होत है, मोहन पतित-उधारी ।।
जो ऐसो सुभाव नहिं हो तो क्यों अहीर कुल भायो ।
तजि कै कौस्तुभ सो मनिगल क्यों गुंजाहार धरायो ।।
क्रीट मुकुट सिर छाडि पखौआ मोरन को क्यों धार्यो ।
फेंटिकसी टेंटिन पै मेवन को क्यों स्वाद विसार्यो ।।
ऐसी उलटी रीझि देखिकै उपजत है जिय आस ।
जग निन्दित हरिचन्दर को अपनावहिंगे करि दास ।।

वैष्णव भक्ति भावना का पोषण करने वाले पदों की हरिश्चन्द्र जी की कविता में अत्यधिक मात्रा है। उनकी भाव भूमि नवीन न होने पर भी भावना की तन्मयता और लीन करने की अपरिमेय शक्ति है। साधारणतः यदि एक ही भाव की व्यंजना बार-बार की जाय या पूर्ववर्ती कवियों के वर्णित वस्तु-विषय के आधार पर की जाय तो पाठक उसमें लीन नहीं होता, उसे पिष्टपेषण की ध्वनि आती रहती है और वह अनुभव करता है कि यह कवि मौलिकता विहीन पुनरावृत्ति परायण है। किन्तु भारतेन्दु के पदों में भंगिमा की विलक्षणता के कारण पिष्टपेषण या पुनरावृत्ति का भाव व्याकुल नहीं करता।

माधुर्य भाव और प्रेम

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता का चरमोत्कर्ष माधुर्य भाव पूर्ण भक्ति या श्रृंगार की व्यंजना में दृष्टिगत होता है माधुर्य भाव की भक्ति का आधार श्रृंगार रस ही है। जिस प्रकार लौकिक श्रृंगार में हम प्रिया-प्रियतम की काम-विलास चेष्टाओं का वर्णन पढ़कर रतिभाव में निमज्जित होते हैं वैसे ही माधुर्य-भक्ति में भी इन्हीं बाह्य चेष्टाओं का भक्ति में पर्यवसान करके आनन्दानुभूति करते हैं। ब्रज के कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में इस प्रकार की भक्ति का बहुत प्रचार हुआ और चार सौ वर्ष तक भक्तगण श्रृंगार की विविध

रूप-रेखाओं का ही वर्णन करके भक्ति रस का आनन्द उठाते रहे। माधुर्य भाव का पोषण संयोग और विप्रलम्भ दोनों शैलियों से होता है। भारतेन्दु की भारती संयोग की अपेक्षा वियोग को चित्रित करने में अधिक सफल हुई है। प्रिय के वियोग में प्रियतमा का विषण्ण होना भारतेन्दु ने रीतिकालीन शृंगार पद्धति से वर्णित किया है। उसमें लौकिक नायक-नायिका भेद के विप्रलम्भ का पूरा उत्कर्ष देखा जा सकता है। कृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों का वर्णन जिस सरस शैली से भारतेन्दु ने किया है वह देव, मतिराम और पद्माकर सदृश कला सिद्ध कवियों से टक्कर लेता है—

मन मोहन तें बिछुरीं जब सों तन आसुनसों सदा धोवती हैं।
हरिचन्दजू प्रेम के फन्द परीं कुल की कुल लाजहिं खोवती हैं॥
दुख के दिन को कोऊ भांति बितै विरहागम रैन संजोवती हैं।
हमहीं अपनी दसा जानैं सखी निसि सोवती हैं किधौं रोवती हैं॥

हमहूं सब जानतीं लोक की चालहि क्यों इतनो बतरावती हौ।
हित जामें हमारो बनै सो करो सखियां तुम मेरी कहावती हौ॥
हरिचन्दजू या में न लाभ कछू हमैं बातन को बहरावती हौ।
सजनी मन पास नहीं हमरे तुम कौन को का समुझावती हौ॥

'प्रेम माधुरी' ग्रंथ में भारतेन्दु की प्रेम विषयक कविताओं का संग्रह इस बात का प्रमाण है कि माधुर्य और प्रेम का परिपूर्ण परिपाक उनकी रचनाओं में हुआ था और प्रेम के अन्तरंग मर्म को उन्होंने भली भांति समझा था। प्रेम विह्वल गोपियों को समझाने उद्धव ज्ञान का उपदेश लेकर उनके पास आये। गोपियां कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए बेचैन थीं, उन्हें सूक्ष्म ज्ञान से उपलब्ध ब्रह्म की प्राप्ति अभीष्ट न थी। अतः उन्होंने बड़े खरे शब्दों में उद्धव को लौट जाने को कहा—

व्यापक ब्रह्म सबै थल पूरन हैं हम हूं पहिचानती हैं।
पै बिना नंदलाल विहाल सदा हरिचन्द न ज्ञानहि ठानती हैं॥
तुम ऊधो यहै कहियो उनसों हम और कछू नहिं जानती हैं।
पियए यारे तिहारे तिहारे बिना अंखियां दुखियां नहीं मानती हैं॥

ऊधो जू सूधो गहो वह मारग
ज्ञान की तेरे जहां गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहै ह्यां इक
श्याम की प्रीति प्रतीति खरी है॥
ये ब्रजबाला सबै इक सी
हरिचन्दजू मंडली ही बिगरी है।
एक जो होय तो ज्ञान सिखाइये
कूप ही में यहां भांग परी है॥

कृष्ण के विरह में गोपियों की मानसिक स्थिति बड़ी उद्विग्न है। वे लाल के दर्शन के लिए दर-दर मारी फिर रही हैं। वन, पर्वत, और वीहड़ रेगिस्तान में चक्कर काटती हुई निराश हो जाती हैं। पैरों में छाले पड़ जाते हैं किन्तु श्याम के दर्शन नहीं होते—इस दशा का मार्मिक चित्र पूरी कला व्यंजकता के साथ भारतेन्दु ने अंकित किया है—

काले परे कोस चलि चलि थक गये पाय,
सुख के कसाले परे ताले परे नस के।।
रोय रोय नैनन में राले परे जाले परे,
मदन के पाले परे प्रान पर-बस के।।
हरिचन्द अंगहू हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे तन बल खस के।।
पगन में छाले परे, नाघि बे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।।

प्रेम का जैसा उदात्त रूप भारतेन्दु ने अपनी कविता में व्यक्त किया है वैसा रीतिकालीन कवियों में न्यून मात्रा में ही दीख पड़ता है। भारतेन्दु की कविता का मूल्यांकन करते समय प्राय: उनके गद्य युग प्रवर्त्तक या नाटककार की ओर ही आलोचकों का अधिक ध्यान गया है। यदि उनके कवि रूप के इस पार्श्व पर विवेचनात्मक शैली से विचार किया जाय तो उनकी कविता का स्तर बहुत ऊँचा सिद्ध होगा। प्रेम विषयक उनकी कविताओं में वचन वैदग्ध्य, वक्रता, मुहावरे और लोकोक्ति सभी का समावेश हुआ है। प्रेम प्रलाप और प्रेम तरंग ग्रंथों की शैली बिल्कुल नवीन है—राग-रागनियों में पद योजना के साथ लोक-गीतों की शैली लावनी, हिण्डोला, मलार आदि का भी प्रयोग किया गया है।

भारतेन्दु की धार्मिक कविताओं के मध्य जिस माधुर्य भावपूर्ण प्रेम का प्रस्फुटन हुआ है उसका वर्णन ऊपर किया गया। प्रेम का शृंगार भाव की भूमि पर भी आपने बड़ी सरस शैली से वर्णन किया है। पद शैली के अतिरिक्त कवित्त और सवैया की मनोहारी पद्धति को स्वीकार कर भी आपने भाव व्यंजना की है। नायिका भेद का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करने वाला निम्नलिखित सवैया आपकी काव्य कला का सुन्दर निदर्शन है—

सिसुताई अजों न गई तन तें तऊ जोबन जोति बटोरे लगी।
सुनि के चरचा हरिचन्द की कान कछूक दै भौंह मरोरे लगी।।
बचि सासु जेठानिन सों पियतें दुरि घूंघट में दृग जोरे लगी।
दुल ही उलही सब अंगन तें दिन द्वैतें पियूष निचोरै लगी।।

रसराज शृंगार की विविध मनोदशाओं को अंकित करने वाले पद भारतेन्दु की कविता में इतने अधिक हैं कि कभी-कभी उनके शृंगारी रीतिकालीन कवि होने का भ्रम होता है किन्तु उनके काव्य का सर्वांगीण पर्यालोचन करने के बाद यही स्थिर होता है कि उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में परम्परा का निर्वाह करते हुए भी रीति कालीन शृंगार भाव तक अपने को सीमित नहीं बनाया। रीति काव्य की पद्धति केवल भावुकता तथा काव्य-

कला के लिए है। उनका अभीष्ट और अभिप्रेय विषय तो देश प्रेम और ईश्वर प्रेम ही था।

राष्ट्र प्रेम और अतीत गौरव

भारतेन्दु ने काव्य निर्माण को एक विशेष उद्देश्य से ग्रहण किया था। केवल अपना मनोरंजन या किसी आश्रयदाता का मन बहलाव उनका उद्देश्य न था। जिस विशिष्ट ध्येय को सामने रखकर वे साहित्य सर्जन में जुटे थे वह राष्ट्रोत्थान या समाज-सुधार के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। उन्होंने अपने इतिहास, नाटक, निबंध, कविता सभी में देशप्रेम के स्वर को सबसे अधिक तीव्र रखा है। यहां तक कि ईश्वर भक्ति विषयक कविता में भी इसका संधान किया जा सकता है। नाटकों में आपने ऐसे प्रसंगों की उद्भावना कर ली है जहां देश की स्थिति का चिन्तन आशा और निराशा के साथ, हर्ष और विषाद के साथ किया जा सके। भारत की वर्तमान स्थिति को लक्ष्य करके आर्त्त स्वर में कवि पुकार उठता है—

हाय वहै भारत भुव भारी, सब ही विधि सों भयो दुखारी।
रोम ग्रीस पुनि निज बल पायो, सब विधि भारत दुखी बनायो।।

भारतवर्ष के अतीत गौरव की ओर संकेत करने वाली कविताओं में भी देशप्रेम का करुण स्वर गूंजता हुआ सुनाई देता है।

जहं शाक्य भए हरिचन्दरु नहुष ययाती,
जहं राम युधिष्ठिर वासुदेव सर्याती।
जहं भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती,
तहं रही मूढ़ता कलह अविद्या राती।
अब जहं देखहु तहं दुःख दिखाई,
हा, हा, भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

भारत के अतीत गौरव का स्मरण कराने वाले ये महापुरुष तथा अनेक वैभवशाली प्राचीन जनपद और नगर कवि के मानस में इस रूप में उभर कर आते हैं कि उनका महत्व और गौरव उसे व्यथित कर देता है। कहीं-कहीं इसी कारण उसकी कविता में नैराश्य और क्षोभ की छाया भी दृष्टिगत होने लगती है। कवि कह उठता है कि इस विपन्न दशा से तो यही अच्छा था कि ये नगर और कीर्त्तिस्तम्भ जीवित ही न रहते। भारत की दुर्दशा से खिन्न होकर वे पुकार उठते हैं 'कहां, करुनानिधि केशव सोये'। पराधीनता के पाश में जकड़े हुए देश की आर्थिक स्थिति पर कवि का ध्यान सतत बना रहा है। उसने ब्रिटिश राज्य का समर्थन करते हुए भी टैक्स और धनाभाव को आंखों से ओझल नहीं होने दिया है। उनकी देशप्रेम विषयक कविताओं में केवल क्रन्दन, आर्त्तनाद या विलाप ही नहीं है वरन् उनमें प्रबोधन, उत्तेजन और जागरण का प्रबल संदेश भी है।

सामाजिक कविता

प्रबुद्ध कवि की दृष्टि अपने युग के समाज पर पड़े बिना नहीं रहती। युगीन समस्याओं के साथ वह युगीन समाज के पतन और उत्कर्ष को भी अपनी काव्यधारा में स्थान देता है। भारतेन्दु युग-चेतना से ओतप्रोत जागरूक कोटि के समर्थ कवि थे। उनकी दृष्टि जहां एक ओर ईश्वर भक्ति और माधुर्य-शृंगार की ओर गई वहां देश और समाज की परिवर्तित दशा को भी उन्होंने पूरी तन्मयता के साथ निहारा। रूढिग्रस्त जर्जर हिन्दू समाज के अधः-पतन को उन्होंने नैराश्य के साथ देखा और उसके उद्धार के उपायों पर गंभीरता के साथ विचार किया। समाचारपत्रों द्वारा उन्होंने समाज सुधार के आन्दोलनों का सूत्रपात किया। आर्य समाज के द्वारा समाज सुधार का जो व्यापक कार्य प्रारम्भ हुआ था, उसे हिन्दुत्व की रक्षा के साथ नवीन रूप से भारतेन्दु ने ग्रहण किया। भारतेन्दु बाबू कट्टर वैष्णव सनातनी थे। किन्तु वे समाज में रूढियों और अंधविश्वासों के पोषक न थे। आर्य समाज की खंडन प्रणाली उन्हें पसन्द नहीं थी किन्तु भौतिकता की आंधी में बह कर उन्होंने देश का कल्याण स्वीकार नहीं किया। वे सुधारवादी विचारधारा के पोषक थे अतः भारत-दुर्दशा नाटक में उन्होंने पुराणपंथी प्रेत-भूत पूजकों पर गहरा व्यंग्य किया है—

रचि बहुविधि के वाक्य पुरारन माँहि घुसाए,
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगट चलाए।
जाति अनेकन करी ऊंच अरु नीच बनायो,
खान-पान-सम्बन्ध सबनि सों वरजि छुडायो।
बहुदेवी देवता भूत-प्रेतादि पुजाई,
ईश्वर सों सब विमुख किये हिन्दू घबराई॥

स्त्री शिक्षा, छुआछूत, विदेश यात्रा, अंग्रेजी शिक्षा आदि विषयों को बड़े उत्साह के साथ भारतेन्दु ने अपनी कविता में स्थान दिया। यथार्थ में भारतेन्दु से पहले सामाजिक कविता का सर्वथा अभाव था। इस कविता ने समाज में नवजीवन संचार कर उसे अंध-विश्वासों के कर्दम से बाहर निकाल उन्नति पथ पर बढ़ने की अपूर्व प्रेरणा दी। इस कविता की दूसरी विशेषता यह भी है कि काव्य के द्वारा समाज का तात्कालिक चित्र पाठक के समक्ष आ सका।

स्फुट काव्य

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त भारतेन्दु ने स्फुट विषयों को भी कविता के लिए स्वीकार किया। कुछ विषय तो शृंगार रस वर्णन के व्याज से आ गये हैं जैसे नेत्र, आंसू, आरसी आदि तथा कुछ विषय परम्परा पालन के कारण ग्रहण किये गये। समस्या पूर्ति के लिए रचित कविताएं स्फुट काव्य में ही परिगणित की जाएंगी किन्तु उनमें काव्य सौन्दर्य क मात्रा बहुत अधिक है। यदि काव्य सौष्ठव के आधार पर इनका मूल्यांकन किया जाय

तो इनमें बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का काव्य गुण उपलब्ध होगा। दरबारी कवियों की यह विशेषता मानी जाती थी कि वे आशु काव्य-रचना में प्रवीण हों और सद्यः प्रस्तुत समस्या की पूर्ति करने में समर्थ हों। भारतेन्दु ने शैशवावस्था से ही इस कला की शिक्षा पाई थी और कवियों की संगति में समस्या पूर्ति का अच्छा परिचय दिया था। एक समस्या है 'राम बिना बेकाम सभी' उसकी पूर्ति देखिए—

राज पाट हय गज रथ प्यादे बहु विधि अन धन धाम सभी,
हीरा मोती पन्ना मानिक कनक मुकुट उर दाम सभी॥
खाना पीना नाच तमाशा लाख ऐश आराम सभी।
जैसे व्यंजन नमक बिना त्यों राम बिना बेकाम सभी॥

इसी प्रकार एक अन्य समस्या है—'ग्रीषमै प्यारे हेमन्त बनाइये'

भोज मरे विक्रमहू किनको अब रोई कै काव्य सुनाइये।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइये॥
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्है दरसाइये।
नाहक देनी समस्या अबै यह 'ग्रीषमै प्यारे हेमन्त बनाइये'॥

पहेलियां और मुकरियां लिखकर भी भारतेन्दु ने अपनी हास्य-विनोद प्रियता तथा व्यंग्य कटाक्ष क्षमता का अच्छा परिचय दिया है। कुछ मुकरियां तो प्रखर वाण वर्षा के समान अपने लक्ष्य को भेदने में समर्थ हैं। उदाहरण देखिए—

भीतर-भीतर सब रस चूसै,
हंसि-हंसि के तन मन धन मूसै।
जाहिर बातन में अति तेज,
क्यों सखि सज्जन नहिं अंगरेज॥

नई-नई नित तान सुनावै,
अपने जाल में जगत फंसावै।
नित-नित हमैं करै बलसून,
क्यों सखि सज्जन नहिं कानून॥

राजभक्ति, विक्टोरिया वन्दना, प्रकृति वर्णन आदि विषयों पर भी भारतेन्दु की दृष्टि गई। राजभक्ति उनके मन की सहज अभिव्यक्ति नहीं है। अंग्रेज जाति की परिश्रम-शीलता, कार्यनिष्ण और भौतिक उन्नति से वे प्रभावित अवश्य थे किन्तु इस कारण राजभक्ति का आलाप उन्होंने नहीं गाया। उस युग की परिस्थितियों को ध्यान में रख-कर विद्रोह का झंडा उठाना कदाचित् भारतेन्दु ने उचित नहीं समझा। सन् १८५७ का विद्रोह उनके सामने था, अतः अंग्रेजों को चुनौती देकर कुछ करा लेना सम्भव नहीं था।

प्रकृति वर्णन सम्बन्धी भारतेन्दु जी की कविताएं प्रायः परम्परामुक्त शैली से लिखी गई हैं। उनमें प्रकृति को शुद्ध आलम्बन का उच्च स्थान नहीं मिल सका है। गंगा, यमुना

और सूर्योदय के प्रासंगिक वर्णन जो नाटकों में आये हैं, प्रकृति वर्णन के सुन्दर उदाहरण हैं। रीतिकालीन कवियों ने जिस प्रकार प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया, उसी प्रकार वर्णन करने पर भी भारतेन्दु उसे आलम्बन रूप में चित्रित नहीं कर सके।

उर्दू भाषा में भी भारतेन्दु जी 'रसा' उपनाम से शायरी करते थे। उनकी उर्दू-कविता को पढ़कर प्रतीत होता है उन्होंने उर्दू का अच्छा अभ्यास किया था। साहित्यिक उर्दू की जैसी रवानगी एक समर्थ कवि में होनी चाहिए वैसी भारतेन्दु की शायरी में है—

नींद आती ही नहीं धड़के की बस आवाज से।
तंग आया हूं में इस पुरसोज के दिल साज से॥
कब्र में सोये हैं हम मशहूर का नहीं खटका 'रसा'
चौंकने वाले हैं कब हम सूर की आवाज से॥

भारतेन्दु की काव्य कला केवल मौलिक रचनाओं तक ही सीमित नहीं रही वरन् उन्होंने बंगला और संस्कृत से अनुवाद करके भी अपनी काव्य शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। संस्कृत के मुद्राराक्षस नाटक का जिस कुशलता से आपने अनुवाद किया है वह इस बात का प्रमाण है कि भारतेन्दु का संस्कृत भाषा पर भी पूर्णाधिकार था। अनुवाद करते समय मूल भाव की रक्षा तथा उसमें सहजता की सृष्टि करना बड़ा दुष्कर होता है किन्तु भारतेन्दु ने यह कार्य बड़ी सफलता के साथ पूर्ण किया है। गीतगोविन्द के पदों का अनुवाद करने में भी भारतेन्दु ने अपनी अनुवाद कला की सफल शैली का परिचय दिया है।

काव्य सौष्ठव

भारतेन्दु के काव्य विषयों पर दृष्टिपात करने से यह लक्षित होता है कि उन्होंने प्रबंध काव्य लिखने का कोई प्रयास नहीं किया। रीतिकालीन कवियों की भांति आप भी मुक्तक छन्दों का संग्रह कर उन्हें विविध नामों से प्रकाशित कराते रहे। गेय पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, दोहा और सोरठा आदि छन्दों की ओर ही आपका ध्यान अधिक रहा। रस की दृष्टि से भक्ति तथा शृंगार ही इनके विशेष प्रिय थे। माधुर्य भक्ति के अनुयायी होने के कारण शृंगार के संयोग और वियोग पक्ष को समान रूप से आपने स्वीकार किया और उसके मार्मिक रूपों की व्यंजना भी बड़े कौशल के साथ की।

भाषा के परिमार्जन का प्रश्न भारतेन्दु के समक्ष दो रूपों में आया था। एक तो भाषा विषयक सामयिक समस्या थी जिसे सुलझाने के लिए आपने 'मध्यम मार्ग' का अवलम्बन किया था। दूसरा प्रश्न ब्रजभाषा के परिष्कार का भी था। जटिल और दुरूह ब्रजभाषा को लोक-भावन रूप में सरल करने का प्रयास उस युग में अकेले भारतेन्दु ने किया जो लावनी आदि लोक गीतों के माध्यम से उन्होंने किया। पदों में भी सरल एवं व्यवहार में प्रचलित शब्दों को स्थान देने की प्रवृत्ति से ब्रजभाषा की क्लिष्टता एवं दुरूहता हटी। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा को टकसाली बनाने की आपकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से रही है। फलतः ब्रजभाषा की रचना में भी मुहावरों की सरस छटा देखने में

आती है। कुछ उदाहरण देखिए—

प्रीतम पियारे नंदलाल बिनु हाय यह,
सावन की रात किधौं द्रोपदी की सारी है।

कान्ह भए प्रानमय, प्रान भए कान्हमय,
हिय में न जानी परै कान्ह है कि प्रान है।

पगन में छाले परैं, नांघिवे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के।

लोकोक्तियां भी देखिए—

'हरिचन्द न काहू को दोष कछू मिलिहै सोइ भाग में जो उतर्यो'
'सांची भई कहनावति या अरी ऊंची दुकान की फीकी मिठाई'
'हाय सखी इन हाथन सौं अपने पग आप कुठार मैं दीनो।'

भारतेन्दु के समक्ष खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों के परिष्कार और परिनिष्ठित बनाने का प्रश्न था। गद्य के क्षेत्र में तो उन्होंने अपने आदर्श निश्चित कर लिये थे और उनका प्रयोग अपने निबंधों तथा नाटकों में किया था। किन्तु पद्य के क्षेत्र में निश्चित आदर्श स्थिर करके चलना अपेक्षाकृत कठिन कार्य था। वे चाहते अवश्य थे कि खड़ी बोली गद्य के साथ पद्य के क्षेत्र में व्यवहार्य बने किन्तु ब्रजभाषा की तुलना में उसमें माधुर्य और मसृणता का उस समय अभाव था। इसीलिए ब्रजभाषा को उन्होंने भक्ति और शृंगार की अभिव्यक्ति का साधन बनाए रखा किन्तु उसमें भी परिष्कार करना उन्हें उचित प्रतीत हुआ। कुंठित और कर्कश, क्लिष्ट और अव्यवहार्य शब्दों का त्याग करके प्रचलित और सरस शब्दों को स्थान देना उनकी विशेषता है। प्रसाद, माधुर्य और ओज गुण में से उन्होंने माधुर्य को सबसे प्रमुख स्थान दिया। भक्ति और शृंगार की रचनाओं में माधुर्य भाव की स्निग्ध छटा देखने में आती है। प्रसाद गुण उनकी खड़ी बोली की कविताओं में विशेष रूप से दृष्टिगत होता है।

काव्य के प्रसाधन में अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान स्वीकार किया जाता है। भारतेन्दु अलंकारवादी न होते हुए भी अलंकारों की उपयोगिता से परिचित थे और उनका यथास्थान पूरी तरह से उपयोग करते थे। सांग रूपक, यमक, श्लेष, अप्रस्तुत प्रशंसा, अन्योक्ति, समासोक्ति, संदेह, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि विविध अलंकारों की छटा आपकी कविता में दृष्टिगत होती है।

संक्षेप में, भारतेन्दु की साहित्य-साधना का उद्देश्य उनकी प्रत्येक रचना में स्पष्ट देखा जा सकता है। मुख्यतः देशोद्धार या समाज सुधार ही उनकी वाणी का मूल स्वर था जिसे विविध रूपों में उन्होंने व्यक्त करने की चेष्टा की है। भारतेन्दु के सम्पूर्ण साहित्य पर दष्टिपात करें तो प्रतीत होगा कि वे युग-प्रवर्त्तक और युगान्तरकारी कलाकार हैं। उनके

विषय नये हैं, उनकी भाषा नई है, उनकी शैली और परिधान में अभिनव दीप्ति और कान्ति है। उन्हें हिन्दी साहित्य की नवचेतना का जाज्वल्यमान प्रतीक कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। उनकी कविता में स्वदेश, स्वजाति, स्वभाषा और स्वधर्म का सामूहिक स्वर स्पष्ट रूप से प्रतिध्वनित होता हुआ सुनाई देता है।

२. श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

जीवन-वृत्त

खड़ी बोली के सर्वप्रथम महाकाव्य प्रणेता पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय का नाम महाकवि के रूप में खड़ी बोली भाषा के साहित्य के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। श्री हरिऔध का जन्म वैशाख कृष्णा ३, संवत् १६२२ को निजामाबाद जिला आजमगढ़ में हुआ। आपके पूर्वजों ने सिख धर्म में दीक्षा ग्रहण कर ली थी अतः आप भी आजीवन सिख धर्म की मर्यादाओं का पालन करते रहे। हरिऔध जी को स्कूल में ऊंची शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य नहीं हुआ किन्तु घर पर फारसी, संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा प्राप्त की। नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आप मिडिल स्कूल में अध्यापक हुए किन्तु बाद में कानूनगो का पद स्वीकार कर लिया और इसी पद पर सदर कानूनगो होकर अवकाश ग्रहण किया। सरकारी नौकरी से अवकाश प्राप्त करने के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अवैतनिक प्राध्यापक के रूप में १८ वर्ष तक कार्य किया। ६ मार्च, सन् १६४७ को आपका निज़ामाबाद में देहान्त हुआ।

हरिऔध जी भारतेन्दु काल में उत्पन्न हुए, द्विवेदी युग में काव्य रचना प्रारम्भ की और छायावाद तथा प्रगतिवाद युग तक जीवित रहकर हिन्दी साहित्य की विविध प्रवृत्तियों को आंकते रहे। आपका रचना काल लगभग ४० वर्ष है। इतने दीर्घ काल तक कार्य करने के फलस्वरूप आपकी रचनाओं में भाव एवं व्यंजना दोनों में ही वैविध्य होना स्वाभाविक है। उनके साहित्य में भाषा के उतार-चढ़ाव का सुन्दर समन्वय हुआ है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का आविर्भाव उस युग में हुआ जिसे खड़ी बोली के पद्य-साहित्य का निर्माण काल कहा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि उस समय खड़ी बोली हिन्दी का व्यवस्थित स्वरूप उपस्थित करना साहित्य-स्रष्टाओं के सामने प्रथम प्रश्न के रूप में उपस्थित था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने जहां अव्यवस्थित खड़ी बोली को व्यवस्थित रूप प्रदान किया, वहां कवियों और लेखकों का मार्ग-प्रदर्शन भी किया। हिन्दी को एक सीमित परिवेश में से निकाल विशद, विस्तृत प्रांगण में फलने-फूलने का अवसर प्रदान किया। उनसे पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी हिन्दी साहित्य के अभावों की पूर्ति करने का भरसक प्रयास किया था। किन्तु कविता के क्षेत्र में भारतेन्दु अपने को पूर्ण रूप से रीतिकालीन प्रभावों से मुक्त नहीं कर सके थे; द्विवेदी जी के आश्रय में अनेक नए कवि और लेखक आए और साहित्य सेवा

की। अयोध्यासिंह उपाध्याय द्विवेदी-मंडल के कवियों अथवा लेखकों के अन्तर्गत तो नहीं आते किन्तु इनकी प्रवृत्ति पूर्णरूपेण द्विवेदी जी के विचारों के अनुकूल अथवा प्रभावित थी। हरिऔध जी का भी दृष्टिकोण निर्माणात्मक और सुधारवादी था। उन्होंने मुख्यतः हिन्दी के तत्कालीन साहित्यिकों के सामने आदर्श प्रस्तुत करने के लिए एक नूतन दृष्टिकोण से साहित्य निर्माण का कार्य उठाया था।

अयोध्यासिंह उपाध्याय खड़ी बोली साहित्य-प्रासाद के निर्माण काल में अपनी सरल भावपूर्ण कला को लेकर अवतीर्ण हुए। उन्होंने काव्य के प्रायः सभी प्रमुख रूपों में (मुक्तक काव्य, महाकाव्य, नाटक, उपन्यास आदि में) अपनी कला का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त रीतिशास्त्र का भी प्रणयन किया और भाषा को शक्ति प्रदान करने के लिए भी कुछ कृतियों की सृष्टि की। उपाध्याय जी की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। उन्होंने बाल, युवक-युवती, प्रौढ़ सभी की रुचि के उपयुक्त साहित्य प्रस्तुत किया है।

साहित्य-सर्जन

हरिऔध जी की प्रारम्भिक रचनाएं ब्रजभाषा में प्राप्त होती हैं। सर्वप्रथम हरिऔध जी ने मुक्तक काव्य—हरिऔध शतक (कृष्ण शतक)—की रचना की। इसमें कृष्ण सम्बन्धी सौ दोहे संकलित हैं। हरिऔध जी की अवस्था इस समय १७ वर्ष की थी अतः विषयानुरूप प्रौढ़ता और अनुभूति का अभाव इस रचना में स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। इसमें न मौलिकता है और न विलक्षणता। अपने परिवार के धार्मिक संस्कारों से प्रभावित होकर इस विषय को इन्होंने स्वीकार किया था। इनमें कलात्मक सौन्दर्य का प्रायः अभाव है। हरिऔध जी की प्रारम्भिक कविताओं के तीन और संग्रह 'प्रेमाम्बु वारिधि', 'प्रेमाम्बु प्रस्रवण' और 'प्रेमाम्बु प्रवाह' के नाम से प्राप्त होते हैं। इनका भी विषय कृष्ण से सम्बन्धित है। इनमें कृष्ण को परब्रह्म और मानव दोनों ही रूपों में चित्रित किया है। ईश्वर-सम्बन्धी धारणा जो उनके उत्तरकालीन साहित्य में प्राप्त होती है उसका यहां आभास-मात्र मिलता है। जहां कवि ने कृष्ण का परब्रह्म रूप चित्रित किया है वहां काव्य नीरस है, किन्तु जहां कृष्ण का मानव रूप में चित्रण हुआ है वहां सरसता और काव्य-शिल्प का सुन्दर रूप दृष्टिगत होता है।

कृतित्व में विविधता

हरिऔध जी ने नाटक साहित्य में भी योगदान दिया। 'रुक्मिणी परिणय' और 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' कृष्ण कथा साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। नाट्य शास्त्र की दृष्टि से इन नाटकों का विशेष मूल्य नहीं है। इनमें नाट्य तत्वों और नाट्य-संधियों का पूर्ण-रूपेण निर्वाह न होने के कारण औत्सुक्य भाव का ह्रास हो गया है। बीच-बीच में पद्य का प्रयोग होने के कारण से काव्य रसिकों को इसमें रस प्राप्त हो सकता है। इन नाटकों में कृष्ण, मानव या अवतारी रूप में चित्रित हुए हैं।

इसी काल में हरिऔध जी की कला में धीरे-धीरे प्रौढ़ता आती जा रही थी। नाटक से अब उपन्यास की ओर उनकी प्रवृत्ति झुकी। अंग्रेज विद्वान् डाक्टर ग्रियर्सन के अनुरोध पर आप ने ठेठ हिन्दी में 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' दो उपन्यास लिखे। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' जैसा नाम से ही प्रतीत होता है ठेठ हिन्दी का ठाठ दिखाने के अभिप्राय से लिखा गया, औपन्यासिक दृष्टि से नहीं। भूमिका में ठेठ हिन्दी का स्वरूप निर्धारित करते हुए आप लिखते हैं—

"ठेठ हिन्दी वह है—जैसा शिक्षित लोग आपस में बोलते-चालते हैं, भाषा वैसी ही हो गंवारू न होने पाए। उसमें दूसरी भाषा अरबी, फारसी, तुरकी और अंग्रेजी इत्यादि का कोई शब्द शुद्ध रूप में या अपभ्रंश रूप में न हो। भाषा अपभ्रंश संस्कृत से बनी हो, और यदि कोई संस्कृत शब्द उसमें आवे भी तो वही जो अत्यंत प्रचलित हो और जिसको एक साधारण जन भी बोलता है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपन्यास लिखना गौण कार्य था। पुस्तक प्रकाशित होते ही सिविल सर्विस की परीक्षा में पाठ्य ग्रंथ के रूप में स्वीकृत हुई। भाषा के कारण ही इसे ग्रहण किया गया।

हरिऔध जी का संस्कृत साहित्य और संस्कृत काव्यशास्त्र से पूर्ण परिचय था। काव्यशास्त्र विषयक इनकी जानकारी गम्भीर थी। अतः आपने 'रस' से सम्बन्धित 'रसकलस' नाम से रीतिशास्त्र लिखा। इस ग्रंथ में आपने आचार्य कर्म का संतुलित रूप में निर्वाह किया है। हरिऔध जी रससिद्ध कवि थे। 'रसकलस' में नव रस, स्थायी भाव, विभाव-आलम्बन उद्दीपन, नायिका भेद, नख शिख, सखी दूती, अनुभाव, संचारी भाव, षट्ऋतु आदि का अंग-प्रत्यंग के रूप में सूक्ष्म और विशद विवेचन मिलता है। हरिऔध जी ने सभी रसों को समान महत्व दिया है। हरिऔध जी का श्रृंगार रस का विवेचन बहुत संयमित और संतुलित है। उन्होंने कुछ मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं। नायिका-भेद में परम्परागत नायिकाओं के विवेचन के साथ-साथ कुछ नई नायिकाओं का भी परिचय दिया है जो वर्तमान युग में पाई जाती हैं। राष्ट्रीय और जातीय सेवाकार्य में भाग लेने के कारण से नारी का स्वरूप सीमित नहीं रहा। अतः आपने लोक सेविका, देश प्रेमिका, जाति प्रेमिका आदि नायिकाओं से नायिका भेद को व्यापक किया। इसी भांति वीर रस में समाज सेवा करने वाले कर्मवीरों की भी सृष्टि की है। हरिऔध जी ने 'रसकलस' की भूमिका में विभिन्न आक्षेपों का भी उत्तर दिया है। अद्भुत रस के विवेचन में रहस्यवादी रचनाओं का समावेश हो गया है।

'रसकलस' हरिऔध जी का पांडित्य और गहन अध्ययनपूर्ण ग्रंथ है। आज यह हिन्दी जगत् में रस सम्बन्धी उत्तम ग्रंथ माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'स्वर्ण कलश' कहा है। हरिऔध जी ने रस के लक्षण रूप में अपनी कविताओं का प्रयोग किया है। अधिकतर पूर्वरचित कविताओं का प्रयोग है और आवश्यकतानुसार नई कविताओं की रचना भी की है। 'रसकलस' लक्षण ग्रंथ होते हुए भी काव्य की मार्मिकता और

स्वाभाविकता को बनाए हुए है। पदों में संगीतात्मक और काव्यात्मकता का पूर्ण समन्वय मिलता है। 'रसकलस' की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है।

हरिऔध की प्रतिभा ने जहां पण्डित और भावुक समाज को प्रसन्न किया है, वहां बच्चों का भी मनोरंजन किया है। हरिऔध जी हिन्दी के प्रथम कवि हैं जिन्होंने बाल-साहित्य का निर्माण किया। हरिऔध ने मनोवैज्ञानिक आधार पर बालोपयोगी शिक्षात्मक कविताएं लिखीं जो अपनी सरलता में मनोरंजन प्रधान हैं। हरिऔध की प्रतिभा की महत्ता इसी में सर्वोपरि है कि वह सरल से सरल और कठिन से कठिन भाषा लिखने में समर्थ हैं। 'पारिजात' आपकी स्फुट रचनाओं का विशाल संग्रह है जो आपके काव्य के उतार-चढ़ाव का अच्छा परिचय देता है। इस संग्रह की रचनाओं को पढ़कर कवि की विविध प्रवृत्तियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। रहस्यभावना का भी इनकी कविता में अच्छा स्फुरण हुआ है। एक उदाहरण देखिए—

> **"भेद तब कैसे बतलाएँ, भेद जब जान नहीं पाते।**
> **फूल क्यों महक-महक कर यों, दूसरों को हैं महकाते॥**
> **किस लिए खिल-खिल हँसते हैं, किस लिए वे मुसकाते हैं।**
> **देख करके किस की रंगत, फूल फूले न समाते हैं॥**

कहना न होगा कि इस कविता की रहस्यवादिता न तो अस्पष्ट है और न ऐसी है जो उलझाने वाली हो।

खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य

खड़ी बोली में प्रथम महाकाव्य लिखने का श्रेय अयोध्यासिंह उपाध्याय को ही प्राप्त होता है, अभी तक हरिऔध जी ने ब्रजभाषा में कविताएं की थीं, किन्तु अपना महाकाव्य प्रियप्रवास खड़ी बोली में प्रणीत किया। यह संस्कृत वर्णवृत्तों में रचित अतुकान्त काव्य है। 'प्रियप्रवास' का विषय राधा और कृष्ण की अति प्राचीन कथा है किन्तु हरिऔध ने इसको नवीन रूप दे दिया है। हरिऔध जी की ईश्वर विषयक धारणाओं में अब प्रारंभिक कविताओं की धारणा से अन्तर आ चुका था। हरिऔध पर वैज्ञानिक युग की बौद्धिक चेतना का पूर्ण प्रभाव पड़ा। वे भावुकता से बुद्धि को महत्व देने लगे। उनका दृष्टिकोण लोक कल्याण की भावना से युक्त हो गया था अतः श्रीकृष्ण और राधा का चित्रण 'प्रियप्रवास' में ईश्वर रूप में नहीं अपितु लोकहित में लीन मानव के रूप में किया है। वह भगवान् को मानव के अवतार रूप में नहीं लाते वरन् मानव में ही भगवान् की विशेषता का सन्निवेश कर उसकी सीमा तक उसे पहुंचाते हैं।

'प्रियप्रवास' के कृष्ण से परम्परागत कृष्ण सर्वथा भिन्न हैं। न वे भक्तिकाल के लोकरंजन करने वाले परब्रह्म हैं और न रीतिकाल के रसिक-प्रेमी। हरिऔध ने लोक, समाज और जाति की सेवा में प्रवृत्त कृष्ण का लोकसंग्रही चित्रण किया है। देश, जाति और समाज के प्रेमी कृष्ण की प्रेयसी साधारण भोग विलास में प्रवृत्त नहीं हो सकती फलतः

राधा का लोक सेविका के रूप में चित्रण हुआ है। कृष्ण काव्य परम्परा में चरित्र सम्बन्धी महान् क्रान्ति हरिऔध ने की। युगानुसार राधा-कृष्ण के प्रेमी स्वरूप में उन्होंने विभिन्नता ला दी।

वे जी से हैं जगत-जन के सर्वथा श्रेय कामी,
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा ॥

* * *

विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का
सहाय होना असहाय जीव का।
उबारना संकट से स्वजाति को
मनुष्य का सर्व प्रधान कृत्य है।

* * *

प्रवाह होने तक शेष श्वास के, सरल होते तक एक भी गिरा;
सशक्त होते तक एक लोभ के, किया करूंगा हित सर्वभूत का ॥

'प्रियप्रवास' की कथा का मूलाधार अन्य कृष्ण काव्यों की भांति श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध अंश है। किन्तु अपने युग की धार्मिक क्रान्तियों से प्रभावित हो कर इसमें मौलिकता ला दी है। श्रीकृष्ण और राधा सेवाव्रत में लीन लौकिक मानव हैं। हरिऔध ने कृष्ण कथा की अलौकिक घटनाओं का लौकिक स्तर पर चित्रण किया है। 'प्रियप्रवास' की कथा प्रिय कृष्ण के मथुरागमन के पूर्व दिवस से प्रारंभ होती है, कृष्ण के चले जाने पर यशोदा, गोप-गोपी, पशु पक्षी सब अपार वियोग में डूब जाते हैं, उनके न लौटने पर तो दुःख का कोई वारापार नहीं रहता। श्रीकृष्ण को स्वदेश के व्यक्तियों के दुःख का ध्यान आता है, वह ब्रज जाना भी चाहते हैं किन्तु लोकहित की भावना वैयक्तिक भावनाओं पर विजय प्राप्त करती है और कृष्ण अपने ज्ञानी मित्र उद्धव को उन सबको शान्ति प्रदान करने के निमित्त ब्रज भेजते हैं। राधा के अतिरिक्त ब्रज के सभी प्राणी कृष्ण के न आने के कारण विरह विदग्ध हृदय की कथा उद्धव को सुनाते हैं। किन्तु राधा अपने दुःखों का रोना नहीं रोती। वह अपने वैयक्तिक प्रेम का उन्नयन करती है। उसे सच्चे प्रेम का ज्ञान होता है। उसका वैयक्तिक प्रेम विश्वप्रेम में परिणत हो जाता है। वह प्रेम के पवित्र प्रभाव से विश्व के प्रत्येक कण में कृष्ण को देखती है, उसका प्रेम व्यापक हो जाता है, वह लोकसेविका रूप में प्रेमानन्द की प्राप्ति करती है। इस भांति राधाकृष्ण के प्रेम की, वैयक्तिक प्रेम की, विश्व प्रेम में परिणति कर हरिऔध ने विशुद्ध और महान् प्रेम काव्य की रचना की। इसी से हरिऔध का स्थान हिन्दी साहित्य में महान् है।

'प्रियप्रवास' में हरिऔध ने मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध चित्रित किया है। 'प्रियप्रवास' की प्रत्येक घटना प्रकृति की विशाल क्रोड में घटित होती है। प्रकृति उसमें पृष्ठ भूमि के रूप में आई है, और प्रत्येक घटना के सुख-दुःख में सहानुभूतिपूर्ण रूप में आई है। राधा के विरह में प्रकृति ही परम सहायक के रूप में उपस्थित होती है। राधा का

पवनदूती को संदेश ले कृष्ण के पास भेजना अत्यन्त मार्मिक है। पवनदूती की कल्पना कवि ने मेघदूत की कल्पना के आधार पर की है। राधा और कृष्ण का प्रेम प्रकृति से ही प्रारंभ होता है और प्रकृति के द्वारा ही विकसित हो विश्वप्रेम में परिणत होता है। हरिऔध प्रकृति और मानव के महान् कवि हैं। इनका प्रकृति चित्रण महान् है, अपूर्व है।

'प्रियप्रवास' का प्रारंभ ही प्रकृति की पृष्ठभूमि में इस प्रकार होता है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा॥

'प्रिय प्रवास' विप्रलम्भ रस प्रधान काव्य है। इसमें करुणा का अपार स्रोत उसी मात्रा में प्रवाहित है। वात्सल्य रस का बड़ा मार्मिक चित्रण है। यशोदा, नन्द और वृद्ध गोपों के द्वारा हरिऔध ने वात्सल्य का अद्वितीय चित्रण किया है। अन्य सभी रसों की यत्र-तत्र निष्पत्ति होती है। हरिऔध जी मार्मिक स्थलों के पारखी थे। इसीलिए छोटी-सी कथा को महान् काव्य के रूप में सफलतापूर्वक परिणत कर दिया।

'प्रियप्रवास' संस्कृत काव्य शास्त्र में उल्लिखित सभी लक्षणों को पूर्ण रूपेण अपने में समाहित किये हुए है। कथा की संक्षिप्तता को देखते हुए कुछ विद्वान् इसे महाकाव्य की कोटि में लाते हुए संकोच का अनुभव करते हैं। वास्तव में संस्कृत लक्षणों की पूर्ति के अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' उद्देश्य की दृष्टि से महाकाव्य की कोटि में आ जाता है। संस्कृत वर्णवृत्तों में रचित यह काव्य नूतन शैली का परिचायक है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित है। अधिकांश स्थलों पर तो क्रियापदों के अतिरिक्त सब संस्कृतमय है। संस्कृत काव्यों के समान इसमें भी समास बहुलता प्राप्त होती है। भावानुकूल भाषा दूसरी विशेषता रखती है। कवि ने भाषा को व्यर्थ के अलंकारों से सजाने का प्रयास नहीं किया है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि कुछ गिने चुने अलंकारों का ही वैभव प्राप्त होता है। हरिऔध जी भाव शिल्पी के साथ-साथ शब्दशिल्पी थे। अतः कहीं-कहीं पर शाब्दिक चमत्कार उत्पन्न करना ही इनका लक्ष्य-सा प्रतीत होता है—

रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेन्दुबिम्बानना।
तन्वंगी कल हासिनी, सुरसिका क्रीडा कला पुत्तली॥
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी, माधुर्य सन्मूर्त्ति थी॥

* * *

शोभा संभ्रमशालिनी व्रजधरा प्रेमास्पदा गोपिका॥
माता प्रीतिमयी प्रतीति प्रतिमा वात्सल्य धाता पिता॥

'प्रियप्रवास' में इसी प्रवृत्ति के कारण कभी-कभी पद का अन्वय करना कठिन-सा हो जाता है। विशेषणों का अधिक से अधिक प्रयोग करने की धुन में कहीं-कहीं भावों का

भी अवश्य ह्रास हो गया है। किन्तु समग्रतः काव्य सरल और मनोहारी भाषा में लिखित सफल महाकाव्य है। अभिधा शक्ति पर आश्रित होने के कारण काव्य की ध्वन्यात्मकता इसमें नहीं है।

हरिऔध जी ने भाषा सम्बन्धी कुछ प्रयोग भी किए हैं। कवि संस्कृत और फारसी के अच्छे ज्ञाता थे, दोनों पर इनका पूर्ण अधिकार था। हरिऔध ने उर्दू और फारसी शैली के द्वारा हिन्दी भाषा को समृद्ध करने के लिए मुहावरे और बोलचाल की भाषा से सम्बन्धित तीन ग्रंथ लिखे—'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे'। हरिऔध जी हिन्दी भाषा को उर्दू की भांति जिन्दादिली से युक्त करना चाहते थे। अतः उर्दू शैली की विशेषताओं का प्रयोग हिन्दी की बोलचाल की भाषा में किया। उर्दू शब्दों का प्रयोग हिन्दी भाषा में बहुत प्राचीन काल से होता आ रहा है किन्तु उर्दू भाषा का-सा परिष्कार और परिमार्जन हिन्दी में नहीं आ पाया था। उर्दू भाषा जन सामान्य की भाषा है। उसका सम्पर्क नित्य प्रति की बोलचाल की भाषा से है। अतः लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से जो सजीवता उसमें आ गई है वह हिन्दी में नहीं। हरिऔध ने हिन्दी के इस अभाव को दूर करने के लिए फारसीबद्ध और उर्दू के मुहावरों का हिन्दी भाषा में प्रयोग किया—

जब हमारी ऐंठ ही जाती रही,
तब भला हम मूंछ क्या हैं ऐंठते।

सरलतम शब्दों में गंभीर अर्थ गौरवपूर्ण बात कहने की हरिऔध जी की विलक्षण शैली है—एक उदाहरण देखिये जो मुहावरों से परिपूर्ण है और मोहक भी है—

लाल होती हैं, लड़ती हैं, चाल भी टेढ़ी चलती हैं।
बदलते भी उनको देख, बला लाती हैं, जलती हैं।
बिगड़ती बनती रहती हैं, उन्होंने खिचवाईं खालें।
भली हैं कभी नहीं आँखें, देख ली हैं उनकी आँखें।।

हरिऔध ने फारसी के छन्दों में, बोलचाल की भाषा में चौपदों का निर्माण किया। हरिऔध में छन्द और भाषा की अद्‌भुत पहचान थी। उन्होंने फारसी छन्दों को तो अपनाया किन्तु उनका भारतीयकरण कर लिया। इसी प्रकार उर्दू मुहावरों का भी प्रयोग किया है। हरिऔध ने उर्दू छन्दों के दीर्घ को ह्रस्व पढ़े जाने वाले दोष का संस्कार किया। 'बोलचाल' की भूमिका में हरिऔध ने भाषा विषयक अपने मन्तव्यों को प्रकट किया है।

हरिऔध ने कृष्ण काव्य परम्परा में अनेक कविताएँ लिखीं और महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' का जहां प्रणयन किया, वहाँ उन्होंने रामकाव्य परम्परा में भी 'वैदेही वनवास' महाकाव्य लिखकर अपना योग दिया। 'वैदेही वनवास' में श्री रामचन्द्र के राज्यारोहण के उपरान्त सीता वनवास की कथा है। इसका मुख्य आधार वाल्मीकि रामायण है। राम के आदर्श चरित्र के ऊपर निर्दोषिता सीता, रजक के कहने मात्र से, निर्वासन के लांछन को मिटाने के उद्देश्य से ही हरिऔध ने इस काव्य की रचना की। 'वैदेही वनवास' में राम और सीता पूर्ण मानव के रूप में चित्रित हैं। इस काव्य के प्रणयन तक हरिऔध की कला

में प्रौढ़ता आ गई थी। विचारों की परिपक्वता भी इसमें मिलती है।

'वैदेही वनवास' प्रवासजन्य काव्य है। अतः इसका मुख्य रस प्रवास विप्रलम्भ है। इसमें हरिऔध जी के अन्य काव्यों की भांति करुण रस की प्रधानता है। करुण रस इस काव्य में अन्तर्धारा के सदृश प्रवाहित होता है। विरह को उद्दीप्त करने के लिए तथा आलम्बन रूप में प्रकृति का चित्रण हुआ है। वाल्मीकि और वशिष्ठ के आश्रमों का वर्णन बहुत सुन्दर है। इसमें संस्कृतगर्भित भाषा का प्रयोग है किन्तु हिन्दी तद्भव शब्दों का प्रयोग भी बहुलता से प्राप्त होता है। यह काव्य हरिऔध जी की विभिन्न शैलियों का संगमस्थल है। इसकी भाषा मधुर, ओजमयी और प्रसाद गुण सम्पन्न है। इसमें कवि ने द्विवेदी युग से भिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। इसका मुख्य छन्द तिलोकी है। इसमें अलंकार विधान अत्यन्त साधारण है। 'वैदेही वनवास' में वर्णनों का क्रम बहुत सुन्दर है। 'वैदेही वनवास' का प्रारम्भ प्रातःकाल के प्रकृति वर्णन से कवि ने किया है—

लोकरंजिनी उषा सुन्दरी रंजन-रत-थी
नभ तल था अनुराग रंगा आभा निर्गत थी।
धीरे धीरे तिरोभूत तामस होता था,
ज्योति बीज प्राची प्रदेश में दिव बोता था।

भाषा में तत्सम शब्दों का प्राधान्य इसमें भी है—

लोकनयन आलोक रुचिर जीवन संचारक,
स्फूर्ति-मूर्त्ति उत्साह उत्स जार्गति प्रचारक।
भव का प्रकृत स्वरूप-प्रदर्शक छवि-निर्माता,
हे प्रभात उल्लास लसित दिव्यता विधाता॥

'वैदेही वनवास' रचना से पूर्व उन्होंने एक बहुत बड़े काव्य-संग्रह का निर्माण किया। इसका पूर्व नाम 'स्वर्गीय संगीत' था किन्तु बाद में 'पारिजात' कर दिया गया। 'पारिजात' में हरिऔध जी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शैलियों का समन्वय मिलता है। 'पारिजात' ग्रन्थ में १५ सर्ग हैं जिनमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रंथ में इनकी उच्चतम कला और भावुकता का दर्शन होता है।

हरिऔध ने 'प्रद्युम्न पराक्रम' नामक उपन्यास लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु वह पूर्ण नहीं हो पाया। इसकी कथा पौराणिक है, शैली प्राचीन उपन्यासों के ढंग की है। इसके अतिरिक्त हरिऔध जी के कुछ कविता संग्रह—पद्यप्रसून, पद्य प्रमोद, फूल-पत्ते, कल्पलता, हरिऔध सतसई और दिव्य दोहावली—प्राप्त होते हैं।

हरिऔध जी प्रथम कवि हैं जिन्होंने तद्भव शब्दों में पद्य-रचना की। अधिकांश चौपदों में तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। आवश्यकतानुसार संस्कृत शब्दों का भी प्रयोग किया है। हरिऔधि ने चौपदों में मानव, प्राकृति और मानवीय भावनाओं का सुन्दर चित्रण किया है। चौपदों में भावुकता का अभाव पाया जाता है किन्तु वह हरिऔध की बुद्धि और शक्ति के प्रतीक अवश्य हैं। चौपदे अलंकारों और मुहावरों के ख़जाने हैं। बोलचाल, चोखे-चौपदे

और चुभते चौपदों में यदि हास का पुट और मिल जाता तो यह अमर हो जाते। किन्तु हरिऔध के व्यक्तित्व में इसका पूर्ण अभाव मिलता है। इन तीन पुस्तकों के अतिरिक्त बोलचाल की भाषा में लिखी अन्य रचनाएं भी प्राप्त होती हैं जो 'फूल-पत्ते' नामक पुस्तक में संग्रहीत हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय रचित गद्य साहित्य भी उपलब्ध है जिसे चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—प्रारम्भिक प्रयोगवादी साहित्य, समीक्षा साहित्य, भावात्मक साहित्य, नीति और धर्म सम्बन्धी साहित्य। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में ठेठ हिन्दी का प्रयोग किया गया है। इनका हिन्दी साहित्य में अप्रतिम स्थान है। हरिऔध के समीक्षात्मक साहित्य में रसकलस, प्रियप्रवास तथा बोलचाल की भूमिकाएं तथा पटना विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के विषय में दिए गए भाषण आते हैं। इनके भाषणों का संग्रह हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास के रूप में प्रकाशित हुआ है। रसकलस में हरिऔध ने रस सम्बन्धी विविध मान्यताओं और सिद्धान्तों की गम्भीर व्याख्या की है। प्रियप्रवास अपने संस्कृत वर्णवृत्तों के प्रयोग और संस्कृत भाषामय हिन्दी का विवेचन है। बोलचाल की भूमिका में हरिऔधजी ने बोलचाल की भाषा, ठेठ हिन्दी, हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति, मुहावरों का आविर्भाव आदि पर बड़ी गंभीरता से विचार किया है। हरिऔध जी का 'पगली का पत्र' नामक एक गद्यात्मक काव्य भी प्राप्त होता है। इसकी शैली भावप्रधान है। यह मीरा के हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति करता है। नीति और धर्म सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्राप्त होते हैं।

अयोध्यासिंह उपाध्याय का समीक्षात्मक साहित्य बड़ा गम्भीर प्राप्त होता है। हरिऔध ने अपने दृष्टिकोण को बड़ा व्यापक रखा है अतः किसी भी वाद या सिद्धान्त के साथ अन्याय नहीं किया सबको आदर और उचित स्थान दिया। हरिऔध जी की गद्य शैली परिमार्जित है। हरिऔध जी का विवेचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य अनेक भाषाओं के उद्धरणों से पूर्णतः परिपुष्ट है। यहां हरिऔध जी की भाषा भी गंभीर बाना पहन लेती है। अन्यत्र गद्य साहित्य में भी काव्यात्मक पुट मिला रहता है। हरिऔध के ग्रंथों की भूमिकाओं में बुद्धि और तर्क का योग मिलता है।

इस भांति हरिऔध जी की प्रतिभा बहुमुखी हो साहित्य क्षेत्र में प्रवाहित हुई। हरिऔध साहित्य के मुख्य तत्व हैं—मानवता और करुणा। ये दोनों ही इनके साहित्य में अनुस्यूत हैं। हरिऔध की लोकसंग्रह की भावना इतनी प्रबल थी कि उन्होंने ईश्वर को भी मानव बना दिया और मानव के हित कार्य सम्पादन में उन्हें प्रवृत्त किया। मानव के प्रत्येक रूप को सहानुभूति से देखा है। देश, जाति, समाज, मानव प्रेम इनके व्यापक प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं। करुणा की धारा हरिऔध के प्रबन्ध काव्य और उपन्यासों में स्पष्ट रूप में मिलती है। नारी जीवन के चित्रण में जिस करुण मार्मिकता का समावेश हरिऔध जी ने किया है वह अद्वितीय है। इसी करुणा के कारण हरिऔध का स्थान उच्च कवियों की श्रेणी के अन्तर्गत आता है।

हरिऔध ने अपनी काव्यकला को तत्कालीन सभी शैलियों से युक्त किया है। संस्कृत गर्भित समासप्रधान भाषा, सबल हिन्दी तथा ठेठ बोलचाल की भाषा सभी पर हरिऔध जी का सम अधिकार था। हिन्दी भाषा को, हिन्दी का मजाक उड़ाने वाले व्यक्तियों के सामने, सब रूपों में रख हिन्दी के लिए आदर भावना उपार्जित करने का श्रेय हरिऔध को ही है। हरिऔध ने भाषा को कृत्रिम बनाने का प्रयास नहीं किया है। हरिऔध को यदि प्रगतिशील लेखक कहें तो कोई अनुचित बात नहीं। इन्होंने साहित्य के विविध रूपों की प्रगति की तथा प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया।

संक्षेप में, हरिऔध जी की प्रतिभा भाषा और नूतन भाव दोनों क्षेत्रों में अपना चमत्कार दिखाने में समर्थ हुई। जहां भाषा के विविध प्रयोग करके उसकी शक्ति और क्षमता को आपने व्यापक रूप से सामने लाने की चेष्टा की वहां भाव के क्षेत्र में भी हिन्दी की खड़ी बोली काव्यधारा को नवीन दिशा का संकेत दिया। 'प्रियप्रवास' में परम्परा प्राप्त कृष्ण काव्य को आधुनिक बौद्धिक विचारधारा के साथ जोड़कर उस धरातल पर ला खड़ा किया जहां से सर्वसाधारण उसे सरलता से ग्रहण कर सकता है। रामकाव्य की परम्परा में 'वैदेही वनवास' भवभूति की करुण रसमूलक विचार सरणी का अनुगमन करने वाला काव्य है। उसमें 'प्रियप्रवास' जैसी विलक्षणता न होने पर भी भावगरिमा का अभाव नहीं है। हरिऔध जी ने यथार्थ में खड़ी बोली हिन्दी को सशक्त, समर्थ और प्रांजल बनाने में कवि के रूप में अपने युग में सबसे अधिक योग दिया।

हरिऔध जी की काव्य-साधना का मूल्याङ्कन करते समय यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि वे द्विवेदी युग के उन कवियों में थे जिन्होंने ब्रजभाषा को त्याग कर खड़ी बोली को अपनाया था और जिनका यह प्रयत्न था कि खड़ी बोली को काव्य क्षेत्र में सम्मान के साथ स्थिर किया जाय। उनके 'प्रियप्रवास 'काव्य ने खड़ी बोली के जयघोष में सबसे अधिक योग दिया इसमें दो मत नहीं हो सकते। भाषा के नाना रूप और विविध प्रयोग भी खड़ी बोली के सामर्थ्य तथा व्यापक विस्तार की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। हरिऔध जी की स्कूली शिक्षा इतनी ऊंची नहीं थी किन्तु उन्होंने जो ग्रंथ लिखे वे हिन्दी की सर्वोच्च परीक्षाओं में पाठ्य-ग्रंथ बने और आज भी उनके ग्रंथों का सर्वत्र आदर है। इतिवृत्तात्मक शैली से काव्य रचना के युग में हरिऔध जी ने अपनी मौलिकता को ठेस नहीं पहुंचने दी। उनके खड़ी बोली काव्य में न तो कहीं अनुकरण की छाप है और न कहीं पुरानापन ही।

हरिऔध जी के काव्य का स्वर समाज सुधार और लोक कल्याण की भावना का स्वर है। उनकी कृतियां साधारण पाठक के लिए सरल और बोधगम्य होने के कारण पर्याप्त लोकप्रिय रही हैं। इतिवृत्तात्मक और भावात्मक दोनों कोटि की रचनाओं के कारण हरिऔध जी को स्थायी ख्याति प्राप्त हुई है। सदाचार और नीति की सुदृढ़ भित्ति पर अवस्थित होने के कारण हरिऔध जी का काव्य उदात्त जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है, उसमें काव्यकला का सौष्ठव है, अतीत का ग्राह्य चित्रण है, वर्तमान की गतिविधि को समझने की क्षमता है और अनागत के निर्माण का दिव्य सन्देश है।

३. श्री मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक युग के कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय कवि हैं। उनके वर्ण्य-विषय और अभिव्यंजना शैली में इतनी विशद व्यापकता है कि आधुनिक खड़ी बोली-युग का अन्य कोई कवि उस व्यापक धरातल तक नहीं पहुंचता। गुप्त जी ने जिस युग में काव्य-क्षेत्र में पदार्पण किया वह खड़ी बोली-कविता का शैशव-काल था ब्रजभाषा को छोड़कर भावुक कवि खड़ी बोली को काव्योचित सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे थे। श्रीधर पाठक, महावीरप्रसाद द्विवेदी, और अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपनी कविताओं द्वारा खड़ी बोली के सामर्थ्य का परिचय देकर उसका मार्ग प्रशस्त किया था किन्तु उसे सामान्य जनता के समीप ला खड़ा करने का श्रेय मैथिलीशरण गुप्त को ही है। गुप्त जी का कवि रूप केवल काव्य-कला की दृष्टि से ही प्रशंसनीय नहीं है वरन् उनकी कविता ने भारतीय जीवन को विविध प्रकार से चेतनामय बनाया है, इसलिए उन्हें राष्ट्र-कवि का सम्मान प्राप्त है। वे भारतीय संस्कृति के व्याख्याता, राष्ट्रीयता के उन्नायक और स्वस्थ परम्पराओं के प्रबल पोषक महाकवि हैं।

जीवन-वृत्त

श्री मैथिलीशरण का जन्म श्रावण शुक्ला द्वितीय,सोमवार सं० १९४३ (सन् १८८६) को झांसी जिले के चिरगांव नामक नगर में हुआ। आपका परिवार परम्परा से वैष्णव धर्म को मानने वाला रहा है। रामोपासना इनके वंश में विष्णु के अवतार रूप में होती है। आपके पितृचरण श्री सेठ रामचरण जी हिन्दी-प्रेमी भक्त कवि थे। उनके संस्कार विरासत में बालक मैथिलीशरण को भी प्राप्त हुए। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा चिरगांव में ही हुई। उसके बाद झांसी के मैकडानल हाई स्कूल में आपको अंग्रेजी-शिक्षा के लिए प्रविष्ट कराया गया किन्तु वहां मन न लगने के कारण आप घर वापस आ गये और वहीं रहकर हिन्दी-संस्कृत, बंगला का अध्ययन करने लगे। आपने १५ वर्ष की आयु से ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। उसी समय आपको 'सरस्वती' के सम्पादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी का वरद हस्त प्राप्त हो गया।

विकास-सोपान

मैथिलीशरण जी की सर्वप्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' संवत् १९६६ में प्रकाशित हुई। अब तक उनकी चालीस मौलिक पुस्तकें निकल चुकी हैं। उनके इस विकास-पथ को तीन

संस्थानों में विभक्त करके देख सकते हैं : १. पंचवटी—पूर्व ; २. पंचवटी से साकेत—यशोधरा तक ; ३. साकेत-यशोधरा के पश्चात् । प्रथम संस्थान को गुप्त जी के साहित्य का प्रयोग-काल मानना चाहिए। इस समय युवक कवि मैथिलीशरण भाषा और कवित्व की दृष्टि से निरन्तर परिमार्जन एवं समृद्धि की ओर अग्रसर थे । जयद्रथ-वध और भारत-भारती इस संस्थान की अत्यन्त प्रसिद्ध पुस्तकें हैं । द्वितीय संस्थान को उनके काव्य का मध्य काल कहना चाहिए। इस काल-खण्ड में उन्होंने अनेक रम्य-मधुर एव भाव-दीप्त काव्यों का प्रणयन किया, उन सबकी भाषा प्रांजल एवं अभिव्यंजना शैली सरल हैं। गुप्त जी की श्रेष्ठ काव्यरचनाएं पंचवटी, साकेत और यशोधरा इसी सयय की हैं। इनके अतिरिक्त वकसंहार, विकट भट, झंकार आदि उनकी अन्य अनेक पुस्तकें भी इसी संस्थान की रचनाएं हैं। तृतीय संस्थान गुप्त जी के काव्य का प्रौढ़ काल है। साकेत-यशोधरा के पश्चात् उनका संपूर्ण साहित्य इसी के अन्तर्गत आता है। इस समय की रचनाओं में द्वापर, सिद्धराज, नहुष, कुणाल-गीत, पृथिवीपुत्र, अंजलि और अर्घ्य तथा जय भारत विशेषत: उल्लेखनीय हैं। ये सब कृतियां अत्यंत समृद्ध एवं रस-दीप्त हैं। संवत् २०१५ में प्रकाशित गुप्त जी की नवीनतम रचना विष्णुप्रिया में भी इस उच्च स्तर की रक्षा हुई है।

काव्य का प्रतिपाद्य

गुप्त जी के काव्यों के प्रतिपाद्य विषय की परिधि अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। साकेत, पंचवटी और प्रदक्षिणा रामचरितमूलक रचनाएं हैं तो द्वापर कृष्णचरित-संबंधिनी। यशोधरा और अनघ का आधार बौद्ध साहित्य है तो विकट भट, रंग में भंग, पत्रावली आदि का राजपूत इतिहास। उधर गुरुकुल में सिक्ख गुरुओं का जीवन-वृत्त तथा काबा और कर्बला में मुस्लिम इतिहास की एक घटना गृहीत है। जयद्रथ-वध, सैरन्ध्री, वक-संहार, वन-वैभव, नहुष तथा जयभारत आदि का आधार महाभारत है और पद्य-प्रबंध, स्वदेश-संगीत तथा मंगल-घट में विविध विषयों की कविताएं संगृहीत हैं। इन सभी विषयों को गुप्त जी ने पूर्ण तन्मयता के साथ ग्रहण किया है जो उनकी विशाल-हृदयता का द्योतक है।

अधिकांशः ऐतिहासिक-पौराणिक कथाओं को ही गुप्त जी अपने काव्य का विषय बनाते हैं, वे उन्हीं के माध्यम से प्रायः अपनी बात कहते हैं। परन्तु उनकी रचनाओं में स्वीकृत वृत्त एकान्ततः परम्परागत नहीं हैं, उनमें अनेक स्थलों पर मौलिक उद्भावनाएं हुई हैं। साकेत में हनुमान द्वारा लक्ष्मण के शक्ति-प्रहार से मूच्छित होने की बात श्रवण कर शत्रुघ्न शंख बजा देते हैं, आशंकित अयोध्यावासी लंका-प्रयाण को प्रस्तुत हो जाते हैं। राम-काव्य के लिए यह सर्वथा नवीन प्रसंग है। वाल्मीकि रामायण में तो यह प्रश्न उठता ही नहीं। वहां न तो हनुमान संजीवनी लाते हैं और न अयोध्यावासी इस तथ्य से अवगत होते हैं। किन्तु रामचरितमानस के भरत इस आपत्ति का समाचार मिलने पर भी निश्चेष्ट हैं। जिस व्यक्ति के वियोग में संपूर्ण अयोध्या शोक-मग्न है उसको दुख में आपदग्रस्त देखर भी भरत तथा अन्य अयोध्यावासी निष्क्रिय हैं। मैथिलीशरण जी ने सर्वप्रथम इस

असंगति को पहचाना और अयोध्यावासियों को अभियान के लिए प्रस्तुत किया। इसी प्रकार 'जयभारत' काव्य में कवि ने महाभारत के अत्यन्त लोमहर्षक प्रकरण द्रौपदी-चीर-हरण प्रसंग को भी नवीन रूप में उपस्थित किया है। महाभारत में द्रौपदी-चीर-कर्षण का जघन्य कर्म गुरुजनों के समक्ष होता है जिससे उसकी जघन्यता और भी बढ़ जाती है, और फिर द्रौपदी की लज्जा की रक्षा भी अस्वाभाविक ढंग से ही होती है। द्रौपदी के भगवत् स्मरण करते ही धर्म कपड़ा बनकर बढ़ने लगता हैं। दुःशासन कपड़ा खींचते-खींचते थक जाता है। गुप्तजी ने इस प्रसंग की भीषणता और अस्वाभाविकता को दूर करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम तो वे उस अभिशंसित सभा से भीष्म, द्रोण, और विदुर को हटा देते हैं जो भीष्म को तो शान्त करते हैं—

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि ॥

किन्तु दुःशासन को दुष्कर्म से विरत करने में असमर्थ हैं। इससे एक ओर तो उन गुरुओं के गौरव की रक्षा होती है और दूसरे उस घोर कर्म की भीषणता भी अपेक्षाकृत कम हो जाती है। जयभारत में द्रौपदी का चीर नहीं बढ़ता वरन् वह दुःशासन की प्रतारणा करती है, परिणामस्वरूप—

सहसा दुःशासन ने देखा अंधकार-सा चारों ओर
जान पड़ा अम्बर सा वह पट जिसका कोई ओर न छोर
आकर अकस्मात् अति भय-सा उसके भीतर पैठ गया
कर जड़ हुए और पद कांपे, गिरता सा वह बैठ गया।

और इतने में ही जयभारत का कवि वहां गांधारी को भी उपस्थित कर देता है, जिससे —

चौंक संभलकर पाप-सभा ने पुनः सभ्यता सी पाई।

अन्यान्य ऐतिहासिक-पौराणिक काव्यों में भी आख्यान को सुसंगत, विश्वसनीय और मनोविज्ञान-सम्मत बनाने के लिए नवोद्भावनाएं हुई हैं। नहुष काव्य से एक उदाहरण लीजिए। महाभारत में चिर-तपस्वी नहुष को एकदम दुरात्मा कह दिया जाता है, स्वर्ग में उनके पहुंचते ही अकारण उन्हें धर्मात्मा के स्थान पर पापात्मा कहना शुरू कर दिया जाता है—

धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत ॥

किन्तु मैथिलीशरण यहां मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करके इसे विवेक-सम्मत एवं सहज-ग्राह्य रूप प्रदान करते हैं। उनके अनुसार स्वर्ग की विशिष्ट एवं स्वशासित प्रजा के लिए किसी राजा की आवश्यकता ही नहीं है। कवि की इस उद्भावना के कारण नहुष काव्य का यह स्थल महाभारत से अधिक रोचक एवं विश्वसनीय बन गया है। गुप्त जी के विपुल साहित्य से नवोद्भावना के ऐसे और भी कई निदर्शन प्रस्तुत किए जा सकते हैं। अस्तु।

रस और भाव का स्थान

गुप्त जी का भाव-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। उनके काव्य में सभी रसों एवं मूल अथवा प्रधान भावों का चित्रण हुआ है। सिद्धराज से संयोग शृंगार का एक उदाहरण लीजिए—

पहुंची परन्तु ज्यों ही मन्दिर में सुन्दरी
दीखा आप अर्णाराज सम्मुख अलिंद में,

* * *

ललित-गंभीर, गौर, गौरव का गृह-सा,
एकाकी विलोक जिसे गरिमा ने भेंटा था।

* * *

संकुचित होके कहां जाती राजनन्दिनी ?
बन्दी के समक्ष स्वयं बन्दिनी-सी हो उठी।

यहां कांचनदे और अर्णाराज आलम्बन-आश्रय हैं। अर्णाराज का सौंदर्य एवं गरिमा उद्दीपन हैं। अलिंद का एकान्त भी उद्दीपन ही है। व्रीड़ा, स्तंभ आदि संचारी तथा अपलक दर्शन, कम्प आदि अनुभाव हैं। इस प्रकार संयोग शृंगार की सम्पूर्ण सामग्री उपस्थित है। यशोधरा काव्य से उद्धृत निम्न पद्य में विप्रलंभ शृंगार की सुष्ठु व्यंजना भी द्रष्टव्य है—

उनका यह कुंज-कुटीर वह
झड़ता उड़ अंशु-अबीर जहां,
अलि कोकिल, कीर, शिखी सब हैं
सुन चातक की रट 'पीव कहां ?'
अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहां,
सखि जा पहुंचे सुध संग कहीं
यह अंध सुगन्ध समीर वहां।

वीर, रौद्र, वीभत्स, भयानक, हास्य, शान्ति आदि के भी श्रेष्ठ उदाहरण गुप्त जी की रचनाओं में मिल सकते हैं, परन्तु उनके काव्य में प्राधान्य है करुण रस का। उनकी आरंभिक कृति जयद्रथ-वध में भी करुण का अच्छा निरूपण हुआ है—

मैं हूं वही जिसको किया था विधि-विहित अर्द्धांगिनी,
भूलोक मुझको नाथ, हूं मैं अनुचरी चिरसंगिनी।
जो अंगरागांकित-रुचिर-सित-सेज पर थी सोहती,
शोभा अपार निहार जिसकी मैं मुदित हो मोहती।

यहां उत्तरा आश्रय तथा अभिमन्यु का शव आलम्बन है। अभिमन्यु का सौंदर्य, वीरता आदि उद्दीपन तथा चिन्ता, दैन्य आदि संचारी हैं। उत्तरा का विलाप अनुभाव है।

इन सबसे परिपुष्ट शोक स्थायी की करुण में परिणति होती है। साकेत से वीर का भी एक उदाहरण पठनीय है—

दल-बादल भिड़ गए, धरा धंस चली धमक से,
भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक दमक से।
रण-भेरी की गमक, सुभट नट-से फिरते थे,
तालताल पर रुण्ड-मुण्ड उठते-गिरते थे!

प्रधान भाव ही नहीं संचारी नामधारी गौण भाव भी प्रस्तुत कवि के काव्य में अंकित हैं। दो के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

"भेद"—दासी ने कहा सतर्क—
"सवेरे दिखला देगा अर्क!
राजमाता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक"

यहां मंथरा की असूया के साथ कैकेयी को उद्दीप्त करने वाली व्यंजना द्रष्टव्य है—

पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी!

* * *

वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर, गया चन्द्र पश्चिम की ओर;
लक्ष्मण के मुंह पर भी लज्जा देने लगी अपूर्व हिलोर॥

अन्तिम चरण में लक्ष्मण की व्रीड़ा व्यंजित है। साधारतः व्रीड़ा का प्रदर्शन, स्त्रियों में किया जाता है, परन्तु पुरुषों में भी उसका सर्वथा अभाव नहीं है।

उपर्युक्त उद्धरणों में शास्त्र-परिगणित संचारियों का निदर्शन प्रस्तुत हुआ है। किन्तु गुप्त जी के काव्य में शास्त्र में अनुल्लिखित संचारी अर्थात् गौण भावों का संधान भी किया जा सकता है जो उनकी सूक्ष्म-ग्राहिणी प्रतिभा का परिचायक है।

काव्य में अभिव्यंजना शैली

अभिव्यंजना भी साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है। सरस अनुभूति भी उपयुक्त शब्दावली के अभाव में पंगु रह जाती है। आलोच्य कवि का अभिव्यंजना-कौशल असंदिग्ध है। अभिव्यंजना की प्रायः सभी श्रेष्ठ प्रणालियों का उसके काव्य में सुष्ठु प्रयोग हुआ है। सीता माता के सहज-सात्विक सौंदर्य का चित्रांकन देखिए—

अंचल-पट कटि में खोंस, कछोटा मारे,
सीता माता थीं आज नई धज धारे,
अंकुर-हितकर थे कलश-पयोधर पावन,
जन मातृ-गर्वमय कुशल वदन भव-भावन।

* * *

कन्धे ढक कर कच छहर रहे थे उनके,
रक्षक तक्षक से लहर रहे थे उनके,

मुख धर्म-बिन्दुमय-ओस-भरा अम्बुज-सा,
पर कहां कण्टकित नाल सुपुलकित भुज सा ?

सीता का यह रूप-चित्रण कालिदास की शकुन्तला के वन्य सौंदर्य से तुलनीय है। कैसा भव्य चित्र है—एकदम सात्विक और स्निग्ध-शान्त। वर्ण-योजना का भी एक उदाहरण लीजिए—

उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमती राका थी
अंग मानों फूल, कच भृंग हरी शाटिका
ओस मुसकान बन ओठों पर आई थी
सुरभि-तरंग वायु-मण्डल में छाई थी

सुंदरी हिडिम्बा का चित्र है। उसके गौर वर्ण, कृष्ण अलकों, हरी साड़ी और श्वेत मुस्कराहट की योजना में कवि ने पर्याप्त कौशल का परिचय दिया है। अलंकारों की योजना से हिडिम्बा भी कान्तिमती हो उठी है।

उपयुक्त अप्रस्तुत की योजना भी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाती है। गुप्त जी के अधिकांश अप्रस्तुत प्रतिपाद्य को बोधगम्य बनाने में सहायक हैं, यथा—

हुई विचित्र दशा रमणी की
सुन यों एक एक की बात
लगें नाव को ज्यों प्रवाह के
और पवन के भिन्नाघात।

—(पंचवटी)

लक्ष्मण शूर्पणखा को अग्रज वधू और राम उसे अनुज वधू मानकर अस्वीकार कर देते हैं। दोनों के तर्कों में उलझी हुई शूर्पणखा की दशा ठीक ऐसी है जैसी कि नीर और समीर के सम्मुख विरोधी आघात सहती हुई नाव की होती है। साधर्म्य के आधार पर कवि ने शूर्पणखा की अवर्णनीय स्थिति के लिए कैसे युक्ति युक्त उपमान की योजना की है। प्रभाव-साम्य का भी एक उत्कृष्ट उदाहरण लीजिए—

टूटती ज्वलन्त एक तारा-तुल्य अपनी
लीक कर जाने के लिए ही तुम सहसा
मेरे शून्य भाग्य में हा ! उदित हुई थी क्या ?

—(अर्जन और विसर्जन)

एक अस्वीकृत प्रेमी अपनी प्रेमिका से ये शब्द कहता है। टूटती हुई तारिका और प्रेमी को छोड़कर जाती हुई प्रेमिका के प्रभाव में कैसा अद्भुत साम्य है !

अभिव्यंजना की अन्य प्रणालियों—धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग, धर्म के स्थान पर धर्मी का प्रयोग, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, कर्ता के स्थान पर कार्य का ग्रहण, आधेय के स्थान पर आधार का प्रयोग, साधक के स्थान पर साधन का वर्णन आदि—के भी

अनेक उद्धरण गुप्त-साहित्य से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

मैथिलीशरण खड़ी बोली के कृती कलाकार हैं। यद्यपि खड़ी बोली का इतिहास भी ब्रज और अवधी जितना ही पुराना है, फिर भी आधुनिक काल से पूर्व वह उपेक्षित ही रही। आधुनिक काल में भी पर्याप्त समय तक उसे काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया गया। ब्रजभाषा के माधुर्य पर मुग्ध काव्य-रसिक खड़ी बोली को काव्योपयुक्त मानने के लिए तैयार नहीं थे। पूर्व-मैथिलीशरण युग में खड़ी बोली की काव्योपयुक्तता अयोध्यासिंह उपाध्याय को छोड़कर और कोई सिद्ध भी नहीं कर सका था। गुप्त जी और उपाध्याय जी ही पहले दो कवि हैं जिन्होंने सर्वप्रथम खड़ी बोली के वास्तविक स्वरूप को पहचाना और उसे काव्योचित प्रमाणित किया। उनकी आरंभिक कृतियां जयद्रथ-वध और भारत-भारती पर्याप्त लोकप्रिय हुईं। जयद्रथ-वध तथा भारत-भारती की प्रसिद्धि और प्रचार मानो खड़ी बोली की विजय-यात्रा थी।

गुप्त जी की भाषा का मूल-स्रोत संस्कृत है, किन्तु संस्कृत के असमस्त एवं सहज-ग्राह्य शब्द ही उनके काव्य में गृहीत हुए हैं। अवसरानुकूल ब्रज तथा उर्दू के भी बहु-प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है। भाषा एकदम आडम्बर हीन होने पर भी सहज अलंकरण की कमी उसमें नहीं है। वह अनायास ही प्रयुक्त हो जाने वाले शब्दालंकारों से दीप्त है। जैसे—

झूम झूम रस की रिमझिम में
दोनों हिले मिले थे।

—(द्वापर)

* * *

देखो दो दो मेघ बरसते
मैं प्यासी की प्यासी

—(यशोधरा)

भाषा को गौरवान्वित करने वाली प्रणाली—प्रसंग-गर्भत्व—का भी एक श्रेष्ठ उदाहरण लीजिए—

बैठीं नाव निहार लक्षणा-व्यंजना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

—(साकेत)

नीचे गुप्त-साहित्य से अर्थध्वनन का भी एक उदाहरण दिया जाता है—

ओ निर्झर झरझर नाद सुनाकर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ सुलझ बढ़ अड़ तू।
ओ उत्तरीय, उड़ मोद-पयोद, घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्गद भाव, सदैव उमड़ तू।

—(साकेत)

यहां पर्वत-प्रदेश में पत्थरों से टकराकर बढ़ते हुए निर्भर का नाद शब्दों से ही ध्वनित है।

मुख्यतः गुप्त जी का काव्य अभिधा-प्रधान है। किन्तु लक्षणा का सर्वथा अभाव नहीं है। 'शब्द' के लक्षणा-विदग्ध आख्यान का अवलोकन कीजिए—

जननी सरस्वती के छौने,
मधुर सलोने शुचि सोत्साह,
तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के,
तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह!

—(मंगल-घट)

छंद-विधान

भाषा के समान ही छन्दों पर भी आलोच्य कवि का पूर्ण अधिकार है। हरिगीतिका छन्द पर इस कवि ने अपनी छाप लगा दी है। इस छन्द का जितना सफल प्रयोग गुप्त जी ने किया है उतना अन्य कोई नहीं कर सका। दोहा, सोरठा, बरवै, आर्या, सवैया, छप्पय, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि और भी अनेक छन्दों का कुशल व्यवहार उनके काव्य में हुआ है। उदाहरण तो उनके काव्यों में रुबाई, गजल, चतुर्दशपदी आदि के भी मिल जाएंगे, किन्तु वह बहुत कम हुआ है। वस्तुतः कवि को किसी भी प्रकार की विदेशीयता स्वीकार्य नहीं। छंदों के प्रयोग में प्रसंगानुकूलता का भी मैथिलीशरण जी ने पूरा ध्यान रखा है। उनके काव्य में कहीं भी हतवत्तत्व दोष आपको नहीं मिलेगा।

विविध काव्य-शैलियां

महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक, प्रगीत, नाटक आदि अनेक काव्य-रूपों को गुप्त जी ने अपनाया है। साकेत तथा जयभारत महाकाव्य हैं, जयद्रथ-वध, वक-संहार, सैरन्ध्री, विकट भट, हिडिम्बा आदि उनके प्रसिद्ध खण्डकाव्य हैं। गुरुकुल, अजित और सिद्धराज को एकार्थ काव्य माना जा सकता है। स्वदेश-संगीत, पद्यप्रबंध और मंगल-घट गुप्त जी के मुक्तक-संग्रह हैं और झंकार में उनके प्रगीत संगृहीत हैं। तिलोत्तमा, चन्द्रहास तथा अनघ नामक तीन नाटक भी उन्होंने लिखे हैं। परन्तु वे मूलतः प्रबन्धकार हैं। प्रबन्ध काव्यों के प्रणयन में उन्हें जितनी सफलता मिली है उतनी नाटक और प्रगीत-रचना में नहीं। परन्तु उनके प्रबंधों में नाटकीयता का सफल समावेश हुआ है, और उनके प्रबन्धान्तर्गत प्रगीत भी काफी अच्छे हैं। तुलसीदास के अतिरिक्त और कोई भी कवि प्रबन्ध-सौष्ठव की दृष्टि से गुप्त जी के समकक्ष नहीं है। युग को देखते हुए उनकी यह विशिष्टता विशेष रूप से लक्ष्य करने की बात है। वास्तव में वर्तमान युग में मैथिलीशरण ही प्रबंध की विलोपमान परम्परा के संरक्षक हैं। परिमाण की दृष्टि से तो प्राचीन-अर्वाचीन किसी भी कवि ने उनके बराबर प्रबन्ध-रचना नहीं की है। गुप्त जी दो महाकाव्यों

और उन्नीस खण्डकाव्यों के प्रणेता हैं।

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता

गुप्त जी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे भारतीय संस्कृति के प्रबल व्याख्याता हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य का पृष्ठाधार भारतीय संस्कृति ही है। उनके प्रायः सभी आदर्श पात्र त्यागशील हैं। परन्तु उनका त्याग नैराश्यजन्य नहीं अनुराग-पोषित है—

सच्चा जहां है अनुराग होता
वहां स्वयं ही बस त्याग होता। —(चन्द्रहास)

अभिप्राय यह है, कि गुप्त जी कर्मत्याग का नहीं निष्काम कर्म का प्रतिपादन करते हैं। अनघ मघ की उक्ति में तो स्पष्टतः गीता के 'कर्मण्येव अधिकारस्ते' की ध्वनि है—

फल हो किसी के हाथ, मेरे हाथ कर्म्म है। —(अनघ)

धार्मिक दृष्टि से मैथिलीशरण राम के अनन्य भक्त हैं—

निज मर्यादा-पुरुषोत्तम ही मानव का आदर्श,
नहीं और कोई कर पाता मेरा हृदय-स्पर्श! —(पृथिवीपुत्र)

उनके राम भक्तवत्सल और लीलाधाम हैं—वे 'विनाशाय च दुष्कृताम्' एवं 'धर्म-संस्थापनार्थाय' अवतार लेते हैं—

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।

* * *

भक्त वत्सलता इसी का नाम है।
और वह लोकेश लीला-धाम है।

* * *

पापियों का जान लो अब अन्त है,
भूमि पर प्रकटा अनादि अनन्त है। —(साकेत)

इस प्रकार गुप्त जी राम के सच्चे भक्त हैं। और क्रियात्मक रूप में उनको हिन्दू धर्म के प्रायः सभी अंगों—तीर्थ-व्रत, पूजा-पाठ, जप-तप आदि—में आस्था है। परन्तु पशु-बलि जैसे हिंस्र कर्मों का वे विरोध करते हैं—

क्षुद्र मेष अथवा वे छाग,
सिद्ध नहीं कर सकते याग।
करो, करो कुछ आत्म-त्याग,
जिस पर है मां का अनुराग। —(हिन्दू)

इस प्रसंग में कवि की धार्मिक उदारता भी उल्लेख्य है। कभी-कभी गुप्त जी पर जातीयता, संकीर्णता आदि का भी आरोप लगा दिया है, किन्तु वह नितान्त निराधार है। वस्तुतः अपने धर्म में दृढ़ विश्वास रखते हुए भी, अपनी मान्यताओं में अडिग होते

हुए भी वे परधर्म-सहिष्णु हैं, वे अहिंसक हैं, धीर, उदार और प्रशान्त-स्वभाव हैं। उनका कथन है—

धर्म हैं सो धर्म हैं, जो पन्थ हैं सो पन्थ हैं,
एक ने सब के लिए भेजे यहां निज ग्रंथ हैं।
बस उसी के मन्त्र से चलते हमारे यन्त्र हैं,
स्वमत के संबंध में हम सब समान स्वतंत्र हैं। —(काबा और कर्बला)

युद्ध हिंसा आदि का यह कवि विरोध करता है। निम्न पंक्तियों में सैन्य-वर्द्धन के प्रति कवि क्षोभ प्रकट हुआ है—

प्रजा की रक्तार्जित यह ऋद्धि,
खा रही है सेना की वृद्धि। —(विश्व-वेदना)

परन्तु न्याय-रक्षा के निमित्त बन्धु तक को दण्ड देने की बात कहता है—

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।—(जयद्रथ-वध)

गुप्त जी के आदर्श समाज में मर्यादा का अपूर्व गौरव है। अव्यवस्था को वे नाशकारी समझते हैं—

पर अव्यवस्थित त्राण पा सकते कहां —(वक-संहार)

उनके राम भी मर्यादा की स्थापना के निमित्त ही संसार में आए हैं—

मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा —(साकेत)

मर्यादा-रक्षा के लिए किसी समय भारतवर्ष में वर्णों की व्यस्था की गई थी। किन्तु कालान्तर में उसमें अनेक दोष आ गए अतः आज का सजग विचारक उस व्यवस्था का विश्वासी नहीं है। मैथिलीशरण भी घोषणा करते हैं—

कुल से नहीं, शील से ही तो होता है कोई जन आर्य। —(जयभारत)

* * *

शुद्धाचार, विचार चाहिए और सत्य व्यवहार,
धारण करो साधुता, लेगा पदरज तक संसार।—(स्वदेश-संगीत)

वर्ण-व्यवस्था के विकारग्रस्त हो जाने के कारण मैथिलीशरण उसमें अविश्वास प्रकट करते हैं। परन्तु आश्रम-धर्म में उनकी पूर्ण आस्था है। असमय में तो उन्हें स्वर्ग-लाभ भी स्वीकार्य नहीं—

असमय मरण का वरण करके स्वर्ग भी क्यों चाहिए। —(जयभारत)

'गुरुकुल' में आश्रम-धर्म की उपेक्षा को ही भारतवर्ष की पराजय एवं निर्धनता आदि का कारण बताते हैं—

आश्रम-धर्म भूलकर हमने
सीख लिया बस एक विराग,

क्यों न विदेशी दस्यु लूटते
विभव हमारा—भव का भाग।

गुप्त जी के अनुसार जीवन की सफलता के लिए यह संस्था परमोपयोगी एवं अत्यंतावश्यक है।

गुप्त-साहित्य में नारी बड़े आदरास्पद पद की अधिकारिणी है। नारी के प्रति गुप्त जी का दृष्टिकोण मध्यकालीन विकृति से एकदम मुक्त है। वे स्त्री को सच्चे अर्थों में अर्द्धांगिनी मानते हैं, स्त्री के बिना पुरुष के सब कार्य अधूरे हैं। एकाकी वन-गमन के लिए प्रस्तुत राम को सीता कहती हैं—

मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी, मुझ अर्द्धांगी बिना अभी,
हैं अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही। —(साकेत)

'राजा-प्रजा' में उन्होंने अपने इस दृष्टिकोण का और भी स्पष्ट निरूपण किया है—

आधे का अधिकार उचित ही उन्हें मिला है।

तात्पर्य कहने का यह है कि गुप्त जी नारी को पुरुष से हीन नहीं मानते। प्राचीन भारतीय संस्कृति भी इसका अनुमोदन करती है।

भारत के सभी मर्यादा-प्रेमी कवियों के समान आप भी संयुक्त-परिवार का समर्थन करते हैं। वे बहुजनगृही का जीवन सफल मानते हैं—

होता है कृतकृत्य सहज बहुजन गृही। —(साकेत)

परन्तु आज हमारे देश से सम्मिलित परिवार की प्रथा का लोप होता जा रहा है। कवि इस प्रवृत्ति की अभिशंसा करता है—

इस गृह-कलह से ही कि जिसकी नींव है अविचार की,
निन्दित कदाचित् है प्रथा अब सम्मिलित परिवार की। —(भारत-भारती)

रघु-परिवार कवि का आदर्श परिवार है जिसके सदस्य राम वैमात्रकों के प्रति भी अत्यन्त उदार हैं। इस प्रकार गुप्त जी के काव्य में भारतीय-संस्कृति का व्याख्यान सांस्कृतिक तत्वों के पूर्ण परिवेश में हुआ है।

राष्ट्रीयता की भावना

राष्ट्रीय कवियों में भी गुप्त जी का उच्च स्थान है। उनकी भारत-भारती इस दृष्टि से अविस्मरणीय है। मैथिलीशरण में देश के कण-कण के प्रति अतिशय अनुराग है—

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक-सरक कर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाए,
जिसके कारण धूल भरे हीरे कहलाए।
हम खेले कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि तुझको निरख हम मग्न क्यों न हों मोद में।। —(पद्य-प्रबंध)

अपने प्रबंधों में भी उन्होंने राष्ट्रीयता का सफल समावेश किया है। सीता के लंका-निरोध को कवि भारत-लक्ष्मी का बंधन ही मानता है—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिन्धु पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में। —(साकेत)

राष्ट्रीय भावना को जिस रूप में गुप्त जी व्यक्त करते हैं वह काव्य की सरस शैली है। गुप्त जी ने अपने प्रथम काव्य से प्रारम्भ करके 'जयभारत' तक निरन्तर राष्ट्रीयता का समर्थन किया है। देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में आपने सक्रिय भाग भी लिया और सन् १९४२ के आन्दोलन में कारावास का दंड भी भोगा।

गुप्त जी ने 'भारत-भारती' के माध्यम से साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। भारत-भारती का स्वर 'अतीत-गौरव-गान' का मूल स्वर था जिसमें अतीत-गरिमा के साथ भविष्य निर्माण का भी संकेत छिपा हुआ था। वर्तमान के प्रति घोर असन्तोष को भी कवि ने अनेक रूपों में व्यक्त किया था। भारत-भारती का पहला पद 'कौन थे, क्या हो गए, और क्या होंगे अभी' में भारतवर्ष का भूत, भविष्य और वर्तमान प्रतिध्वनित हो उठा है। यह अतीत-गौरव कवि ने अपने अन्तर की जिस प्रबल प्रेरणा से अपनाया था यदि उसका विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होगा कि कवि किसी परम्परा का पालन मात्र करने के लिए अतीत-गान में प्रवृत्त नहीं हुआ था वरन् उसे देश की परिस्थितियों ने विवश कर दिया था कि वह अतीत का गान वर्तमान के उद्बोधन के लिए करें।

महात्मा गांधी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलन के युग में कवि की राष्ट्रीय-भावना उसी रूप में पल्लवित हुई और कवि ने देश की राजनीतिक परिस्थितियों को सम्मुख रख देशोत्थान के विविध उपायों का संकेत किया। उनकी प्रारम्भिक कृतियों में हिन्दू-संस्कृति की पुकार देखकर कुछ आलोचक उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का कवि न मानकर हिन्दू-भारत का कवि मानते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि गुप्त जी ने हिन्दू-संस्कृति को भारत की अतीत-संस्कृति का प्रतीक माना है। किन्तु देश और काल के साथ गुप्त जी ने इस सीमा को दूर करके समस्त देश की एकता और राष्ट्रीय दृष्टि से एक-राष्ट्रीयता का स्वर उनके काव्य में प्रधान होता गया। मुस्लिम संस्कृति और इस्लाम के पैगम्बरों के प्रति अपनी आस्था उन्होंने 'काबा और कर्बला' में व्यक्त की है। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के गीत भी कवि ने लिखे हैं :—

हिन्दू मुसलमान अब दोनों छोड़ें विग्रह नीति।
हिन्दू मुसलमान की प्रीति मेटे मातृभूमि की भीति॥

* * *

भारत माता का यह मन्दिर नाता भाई भाई का।
समझे मां की प्रसव वेदना वही लाल है माई का॥

इसके अतिरिक्त 'जय जय भारत भूमि भवानी' कविता में भारत भूमि का विषद-व्यापक वर्णन करके कवि ने जो मानचित्र अंकित किया है वह राष्ट्र-प्रेम का ज्वलन्त प्रमाण है।

आज तो कवि का दृष्टिकोण शुद्ध गांधीवाद है और वह समस्त विश्व की कल्याण-कामना में लीन रह कर अपनी कविता में भी उसको प्रतिध्वनित करता रहता है—

न तन सेवा, न मन सेवा, न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन सेवा, सदा सच्ची भुवन सेवा॥

अनुवाद

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त गुप्त जी के छः अनुवाद-ग्रन्थ हैं। ये अनुवाद तीन भाषाओं से हुए हैं: विरहिणी, ब्रजांगना, वीरांगना, पलासी का युद्ध तथा मेघनाद-वध बंगला से, स्वप्नवासवदत्ता संस्कृत से और रुबाइयात उमर खैय्याम अंग्रेजी से अनूदित हैं। ये सब सफल अनुवाद हैं। कवि-अनुवादक ने बड़ी कुशलता से अन्वर्थक अनुवाद किया है। भाव ही नहीं शब्द-प्रतीक तक अन्तरित हैं। और सर्वत्र हिन्दी की प्रकृति का ध्यान रखा गया है। इन अनुवादों में मौलिक काव्यों का-सा रस है जो इनकी श्रेष्ठता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

अन्ततः अपने साहित्य के परिमाण-वैपुल्य, भाव-वैभव, बहुमुखी-प्रतिभा तथा भारतीय संस्कृति के सरस आख्यान के कारण यह निश्चय ही प्रथम कोटि के कवि हैं।

संक्षेप में, गुप्त जी की विगत अर्द्धशताब्दी की काव्य-प्रगति पर दृष्टिपात करके हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उनकी कविता ने इस देश की—विशेष रूप से हिन्दी भाषी उत्तरीय भारत की—जनता की तीन पीढ़ियों को केवल काव्य-रस ही नहीं पिलाया वरन् जीवन और जागृति का अमर संदेश भी दिया है। काव्य द्वारा सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना का इतना महान् कार्य कवि रवीन्द्र के अतिरिक्त बीसवीं शती में कदाचित् ही किसी अन्य कवि ने किया हो, कि उसके काव्य से इस देश की तीन पीढ़ियाँ एक ही समय में आप्यायित होती रही हों, उसकी कृतकार्यता में किसको सन्देह हो सकता है। सम्प्रति गुप्त जी भारतीय संसद के सदस्य के रूप में राष्ट्र-सेवा कर रहे हैं। समय-समय पर वे अपनी कविताओं द्वार राष्ट्रीय प्रश्नों पर राज्य-सभा में प्रकाश डालते रहते हैं। कवि-कर्म का राजनीति में यह कुशल प्रयोग उनकी सूझ-बूझ का परिचायक है। गुप्त जी ने खड़ी बोली पर एक ऐसा प्रभाव स्थापित कर दिया है कि आगे ज्यों-ज्यों इसका विकास और प्रसार होगा गुप्त जी की ख्याति इसके साथ देश-देशान्तर में पहुंचती जायगी। गुप्त जी जैसे महाकवि को पाकर आज हिन्दी भाषा को हम राष्ट्रभाषा पद का सर्वथा अधिकारी कह सकते हैं। राष्ट्रभाषा को सार्वजनीन और सहज रूप देने में जितना सहयोग गुप्त जी की सरस वाणी से मिला उतना गोस्वामी तुलसीदास को छोड़ कर अन्य किसी कवि की रचना से सम्भव नहीं हुआ। विगत अर्द्ध-शताब्दी में मैथिलीशरण गुप्त ने तीन पीढ़ियों को हिन्दी भाषा और साहित्य का पाठ पढ़ाकर राष्ट्र का महान् कल्याण किया है। गुप्त जी की लेखनी ने भी अ विश्राम नहीं लिया। 'विष्णुप्रिया' की रचना द्वारा गुप्त जी ने भावी साहित्य-निर्माण का संकेत दे दिया है। अभी भारतवर्ष की जनता उनकी रचनाओं से राष्ट्र-निर्माण की दिशा में सामूहिक रूप में भाषा और साहित्य का ज्ञानार्जन करेगी। ज्यों-ज्यों राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार और प्रसार होगा, राष्ट्र कवि गुप्त जी की भारती इस देश के कोने-कोने में गूंजेगी।

४. श्री जयशंकर प्रसाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य में सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले यदि किसी एक कलाकार का चयन करना हो तो निर्विवाद रूप से प्रसाद जी का नाम ही चुनना होगा। और यदि आधुनिक काल में काव्य-प्रतिभा और काव्य-शक्ति की दृष्टि से किसी एक कवि का वरण करना हो तब भी बहुमत से प्रसाद जी ही श्रेष्ठतम कवि सिद्ध होंगे। प्रसाद जी की प्रतिभा के क्षेत्र नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, इतिहास आदि भी हैं और उन में भी वे किसी से पीछे नहीं हैं, किन्तु महाकाव्य-स्रष्टा कवि की समर्थ प्रतिभा जैसी उनमें है वैसी अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती। प्रसाद जी जिस युग में उत्पन्न हुए वह हिन्दी साहित्य का संक्रान्ति काल था। भारतेन्दु और द्विवेदी जी के प्रयासों से हिन्दी काव्य के विषय और अभिव्यंजना दोनों में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का प्रारम्भ हो चुका था। भाव-वस्तु की दृष्टि से पुरातन रीति परम्पराएं समाप्त हो चुकी थीं और अभिव्यंजना के क्षेत्र में ब्रज-भाषा का स्थान खड़ी बोली ने लेना प्रारम्भ कर दिया था। खड़ी बोली की काव्य-क्षमता अपरिपक्व थी किन्तु नवोदित कवियों ने उसे स्वीकार कर लिया था। ऐसे ही समय प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुए।

जीवन-वृत्त

जयशंकर प्रसाद का जन्म काशी के समृद्ध वैश्य परिवार में माघ शुक्ल दशमी को १९४६ वि० सम्वत् को हुआ। इनके पूर्वज जौनपुर के रहने वाले थे किन्तु सुघनी-सुरती आदि के व्यापार के सिलसिले में काशी आकर बस गये थे। काशी में सुघनी साहू का कारोबार खूब चमका और यह घराना इसी नाम से विख्यात हो गया। प्रसाद के जन्म के समय वैभव की कोई कमी नहीं थी। इनके बचपन की एक घटना यह सिद्ध करने वाली है कि किस प्रकार भाग्य में ही सरस्वती के प्रति प्रेम और अनुराग लेकर प्रसाद जी इस संसार में आए थे। कहते हैं कि अन्नप्राशन संस्कार के दिन पूजा विधि में अनेक आकर्षक वस्तुएं संकलित करके इनके समक्ष रखी गईं ताकि जो इन्हें पसन्द हो उसे उठा लें। छः मास के बालक प्रसाद ने उन मोहक और तड़क-भड़क की चीजों में से केवल कलम ही उठाई, शेष चीजों को स्पर्श तक न किया। बचपन में ही लेखनी स्वीकार करना किसी दैवी-विधान का द्योतक माना जा सकता है।

पांच वर्ष की आयु में इन्हें जौनपुर, विन्ध्याचल आदि जाने का अवसर मिला। नौ वर्ष की आयु में तो लम्बी यात्रा के लिए परिवार के साथ चित्रकूट, नैमिषारण्य, मथुरा,

ओंकारेश्वर, उज्जैन आदि तीर्थों में गये। इन स्थानों के संस्कार और प्रभाव इनके कोमल चित्त पर पड़ते रहे जिसका दर्शन हमें इनकी प्रारम्भिक कविताओं में होता है।

प्रसाद जी के गुरु रसमयसिंह जी नामक एक महानुभाव थे जिन्हें आप अपनी रचनाएँ दिखाया करते थे। आपने 'कलाधर' नाम से ब्रजभाषा में कविताएं लिखना प्रारम्भ किया था जिनमें प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन का आधिक्य होता था।

प्रसाद जी जब केवल बारह वर्ष के थे तभी इनके पिताजी का असामयिक देहावसान हो गया और इनकी स्कूली शिक्षा में व्याघात पहुंचा। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री शम्भूरतन जी की देख-रेख में शिक्षा और दुकान दोनों कार्य कुछ समय तक चले। किन्तु दुकानदारी में आपका मन नहीं लगता था। समय पाते ही दुकान की बहियों में कविताएं लिखना प्रारम्भ कर देते। भाई ने कई बार समझाया कि कविता करने से दुकान नहीं चलेगी किन्तु आपका प्रतिभाशाली कवि उनके आदेश को सर्वांश में स्वीकार न कर सका। सत्रह वर्ष की आयु में भाई का भी निधन हो गया। अब तो प्रसाद के सम्मुख जीवन का कठोर सत्य प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित था। परिस्थितियां कुछ ऐसी बदल गई थीं कि जहां समृद्धि और वैभव का राज्य था वहां गृह-कलह के कारण ऋण और अर्थाभाव मुंह बाये खड़ा था। प्रसाद ने उन सब विषमताओं का स्वागत किया और अपने सामर्थ्य से भी अधिक धैर्य दिखाकर उन पर विजय प्राप्त की। अपने पैतृक कारोबार को संभालते हुए उन्होंने अपने भीतर भी काव्य-प्रेरणा को जीवित रखा और उन संघर्ष के दिनों में भी अध्ययन-अनुशीलन के साथ कविताएं लिखने में प्रवृत्त रहे।

साहित्यिक जीवन

प्रसाद जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ 'इन्दु' पत्रिका के द्वारा हुआ। 'इन्दु' मासिक पत्रिका थी जो उन्हीं की देख-रेख में प्रकाशित होती थी। 'इन्दु' की फाइलों में ही प्रसाद के व्यक्तित्व-विकास का प्रारम्भिक इतिहास निहित है। नौ वर्ष की अल्पायु में प्रसाद ने ब्रज-भाषा में सवैया लिख कर अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय दिया था। उसके बाद कवि समाज में समस्या-पूर्ति के रूप में भी कवित्त-सवैया आदि बना कर आप अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय देने लगे। 'चित्राधार' में जो तीन आख्यानक कविताएं संकलित हैं वे द्विवेदीकालीन कथा-प्रवृत्ति की परिचायक होने के साथ ब्रजभाषा प्रेम की भी द्योतक हैं। 'अयोद्धा का उद्धार' रघुवंश के सोलहवें सर्ग पर आधृत आख्यानक कविता है। इसकी ब्रजभाषा पर खड़ी बोली का अव्यक्त प्रभाव देखा जा सकता है—

नवल तमाल कल कुंज सोंघने
सरित तीर प्रति रम्य हैं बने
अरध रैंति महं भीजि भावनी
लसत चारु नगरी कुशावती। —(चित्राधार)

दूसरी कविता 'वन मिलन' की प्रेरणा भी कवि प्रसाद ने कालिदास के शाकुन्तल

नाटक से ली है। कुछ शब्दावली भी संस्कृत से ही ग्रहण की है। तीसरी कविता 'प्रेम राज्य' का आधार एक ऐतिहासिक घटना है। इन कविताओं के अतिरिक्त प्रसाद ने प्रकृति विषयक कविताएं लिखीं। इन कविताओं को अति सुन्दर शीर्षकों में पिरोया गया है। 'शारदीय शोभा' एक सुन्दर कृति है जिसमें प्रभात, रजनी और चन्द्र का वर्णन किया गया है। भक्ति-विषयक कविताएं भी प्रसाद जी ने लिखी थीं किन्तु उनका मन भक्ति से दर्शन की ओर झुक गया और आगे चल कर वे भक्ति के अनुरागमूलक आधार को दूसरी दिशा में ले गये। संक्षेप में, चित्राधार में संकलित प्रसाद की ब्रजभाषा-कविता अपने भाव, अभिव्यंजना में नवीनता का संकेत प्रस्तुत करने वाली है। रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्ति से हटकर प्रसाद जी भारतेन्दु के समीप जागृति और नवचेतना को ग्रहण करने में प्रवृत्त दृष्टिगत होते हैं।

'प्रेम पथिक' काव्य भी पहले प्रसाद जी ने ब्रजभाषा में लिखा था। उसमें प्रेम का जो स्वरूप कवि ने खड़ा किया है उसका आधार श्रीधर पाठक की 'एकान्तवासी योगी' नामक रचना है। रचना का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

छाड़िकै अभिराम अति सुखधाम चारु अराम।
पथिक इक कीन्हो गमन सुप्रवास को अभिराम॥

ब्रजभाषा में प्रसाद जी का मन चिरकाल तक नहीं रम सका और वे खड़ी बोली में रचना करने में प्रवृत्त हुए। बीस वर्ष की आयु के बाद उन्होंने खड़ी बोली ही कविता का माध्यम बना लिया। 'कानन कुसुम' प्रसाद जी की खड़ी बोली की कविताओं का प्रथम संग्रह है जिसमें भावों की नवीनता के साथ कवि के अन्तस्तल की झांकी भी मिल जाती है। 'करुणालय' नाटक-शैली की लम्बी कविता ही है किन्तु इसे नाटक संज्ञा नहीं दी जानी चाहिए। इस कविता का खड़ी बोली कविता में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। तुकान्तविहीन मात्रिक छन्द का प्रयोग करके प्रसाद जी ने एक नूतन पथ का संकेत किया। इसके बाद महाराणा का महत्व, प्रेम पथिक (खड़ी बोली में परिवर्तित, परिवर्द्धित, तुकान्तहीन हिन्दी रूप) प्रेम दर्शन, आदि आख्यानक कविताओं द्वारा प्रसाद जी ने खड़ी बोली काव्य को समर्थ बनाने की दिशा में बड़ा सफल परीक्षण किया।

काव्य में नई दिशा

प्रसाद जी ने 'आंसू' शीर्षक से एक विरह काव्य की सृष्टि करके छायावादी कविता के क्षेत्र में नई दिशा या नये युग का प्रवर्तन किया। आख्यानक कविताओं की सृष्टि से पहले ही प्रसाद जी ने इसकी रचना प्रारम्भ कर दी थी किन्तु इसका यथार्थ रूप बाद का ही है। 'आंसू' एक सौ नव्वे छन्दों का लघु काव्य है, जिसका विषय प्रेमानुभूति, विरह, अतीत की मधुर स्मृति कहा जा सकता है। कवि के अन्तर में मधुर अतीत की शत-शत स्मृतियां उभर-उभर कर आ रही हैं और वह व्याकुल होकर उनकी अनुभूति में लीन होना चाहता है। प्रेम की परिपक्व दशा के साथ एक साथ जीवन सागर में परिवर्तन हुआ। जीवन की

आशा-आकांक्षाएं बदल गई। कवि ने प्रेम, विरह, आनन्द, पुलक आदि विविध भावों का बड़ी मार्मिकता के साथ वर्णन किया है—

शशि मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।

'आंसू' के दार्शनिक पक्ष को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। कोई इसे सूफी कवियों की प्रेम-परम्परा के समीप मानता है जिसके द्वारा रहस्यवाद का निर्माण होता है; कोई इसे लौकिक-पक्ष प्रधान काव्य स्वीकार करता है। किसी के मत में 'आंसू' प्रसाद के अन्तर-तम का छायाचित्र है। प्रसाद ने हृदय को प्रधान मानकर इस काव्य का प्रारम्भ किया और क्रमशः बुद्धि का भी योग देते गये। प्रकृति सौन्दर्य को भी आंसू के निर्माण में सहायक बनाया गया है। जीवन के प्रति 'आंसू' नैराश्य या विलास तक ही समाप्त नहीं होता, अतः इसे स्वस्थ जीवन-दर्शन पर आधृत काव्य माना जाता है। 'आँसू' के व्याज से कवि ने मानव-हृदय की समस्त करुणा, ममता, सहानुभूति और समवेदना को अंकित करने का अवसर निकाल लिया है। 'आंसू' में ही कवि की उपज्ञात प्रतिभा के दर्शन हो जाते हैं।

कला की दृष्टि से भी 'आंसू' का स्तर उस समय तक के खड़ी बोली काव्य-साहित्य में सर्वोच्च ही मानना होगा। रूपक तत्व को ग्रहण कर प्रतीक शैली से ऐसी प्रौढ़ रचना उस समय तक नहीं हुई थी। 'आंसू' एक गीतिकाव्य है जिसमें स्वानुभूति की लय-स्वर के माध्यम से पूर्णता के साथ अभिव्यक्ति हुई है। अनुभूति की तन्मयता इस कोटि तक पहुंची हुई है कि पाठक भी कवि की भावनाओं के साथ लीन होकर उस विरह या प्रेम को यथार्थ मानकर आत्म-विस्तृत हो जाता है। प्राकृतिक उपकरणों से प्रतीकों की जैसी नूतन योजना प्रसाद ने 'आंसू' में की है वैसी उनसे पहले खड़ी बोली का कोई अन्य कवि नहीं कर सका था। सौन्दर्य वर्णन के लिए जिन कोमल प्रतीकों का चयन कवि ने किया है वह भी अभिनव है।

प्रौढ़तम गीत-सृष्टि

'आंसू' के बाद प्रसाद जी के स्फुट गीतों के दो संग्रह 'झरना' और 'लहर' प्रकाश में आये। यद्यपि इनका प्रकाशन बाद में हुआ किन्तु इनमें संकलित गीत पहले के ही हैं। इन गीतों में द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक कविता के प्रति उत्पन्न विद्रोह का रूप पूर्णरूपेण देखा जा सकता है। 'झरना' के गीत कवि के अन्तर्द्वन्द्व या मानस-मंथन से उद्भूत हुए हैं। बाह्य-जगत् की वस्तुओं को सामने रखकर कवि ने उनका अंकन नहीं किया है। कवि-मानस के उत्थान-पतन, आशा-निराशा, सुख-दुख, सभी कुछ उसमें बिखरे पड़े हैं। कवि अपने जीवन के किसी सरस स्वप्न-भंग का वर्णन प्रतीकात्मक शैली में इस प्रकार करता है—

किसी हृदय का यह विषाद है
छेड़ो मत यह सुख का कण है।

उत्तेजित कर मत दौड़ाओ
करुणा का यह थका चरण है ।।

प्रसाद ने 'झरना' के गीतों में अपने प्रियतम को अनेक रूपों में देखा है, उसका विविध रूपों में वर्णन किया है । अन्त में उसे लगता है कि उसका प्रियतम तो उसके अन्तरतम में ही छिपा बैठा है और वह पुकार उठता है—

प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति ।
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान ।।

गीतों की दृष्टि से 'झरना' में स्वरूप की एकता या समता नहीं है । उस समय एक भावुक कवि गीत के जो सुन्दर और सरस प्रयोग कर सकता था वे सब प्रसाद जी ने भी इसमें सफलता के साथ किये । व्यक्तित्व की गहरी छाप के साथ अर्धप्रस्फुटित भावनाओं को अभिव्यक्ति या वाणी देना ही इन गीतों का लक्ष्य समझा जा सकता है । 'झरना' की कविताओं में अनेक गीत इतने अधिक मार्मिक और हृदयस्पर्शी हैं कि उनकी टक्कर की भावुकता वाले गीत और कवियों की तो बात ही क्या स्वयं प्रसाद जी भी नहीं लिख सके । 'विषाद' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियां देखिए—

कौन प्रकृति के करुण काव्य-सा वृक्ष पत्र की मधु छाया में ।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है अमृत सदृश नश्वर काया में ।।

गीतों का दूसरा संग्रह 'लहर' प्रसाद जी की अपेक्षाकृत प्रौढ़ रचना है । एक विचारशील गंभीर कलाकार जिस प्रकार अतीत की घटनाओं को बटोर कर उनके माध्यम से आत्माभिव्यक्ति में लीन होता है उसी प्रकार प्रसाद जी ने 'लहर' के गीतों में अपनी आन्तरिक चिन्ताधारा को अभिव्यक्त किया है । प्रणय गीत ही 'लहर' की आत्मा हैं । प्रणय की सृष्टि करने में कवि के समक्ष व्यापक जीवन रहा है और उसके समस्त सुख दुख भी उसने जाने समझे हैं । प्रणय गीतों के साथ ही दार्शनिक चिन्तनपरक गीत भी 'लहर' में हैं जिनमें दार्शनिक कवि प्रसाद की झांकी मिल सकती है, तथा जिसका व्यापक रूप 'कामायनी' में दृष्टिगत हुआ । दार्शनिकता के लिए बौद्ध दर्शन की विचारधारा को कवि प्रसाद ने इन गीतों में करुणा के द्वारा व्यक्त किया है । बौद्ध दर्शन का दुःखवाद कवि के इन गीतों में समन्वय और सामंजस्य की भावना के साथ जिस रूप में आया है वह उनके शिवतत्व का ही प्रारूप है । लहर में कुछ ऐतिहासिक कथानक भी गीत रूप में बांधे गये हैं ।

'लहर' को कवि प्रसाद की अन्तरतम भावना का प्रतीक कहा जाता है अर्थात् कवि जीवन के विषम झंझावातों से समुद्र के समान तरंगाकुल होकर अब शान्ति चाहता है । जिस प्रकार समुद्र में सदा कुछ न कुछ प्रकम्प, तरंग, वेग रहता है वैसे ही जीवन में भी इन सबका होना अनिवार्य मान कर कवि उन्हें स्वीकार करने में ही अपना कल्याण समझता है । 'लहर' के गीतों की एक विशेषता यह है कि इनमें कवि को यह भली भांति

विदित हो गया है कि मेरा प्रेमी मुझ से दूर नहीं है, वह तो मेरे भीतर अन्तर में समाया हुआ है। वह निरन्तर अनुभव करने लगा है कि मैं और तू की भेद-बुद्धि व्यर्थ है। वह पुकार उठता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हूं
इसमें क्या है धरा, सुनो!
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित
मेरे जलधि उदार बनो ॥

इन गीतों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि कवि मानस की अतल-स्पर्श गहराई में बड़ी सहजता के साथ उतरता चला जा रहा है। विषाद और नैराश्य से दूर, शान्त-स्निग्ध पारदर्शी सौन्दर्य में लीन होकर वह उस रूप की झांकी देख रहा है जो उसे मुग्ध करने के लिए पर्याप्त है। कवि ने उद्बोधन के भी सुन्दर गीत 'लहर' में संकलित किये हैं—

अब जागो जीवन के प्रभात,
वसुधा पर ओस बने बिखरे,
हिमकन आंसू जो क्षोभ भरे,
ऊषा बटोरती अरुन गात ॥

'लहर' में कुछ कविताएं बौद्ध दर्शन के प्रभाव में लिखी गई हैं जिनका प्रसाद जी की चिन्ताधारा के साथ गहरा सम्बन्ध है। 'अशोक की चिन्ता' कविता में बौद्ध-धर्म का महत्व बड़ी सुन्दरता के साथ चित्रित हुआ है।

'प्रलय की छाया' कवि प्रसाद के नारी विषयक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अध्ययन का परिणाम है। जिन सुन्दर प्रतीकों की अवतारणा द्वारा इस ऐतिहासिक कविता का ताना-बाना बुना गया है वे अभिव्यंजना सौष्ठव के निदर्शन हैं। यौवन और सौन्दर्य के मादक रूप का जैसा सजीव चित्र इस कविता में है वैसा हिन्दी के बहुत कम कवि उपस्थित कर सके हैं। समस्त कविता का वातावरण अपने में ऐसा मोहक और विस्मयकारी है जिसे पाठक क्षण भर को भी भूल नहीं सकता। नारी के अन्तस्तल के घात प्रतिघातों को प्रस्तुत करने में प्रसाद जी को अपूर्व सफलता इस कविता में मिली है। नारी (कमला) अपने भविष्य को देखकर स्वयं कह उठती है—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।

संक्षेप में 'झरना' और 'लहर' के गीतों का अनुशीलन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'झरना' में कवि ने गीत-सृष्टि का नूतन प्रयोग प्रारम्भ किया था। 'लहर' में उन गीतों को चरम उत्कर्ष प्राप्त हुआ और कवि की गीत-सृष्टि काव्य के अलंकरणीय उपकरणों से दमक उठी। 'झरना' में कवि की भावधारा अस्थिर और चंचल थी किन्तु 'लहर' में वह स्थिर और एक व्यंग्य जीवन-दर्शन के साथ आगे बढ़ी है। छायावादी कविता की समस्त प्रवृत्तियां इन गीतों में पूर्ण रूप से मूर्तिमान् होकर सामने आती हैं।

इन गीतों के अतिरिक्त प्रसाद के कुछ सुन्दर गीत उनके नाटकों में भी बिखरे पड़े हैं। नाटकों के गीतों को स्वयं कवि ने गेय बनाने का जागरूक प्रयत्न किया है और किसी-किसी नाटक में तो स्वर-ताल द्वारा उनकी पूर्ण नियोजना भी की है। इन नाटकों में अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी और एक घूंट में कतिपय सुन्दर गीत दृष्टिगत होते हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में सुवासिनी द्वारा गाया गया निम्नलिखित गीत हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि बन गया है—

तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों।
नतमस्तक गर्व वहन करते
यौवन के धन रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

सैनिकों के लिए सुन्दर प्रयाण-गीत (मार्चिंग सौंग) वीरता और उत्साह की व्यंजना करता हुआ देश की सुन्दर प्रतिभा सैनिकों के समक्ष प्रस्तुत कर देता है। इस गीत की पदावली में जो स्वर-साम्य और गति-ताल है वह अवसर की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल और भाव की दृष्टि से अनुपम है—

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं प्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ हो चलो।
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।।

मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रणीत 'कामना' रूपक में भी प्रसाद जी ने सुन्दर काव्य-सृष्टि की है। प्रत्येक पात्र एक विशेष मनोविकार या भाव का प्रतीक बनकर सामने आता है और विश्व खेल का पाठक को आभास मिलता है। इसमें गीतों का प्रयोजन इसलिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि उन्हीं के द्वारा भाव योजना का कवि ने नियोजन किया है। कतिपय आलोचकों ने नाटकों में प्रयुक्त गीतों को अनुपयुक्त ठहराया है किन्तु भारतीय नाट्य-परम्परा और मनोरंजन को ध्यान में रखकर प्रसाद के गीतों को अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। उनमें काव्यत्व के साथ कथावस्तु को मोड़ देने की—गति देने की—अतुल शक्ति छिपी है।

प्रसाद जी की काव्य-शक्ति का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है उनकी अमर कृति 'कामायनी'। 'कामायनी' में कवि प्रसाद अपने मनन, चिन्तन, अध्ययन, अनुभूति, कल्पना और काव्य-शिल्प की चरम प्रौढ़ि पर विराजमान दृष्टिगत होते हैं। 'आंसू', 'झरना' और 'लहर' का कवि 'कामायनी' में पहुंचकर भावलोक, कल्पना लोक और अनुभूति लोक का स्वामी बन

जाता है। काव्य-शिल्प उसकी अंगुलियों पर थिरकने लगता है। छायावादी काव्यधारा में यदि कोई सर्वश्रेष्ठ कृति है तो वह है 'कामायनी'। कामायनी को आधुनिक युग का श्रेष्ठ-तम महाकाव्य समझा जाता है। कथा की दृष्टि से इसमें विशेष विस्तार नहीं है। वेदों तथा ब्राह्मण ग्रंथों में बिखरे हुए कथासूत्र को अपनी कल्पना द्वारा ग्रथित करने का प्रयास 'कामायनी' के मूल में है किन्तु प्राचीन आख्यान को पल्लवित करके रखना मात्र उनका उद्देश्य नहीं समझना चाहिए। यथार्थ में कवि ने इस महाकाव्य में युगानुरूप नूतन आदर्शों की स्थापना करने की चेष्टा की है। मानवता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनाना ही मानो कवि के अन्तर में था जिसे मूर्त्त रूप देने का प्रयत्न 'कामायनी' है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन को—जो शैवा दर्शन की विशिष्ट चिन्तन सरणि है—कामायनी में प्रसाद जी ने स्वीकार किया है। उन्होंने यह प्रयत्न किया है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आनन्दवाद की स्थापना करके साधक को इस संसार के बन्धन से मुक्ति प्रदान की जाय। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के साथ सर्व-वाद को ध्यान में रखकर शुद्ध निवृत्ति मूलक जीवन-दर्शन को प्रसाद जी ने स्वीकार नहीं किया है। इस प्रकार नियतिवाद या भाग्यवाद के सम्बन्ध में भी प्रसाद जी ने कामायनी में नितान्त मौलिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

जैसा कि हमने अभी कहा है कि 'कामायनी' प्राचीन आख्यान वस्तु पर आधृत एक ऐतिहासिक महाकाव्य है किन्तु उसमें न तो कथानक की व्यापकता है और न कार्य की प्रधानता है। जिस प्रकार महाकाव्यों में विविध कोटि के पात्रों तथा युद्ध, विवाह, यज्ञ, आखेट आदि के समावेश से विशद कार्य-व्यापार की योजना की जाती है वैसी 'कामायनी' में नहीं है। 'कामायनी' में केवल तीन पात्र ही मुख्य हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। तीनों की वृत्तियां सामाजिक कार्यशील कोटि की न होकर आत्मलीन या ऐकान्तिक कोटि की हैं। इन पात्रों के माध्यम से कवि के एक मनोवैज्ञानिक सांकेतिक रूपक का भी आभास मिलता है। 'कामायनी' का रूपक तत्व इस कारण और महत्वपूर्ण हो जाता है कि वह मानव के विकास की गाथा बड़े स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत करने में समर्थ है। कथानक तथा पात्र-योजना की दृष्टि से 'कामायनी' में जहां अनेक त्रुटियां हैं वहां रूपक तत्व के माध्यम से गंभीर भाव-योजना उसकी प्रबल शक्तिमत्ता का प्रमाण है। प्राचीन तथा अर्वाचीन शास्त्रीय कसौटी पर 'कामायनी' भले ही पूर्ण रूप से महाकाव्य सिद्ध न हो और उसके वस्तु-व्यापार संघटन में अनेक त्रुटियां परिलक्षित हों किन्तु उसकी रस योजना, महत्कार्य और महदुद्देश्य इस बात के प्रमाण हैं कि वह उदात्त भावों से परिपूर्ण दार्शनिक विचार-धारा पर आश्रित सुन्दर महाकाव्य है।

'कामायनी' पन्द्रह सर्गों का महाकाव्य है जिसमें चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य, आनन्द शीर्षक हैं। चिन्ता-ग्रस्त मनु को जलप्लावन के बाद जो कुछ दिखाई देता है, वह नैराश्य के सिवा कुछ और उत्पन्न नहीं करता। अग्निहोत्र के बाद अवशिष्ट अन्न को देखकर श्रद्धा मनु के समीप आती है और दोनों का सम्पर्क दोनों को आशामय प्रतीत होता है। दोनों के साथ रहने से

गृहस्थी का पोषण होता है, किन्तु मनु सन्तान की आशंका से ही ईर्ष्यालु हो उठते हैं। श्रद्धा उन्हें समर्पण का महत्व बताती हुई नारी जाति की महत्ता का भी संकेत देती है। किन्तु वंचक मनु श्रद्धा को छोड़ भाग खड़ा होता है और इड़ा के चंगुल में फंसता है। इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रतीक है जो मनु से सारस्वत प्रदेश निर्माण का कार्य लेती है किन्तु उसके वासनाजन्य प्रेम को स्वीकार नहीं करती। फलतः संघर्ष का जन्म होता है। और मनु प्रजा द्वारा आततायी समझे जाते हैं और दंडित होते हैं। स्वप्न में श्रद्धा को यह परिस्थिति विदित होती है और वह मनु की रक्षार्थ सारस्वत प्रदेश आ पहुंचती है। मनु का उपचार करके श्रद्धा ही उसे पुनः प्रेम-मार्ग या शिव-मार्ग का बोध कराती है। उसके बाद अपने पुत्र कुमार को इड़ा के हाथ सौंप श्रद्धा स्वयं मनु के साथ चल देती है। मनु को यहां शिव के विराट् रूप का दर्शन होता है और इच्छा, ज्ञान और कर्म के समन्वय तथा सामंजस्य का बोध होता है। तीनों के समन्वय से यथार्थ दर्शन का स्वरूप खड़ा होता है और मनु आनन्द लोक के मार्ग में पहुंचते हैं। वहीं श्रद्धा, इड़ा और मानव भी आ जाते हैं और इस आनन्द लोक में जड़ और चेतन मिलकर समत्व को प्राप्त होते हैं जिसे सामरस्य कहा जाता है। चारों ओर सामरस्य के आनन्द का प्रकाश छा जाता है। यही आनन्द कवि का साध्य है। इस भाव को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

दुःख की पिछली रजनी बीच,
विकसता दुःख का नवल प्रभात।
एक परदा यह झीना नील,
छिपाये है जिसमें सुख गात।।
नित्य समरसता का अधिकार,
उमड़ता कारण जलधि समान।
व्यथा से नीली लहरों बीच,
उमड़ते सुख मणिगण द्युतिमान।।

'कामायनी' में मानव-मन की गतिविधि को जिन पात्रों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है वे हैं—श्रद्धा और इड़ा। हृदय का प्रतीक श्रद्धा है और बुद्धि का प्रतिनिधित्व करने वाली इड़ा है। जिस समय इड़ा का प्राधान्य होता है बुद्धि हमें संशयों से भर देती है, हम हृदय की गहराई तक नहीं जा पाते—

बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

'कामायनी' का लक्ष्य जीवन में बुद्धि और हृदय पक्ष का पूर्ण सामंजस्य कराना है। विरोधी शक्तियों के संगम से ही सुख की प्राप्ति सम्भव है। शैव दर्शन में इसे समरसता का सिद्धान्त कहा गया है। ज्ञान, क्रिया, इच्छा का समन्वय जब तक नहीं होगा जीवन सुखी नहीं हो सकता—

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ॥

'कामायनी' में दार्शनिक चिन्तन के साथ कवि ने सामयिक समस्याओं पर भी विचार किया है। आश्चर्य है कि ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आख्यान की पृष्ठभूमि पर निर्मित महाकाव्य में कवि ने युगीन समस्याओं को कैसे सजा दिया। प्रजातंत्र, राजतंत्र, शासन और शासित, विज्ञान, राजनीति आदि विषयों पर अच्छा प्रकाश 'कामायनी' में पड़ा है। जनसेवा की शिक्षा देती हुई श्रद्धा, मानव और इड़ा से कहती है—

तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति
शासक बन फैलाओ न भीति।

काव्यत्व की दृष्टि से भी 'कामायनी' छायावादी युग की सर्वश्रेष्ठ कृति है। रस, अलंकार, ध्वनि और गुण की कसौटी पर यदि 'कामायनी' की परीक्षा की जाय तो वह अनुपम ठहरती है। जिन रमणीय कल्पनाओं द्वारा कवि ने भाव-सृष्टि की है वह काव्य-शिल्प की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में बेजोड़ है। चिन्ता, लज्जा और काम सर्ग की कविता हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि है। मनु का शरीर वर्णन पढ़ते ही बनता है—

अवयव की दृढ़ मांसपेशियां
ऊर्जस्वित् था वीर्य अपार।
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार ॥

'कामायनी' की भाषा काव्य-गुणों से ओतप्रोत होने के कारण अभिव्यंजना-शक्ति का सुन्दर निदर्शन है। भावानुकूल भाषा की सृष्टि प्रसाद जी की विशेषता मानी जाती है। ओज और माधुर्य गुण ही उनकी भाषा में अधिक है, प्रसाद गुण अपेक्षाकृत न्यून है। 'कामायनी' में लक्षणा और व्यंजना का ग्रहण अधिक हुआ है।

प्रसाद जी की विविध काव्य-कृतियों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो गया है कि उनके काव्य में विकास का एक क्रम रहा है जो सूक्ष्म दृष्टि वाले पाठक के सामने आ जाता है। प्रसाद जी का काव्य सामान्य इतिवृत्तात्मक या वर्णनात्मक काव्य नहीं है, अतः उसमें भाव-गरिमा के साथ भाषा का गौरव भी साथ ही साथ ऊंचा होता गया है। सभी छायावादी कवियों में भावानुकूल सार भाषा-कल्पना करने की शक्ति पाई जाती है किन्तु प्रसाद जी ने उसे दार्शनिक गहन-गूढ़ चिन्तन की क्षमता प्रदान की है। प्रसाद जी शब्द-सौन्दर्य के बाह्य उपकरणों पर अधिक बल नहीं देते, उनकी शक्ति तो शब्दों की ध्वन्यात्मकता में ही है। 'आंसू' के शब्द जितने लाक्षणिक और ध्वनिपूर्ण हैं उतने कम ही देखने में आते हैं। प्रसाद जी की भाषा संस्कृत-निष्ठ होते हुए भी हिन्दी की प्रकृति का अनुसरण करने वाली है। उन्होंने हरिऔध की तरह 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्रायकलिका राकेन्दु बिम्बानना' के

सिद्धान्त का अनुकरण नहीं किया। समस्त शब्दों को बचाकर उन तत्सम शब्दों को प्रसाद जी ने ग्रहण किया जो अपने नैसर्गिक रूप और स्वभाव से हिन्दी काव्य में खप सकें। कामायनी की प्रथम दो पंक्तियां हमारे इस कथन का प्रमाण हैं—

हिम गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह।

इन पंक्तियों में पाँच शब्द तत्सम हैं किन्तु उनका गुम्फन जिस रूप में कवि ने किया है वह हिन्दी भाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है।

प्रसाद जी ने भाषा के निखार के साथ छन्द योजना में भी नवीनता का ध्यान रखा है। संगीत-लहरी प्रवाहित करने वाले स्निग्ध छन्द प्रयोग के साथ आपने विषयानुकूल विविध छन्दों का प्रयोग किया है। अकेले कामायनी के ही पन्द्रह-सोलह तरह के छन्द उपलब्ध होते हैं। गीति-काव्य के कवि को भाषा की सुकोमलता और पेशलता के साथ छन्दों की सरसता का भी ध्यान रखना होता है। इड़ा-सर्ग में टेक के साथ गीति-पदों की सृष्टि करके कवि ने अपनी गीति-पद्धति का पूरा-पूरा प्रमाण प्रस्तुत किया है।

संक्षेप में, प्रसाद जी का सम्पूर्ण काव्य-साहित्य एक ओर सरस साहित्य का प्रतीक है तो दूसरी ओर वह सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित है। उन्होंने जिन समस्याओं को लेकर काव्य-सृजन किया है वे किसी एक युग तक ही सीमित न होकर शाश्वत समस्याएं हैं, जिनका समाधान खोज लेना सामान्य मानव के लिए सहज नहीं है। 'कामायनी' जैसे दार्शनिक काव्य में भी व्यवहारिक चिन्तन को प्रसाद जी ने छोड़ा नहीं है। इतिहास और संस्कृति की परम्परा के सहारे अतीत का उज्ज्वल पृष्ठ सामने लाने का जैसा प्रयत्न प्रसाद-साहित्य में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम और सौन्दर्य के चित्र भी प्रसाद की कविता के मूल आधार माने जाते हैं। प्रेम को जो निर्मल रूप प्रसाद दे सके वैसा स्वच्छन्दता-वादी अन्य कोई कवि नहीं दे सका। 'आंसू' काव्य में प्रेम और सौन्दर्य का यह स्वच्छन्द रूप देखा जा सकता है। प्रेम और सौन्दर्य के साथ राष्ट्रीयता और मानवतावाद को भी प्रसाद ने अपनी कविता में स्थान दिया है। उन्होंने राष्ट्रीय भावना का आधार स्थूल राजनीतिक स्वातंत्र्य नहीं माना, वरन् सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा करते हुए राष्ट्रीयता की वरेण्य कल्पना करना ही उन्हें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत हुआ। एक जागरूक प्रतिभा-शाली कवि को जिस प्रकार की स्वस्थ भावनाएं लेकर काव्य-सृजन करना चाहिए वैसा ही प्रसाद का आजीवन दृष्टिकोण रहा। यही कारण है कि प्रेम, सौन्दर्य, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, मानवता आदि विविध क्षेत्रों में विचरण करते हुए भी कहीं उन्हें असफलता नहीं मिली। छायावादी कवियों ने बड़े सुन्दर गीत और प्रगीत मुक्तक लिखे किन्तु प्रसाद के समान महाकाव्य और किसी छायावादी कवि ने नहीं लिखा। इसका कारण यही है कि जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र जैसा प्रसाद के अन्तर्नेत्रों के समक्ष था वैसा किसी और के सामने नहीं था। निस्सन्देह प्रसाद आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं, उनकी तुलना किसी एक कवि के साथ नहीं हो सकती।

संक्षेप में, प्रसाद जी की कविता सहजानुभूति का ही शब्द-चित्र नहीं वरन् उनके गंभीर चिन्तन-मनन का भी इसमें पूरा योग रहा है। प्रसाद के समस्त काव्य का अनुशीलन करने पर यह तथ्य प्रत्येक पाठक के समक्ष मूर्तमन्त हो जाता है कि प्रसाद जी एक सांस्कृतिक चेतना लेकर आये थे और उस सांस्कृतिक चेतना का मूलाधार भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन-मनन पर स्थित था। वर्तमान युग के यांत्रिक आविष्कारों के तथा बौद्धिकता के आतिशय्य के कारण भारतीय जीवन-दृष्टि में जो विपर्यास आ गया है, उसे प्रसाद जी ने ग्रहण नहीं किया किन्तु वर्तमान की उपेक्षा न करते हुए एक समाधान प्रस्तुत किया जिसे स्वीकार करने पर जीवन को आनन्दमय बनाया जा सकता है। रहस्य और दर्शन के तत्त्व उनकी कविता में इसी कारण प्रारम्भ से ही समाविष्ट हो गये और वे सामान्य कोटि की प्रेम या शृंगार-कविता तक अपने को सीमित न कर सके। देश की दुर्दशा या पराधीनता को उन्होंने सुधारवादी सामाजिक या राजनीतिक नेता के रूप में नहीं देखा वरन् उनकी दृष्टि एक मनस्वी दार्शनिक की थी जो बाह्य आवरणों को भेदकर उन स्तरों तक पहुँचता है जहाँ सुख-दुख के शाश्वत प्रश्नों का समाधान रहता है। सामयिक दृष्टि से प्रश्नों पर विचार करने वाले कवि शाश्वत सत्य का न तो दर्शन कर पाते हैं और न गहन चिन्तन द्वारा प्रसूत जीवन-दर्शन ही उपस्थित करने में सफल होते हैं। प्रसाद जी की सबसे बड़ी सफलता यही है कि उन्होंने काव्य के स्निग्ध माध्यम से जीवन के शाश्वत एवं चिरन्तन प्रश्नों पर विचार किया, उनका समाधान प्रस्तुत किया और अमर-काव्य की सृष्टि की।

५. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में निराला जी विद्रोह, क्रान्ति और परिवर्तन के कवि माने जाते हैं। विरोध और संघर्ष को स्वीकार कर अपनी काव्यधारा को नवीन मार्ग से प्रवाहित करने की जैसी सामर्थ्य निराला में है वैसी हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं है। कदाचित् उनकी इस दुर्द्धर्ष क्षमता को देखकर ही उन्हें महाप्राण कवि कहा जाता है। युगान्तरकारी साहित्य-सर्जन की प्रेरणा से निराला ने साहित्य के विविध रूपों को ग्रहण किया है। गद्य और पद्य दोनों ही क्षेत्रों में उनके द्वारा जो प्रयोग किये गये हैं, वे ऐसे हैं जिनका महत्व आंकना सरल नहीं है। जिस समय निराला अपनी प्राणवत्ता के साथ हिन्दी-साहित्य के प्रांगण में अवतरित हुए, साधारण पाठक उनकी रचनाओं की गहराई में सहज रूप से प्रवेश न कर सका। फलत: निराला की रचनाओं को क्लिष्ट और अस्पष्ट बता कर दूर रखने का प्रयास किया गया; किन्तु जिस काव्य में शक्ति और ओज होता है वह क्लिष्टता के क्षणिक आरोप से दबाया नहीं जा सकता।

जीवन-वृत्त

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जन्म सन् १८९६ में बंगाल के मेदिनीपुर जिले के महिषादल राज्य में हुआ। आपके पिता वहां नौकरी के सिलसिले में रह रहे थे। वैसे आपका घर उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के गढाकोला गांव में है। निराला जी का शैशव बंगाल में ही व्यतीत हुआ और प्रारम्भिक शिक्षा भी बंगला भाषा में ही हुई। उसी समय संस्कृत और अंग्रेजी की भी शिक्षा प्राप्त की। जिन दिनों निराला जी बंगाल में अपनी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उन दिनों स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द की विचारधारा का वहां की शिक्षित जनता पर बहुत व्यापक प्रभाव था। अद्वैतवाद की नवीन दृष्टि से जैसी व्याख्या स्वामी विवेकानन्द ने की थी, वह देश-विदेश में बड़े सम्मान के साथ ग्रहण की जा रही थी। बालक सूर्यकान्त पर भी इन विचारों की गहरी छाप पड़नी स्वाभाविक थी। अद्वैत वेदान्त की इस प्रवृत्ति को तब और प्रश्रय मिला जब सूर्यकान्त त्रिपाठी को रामकृष्ण मिशन की ओर से प्रकाशित होने वाले 'समन्वय' पत्र के सम्पादकीय विभाग में काम करने का अवसर मिला।

बंगला भाषा, वेदान्ती भावना, विरक्त साधु-संन्यासियों की विचारधारा आदि ने निराला की प्रारम्भिक रचनाओं को अत्यधिक प्रभावित किया। जब निराला ने हिन्दी में कविता लिखना प्रारम्भ किया तब वे हिन्दी की अपेक्षा बंगला और संस्कृत के अधिक

निकट थे। सौभाग्य से पत्नी तो हिन्दी भाषी थी, उसकी प्रेरणा से हिन्दी के प्रति नैसर्गिक अनुराग जागृत हुआ और हिन्दी को ही आपने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। जब हिन्दी में लिखना प्रारम्भ किया तो इतना तीव्र प्रवाह चला कि उपन्यास कहानी, कविता, निबंध, आलोचना सभी दिशाओं में लेखनी घूम गई।

हिन्दी-साहित्य में निराला जी का प्रवेश 'मतवाला' साप्ताहिक पत्र के द्वारा हुआ। सेठ महादेवप्रसाद ने निराला जी को बड़े सम्मान के साथ अपने पत्र के सम्पादकीय विभाग में कार्य करने के लिए निमंत्रित किया और उनकी लेखनी से 'मतवाला' का प्रचार और प्रसार हुआ। सेठ महादेवप्रसाद ने निराला जी की प्रतिभा को उस समय पहचाना था जब हिन्दी जगत् में निराला का कोई स्थान न था। निराला जी भी स्वयं अपनी विलक्षण प्रतिभा से कदाचित् परिचित न थे। 'मतवाला' में एक वर्ष कार्य करने के बाद निराला जी लखनऊ चले आये और वहीं रहकर स्वतंत्र रूप से मसिजीवी का स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने लगे।

निराला जी की साहित्य-साधना गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में देखी जा सकती है। कहानी संग्रह—'सखी',' लिली'; उपन्यास—'अप्सरा', 'अलका', 'निरुपमा', 'प्रभावती'; निबंध—'प्रबंध प्रतिमा' 'प्रबंध पद्य', 'रवीन्द्र कविता कानन'; गद्य कृति—'कुल्लीमार', 'विल्लसुर वकारिहा', 'उषा नाटिका'; तथा कविता-संग्रह—'अनामिका', 'परिमल', 'गीतिका', 'तुलसीदास', 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा', 'वेला' आदि प्रसिद्ध हैं। कविता के क्षेत्र में इधर पिछले आठ-दस वर्ष से जो नये प्रयोग निराला जी करते रहे हैं उनके भी संग्रह प्रकाश में आने हैं। प्रस्तुत लेख में हम निराला जी के कवि रूप पर ही विचार करेंगे, कवि होने पर भी गद्य का आश्रय निराला जी को उनकी संघर्ष और विद्रोह की भावना के कारण लेना पड़ा। आलोचना के लिए कविता में उतनी स्पष्टता नहीं आती, केवल ध्वनि से पूरी आलोचना सम्भव न होने के कारण अभिधाप्रधान गद्य की ओर प्रायः सभी कवियों को इस युग में प्रवृत्त होना पड़ा है। निराला का गद्य बड़ा सुगठित और प्रांजल है; उसमें व्यंग्य और प्रहार की अजेय शक्ति के साथ भावों को वहन करने की भी अपरिमित शक्ति है।

निराला ने जिस युग में कविता लिखना प्रारम्भ किया वह द्विवेदी युग का अन्तिम चरण और छायावाद युग का उन्मेष काल था। कविवर प्रसाद की छायावादी रचनाएं शनैः-शनैः प्रकाश में आने लगी थीं और हिन्दी-कविता में नई दिशा की सूचना मिलना प्रारम्भ ही हुआ था। कवि निराला की पत्नी का असामयिक देहान्त होने से कवि के मानस पर वियोगजन्य प्रभाव पड़ा। कवि ने शून्य में निहारते हुए 'जुही की कली' कविता लिखी जो कल्पना के वेग को ग्रहण कर भावाभिव्यक्ति करने में समर्थ हुई। कविता की शैली, प्रसाधन, भंगिमा सब कुछ एकदम नवीन था। इतना अभिनव कि हिन्दी का पाठक उसे अपनाने में हिचकिचाया; उसे लगा कि कहीं यह किसी और भाषा का तो नहीं है। किन्तु हिन्दी में नूतन शक्ति-क्षमता भरने वाली यह कविता कवि की प्राणवत्ता का

परिचय देती हुई भावी काव्य परिच्छेद का भी संकेत प्रस्तुत कर गई—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी
स्नेह स्वप्न मग्न अमल
कोमल तनु तरुणी
जुही की कली दृग बन्द किये
शिथिल पत्रांक में।

'जुही की कली' आज हिन्दी साहित्य में ऐतिहासिक एवं साहित्यिक महत्व वाली रचना मानी जाती है। इस रचना के भीतर केवल रचयिता की शक्ति का ही आभास नहीं वरन् उस युग के भावी परिवर्तन का भी संकेत छिपा है। निराला जी की प्रवृत्ति वेदान्त की ओर होने से उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में दार्शनिक गूढ़ता (या दूसरे शब्दों में हम उसे रहस्यवादिता भी कह सकते हैं) का सन्निवेश रहा है। निराला की अद्वैत भावना को व्यक्त करने वाली उनकी प्रसिद्ध कविता 'तुम और मैं' है। इस कविता में निराला ने ब्रह्म की सत्ता को सत्य मानते हुए अपने अहं को उसी में लीन करके देखा है। स्त्रीत्व के रूप में नहीं वरन् उसी शक्ति का एक लघु रूप मानकर। अग्नि के स्फुलिंग की भांति अहं को उस विराट् का एक अंश मानना ही अभिप्रेत है। भाव-वस्तु के साथ कविता में काव्य गुण भी इतना उच्चकोटि का है कि कविता दार्शनिक परिवेश में भी पाठक के मन को पूर्णता के साथ पकड़ने में समर्थ होती है—

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति, तुम सुरापान घन अंधकार।
मैं हूं मतवाली भ्रान्ति॥

इस कविता का मूल भाव वेदान्त पर आधृत है, किन्तु जगत् या जीवन के प्रति ऐसी कोई विरक्ति इसमें से प्रतिध्वनित नहीं होती जो 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का संदेश देकर साधक को संसार से विरत कर सके। कवि के सामने संसार है और उसमें आत्म का बोध है। यह आत्मबोध ही आशावाद का स्रष्टा है। नैराश्य को दर्शन का अंग माना भा क्यों जाय। इसी भाव को एक दूसरी कविता में बड़ी शक्ति के साथ कवि ने व्यक्त किया है—

जीवन की विजय, सब पराजय,
चिर अतीत आशा, सुख, सब भय,
सब में तुम, तुम में सब तन्मय।

'परिमल' संग्रह में आशा और जागरण की भावना से परिपूर्ण अनेक कविताओं द्वारा कवि ने यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि ब्रह्म की सत्ता अखंड और सत्य होने पर भी यह जीवन नैराश्य या कुंठा के लिए नहीं मिला है। ब्रह्म-चिन्तन निराला जी का प्रिय विषय रहा है। औपनिषदिक चिन्ताधारा का अनुसरण करते हुए उसका अद्वैत भावना के

साथ समन्वय करने की कला निराला जी को प्राप्त है। परिमल की चिन्तन-प्रधान तथा भावना-प्रधान दोनों ही कोटि की कविताओं में कवित्व का मांसल पुट दृष्टिगत होता है। नीचे की कविता में चिन्तन की प्रधानता है—

तुम हो अखिल विश्व में या यह अखिल विश्व है तुम में।
अथवा अखिल विश्व तुम एक यदपि देख रहा हूं तुम में भेद अनेक।
बिन्दु विश्व के तुम कारण हो या यह विश्व तुम्हारा कारण,
पाया हाय न अब तक इसका भेद,
सुलझी नहीं ग्रंथि मेरी, कुछ मिटा न खेद।।

दार्शनिक चिन्ताधारा के साथ निराला के मन पर भारतीय जीवन-दर्शन की छाप भी गहरी पड़ी है। अतीत के सुन्दर चित्र अंकित करते हुए करुणा, प्रेम और समवेदना को निराला ने अपने काव्य विषयों में स्थान दिया है। जगत् में चारों ओर बिखरे हुए दुख-दैन्य को कवि ने अपने काव्य में करुणा के माध्यम से गाया है। जिन कारुणिक दृश्यों से हमारी भावना सिक्त होती है और हम द्रवित हो उठते हैं कवि निराला ने उन्हें गहराई से समझा और दृढ़ता से पकड़ा है। विधवा, भिक्षुक, दीन, मजदूर आदि विषयों का चयन कवि के अन्तर की करुणा का ही प्रतिरूप है। इन कविताओं में शब्दों के माध्यम से सूक्ष्म करुणा को जहां कवि ने मूर्तिमन्त और सजीव किया है वहां साथ ही साथ काव्य के अलंकृत उपकरणों को भी अपनी परिपूर्णता तक पहुंचाया है। प्रत्येक कविता सामाजिक अभिशाप पर व्यंग्य और प्रहार की दुर्निवार शक्ति लेकर सामने आती है। प्रगतिवादी विचारधारा में जो विद्रोही स्वर पनपा था वैसा ही स्वर इन कविताओं के अन्तराल में छिपा हुआ है, मानो कवि ने आने वाली प्रगति को बीस वर्ष पहले ही समझ लिया हो। 'विधवा' शीर्षक कविता का काव्य-शिल्प अद्‌भुत है—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी,
वह दीपशिखा सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन
दलित भारत की विधवा है।

'भिक्षुक' शीर्षक कविता अपने सजीव वर्णन के लिए हिन्दी-साहित्य में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को, भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली का फैलाता।

निराला की कविता में जन-जागरण तथा राष्ट्रीय-भावना से परिपूर्ण गीतों का भी विशेष स्थान है। अपने अतीत गौरव का स्मरण करते हुए उद्बोधन के उद्देश्य से ऐसे ओजस्वी गीत लिखे हैं जो परतंत्र देश की जनता में जीवन संचार की अद्भुत क्षमता रखते हैं। अपने राष्ट्र की महानता का स्मरण करते हुए कवि ने प्रार्थना के स्वर में जिस उदात्त गरिमा का संचार किया है वह देखते ही बनता है—

मुकुट शुभ्र हिम तुषार, प्राण प्रणव ओंकार।
ध्वनित दिशाएं उदार, शतमुख शतरव मुख रे।

इस गीत का मूल भाव प्रार्थना है, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि सांस्कृतिक चेतना है तथा राष्ट्रीयता इसकी ध्वनि है जिसे सुनकर प्रार्थना करने वाले का अन्तःकरण दीप्त और भास्वर हो उठता है। भारतवर्ष के अतीत गौरव का स्मरण कराने वाली कविताओं में 'महाराज शिवाजी का प्रसंग', 'यमुना', 'जागो जीवन धनिके' आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सांस्कृतिक धरातल पर आधृत आख्यानक-कविताओं में 'पंचवटी प्रसंग', 'राम की शक्ति पूजा', 'सहस्राब्धि' मुख्य हैं। 'यमुना' कविता में एक ओर सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का सौन्दर्य है तो दूसरी ओर काव्य-शिल्प का मनोहारी रूप भी उसे कान्तिमय बना रहा है। छायावादी कविता के प्रतीकात्मक अलंकरण इस कविता में अपने सौन्दर्य के निखार पर हैं—

बता कहां अब वह वंशीवट, कहां गये नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट, कहां आज वह वृन्दाधाम ?
कभी यहां देखे थे जिनके श्याम विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृग नीर ?

व्यंग्य, विप्लव, विद्रोह और संघर्ष को व्यक्त करने के लिए निराला ने जो कविताएं लिखीं उनमें केवल पैना दंश ही नहीं वरन् निर्माण का स्वर भी गूंजता है। 'कुकुरमुत्ता' उनकी एक व्यंग्य-प्रधान रचना है। अंग्रेजी में जिसे 'सेटायर' कहते हैं वह इस पर चरितार्थ होता है। 'कुकुरमुत्ता' से पहले भी आपने अनेक व्यंग्य प्रधान कविताएं लिखी थीं किन्तु इसमें आकर आपका व्यंग्य प्रहार के चरम बिन्दु तक पहुंच गया है। 'कुकुरमुत्ता' में कवि ने आध्यात्मिक एवं भौतिकवादी उपादानों पर तीव्र प्रहार किया है। अद्वैतवाद और पैरा-शूट दोनों का उपहास करते हुए निराला ने 'कुकुरमुत्ता' को प्रयोग की देहली पर ला खड़ा किया है। गुलाब को देखकर कुकुरमुत्ता कहता है—

खून सींचा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट।

गुलाब को कैपिटलिस्ट बताकर साम्राज्यवादी वर्ग का प्रतीक ठहराया है। सामाजिक व्यंग्य की दृष्टि से कुकुरमुत्ता का स्थान बहुत ऊंचा है। निर्धन वर्ग के जीवन को कुकुरमुत्ता के समान चित्रित करते हुए कवि ने साम्यवादी बना डाला है।

विप्लव और विद्रोह भाव को व्यक्त करने के लिए निराला जी ने अनेक कविताएं

लिखी हैं किन्तु 'बादल राग' को उनकी सबसे अधिक विप्लवकारिणी कविता कहा जाता है। छह रागों में कवि ने कविता को समेटा है। प्रथम राग मधुर है। दूसरा भैरव है। बादल को कहीं विप्लवकारी, कहीं आतंकवादी, कहीं क्रान्तिकारी रूप में चित्रित करके कवि ने विप्लव का रूप खड़ा किया है।

निराला ने 'सरोज स्मृति' शीर्षक कविता शोक-गीति की शैली में लिखी है जिसमें अपनी पुत्री के असामयिक निधन से उद्भूत करुण-शोकमयी भावनाओं को कवि ने 'ऐलेजी' की शैली से वर्णित किया है। पुत्री के निधन पर कवि को उसका बाल्यकाल स्मरण हो आता है जब सवा साल की आयु में ही नन्ही बच्ची की मां का देहावसान हो गया था। इस कविता में विवाह सम्बन्धी रूढ़ियों पर भी कवि ने व्यंग्य चोट की है। सरोज की मृत्यु पर कवि के मर्माहत शब्द पुकार उठे—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूं आज जो नहीं कही।

निराला के काव्य में प्रकृति-चित्रण का सुन्दर रूप उनके 'गीतिका' संग्रह में दृष्टिगत होता है। प्रकृति को नारी के रूप में चित्रित करने की प्राचीन परिपाटी का कवि ने निर्वाह नहीं किया है वरन् स्वतंत्र दृश्यांकन के रूप में ही प्रकृति के मनोहर चित्रों को अंकित किया है। प्रकृति को रहस्यवादी दृष्टि से देखने का मोह दार्शनिक कवि निराला संवरण नहीं कर सके हैं। प्रकृति के सुन्दर पदार्थों में निहित चरम सौन्दर्य को पा लेने की इच्छा कवि के अन्तर में सतत विद्यमान रही है जिसके फलस्वरूप प्रकृति-चित्रण पर रहस्यवाद का झीना आवरण पड़ना स्वाभाविक है। किन्तु यह स्थिति सर्वत्र नहीं है। शेफालिका कविता में यहां अद्वैतवादी विचारधारा का प्रभाव है, कवि रहस्य के आवरण में कहता है। प्रकृति वर्णन का विस्तृत वर्णन हम आगे की पंक्तियों में करेंगे—

बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव पर्यंक पर सोती शेफालिके।

शेफाली को वासक सज्जा नायिका (आत्मा) के रूप में चित्रित कर प्रेमी गगन (परमात्मा) से मिलने का संकेत कवि ने किया है। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक सौन्दर्य के स्वतंत्र वर्णनों की भी निराला की कविता में कमी नहीं है। दिवसावसान के समय मेघमय आसमान से उतरती हुई परी-सी सुन्दर संध्या सुन्दरी का आलंकारिक वर्णन देखिये—

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
यह संध्या सुन्दरी परी-सी, धीरे, धीरे, धीरे।

संध्या का दूसरा वर्णन और देखिए—

अस्ताचल ढले रवि, शशि छवि विभावरी में।
चित्रित हुई है देख, यामिनी गंधा जगी॥

प्रगति और प्रयोग की दृष्टि से निराला का काव्य अन्य कवियों से सदैव दस वर्ष आगे रहा है। जिसे आज के युग में प्रगतिवाद और प्रयोगवाद कह कर व्यवहृत किया जाता है वह निराला की कविता में अपने आगमन से दस वर्ष पहले झांकने लगा था। प्रयोगों की बहुलता देखनी हो तो निराला की 'नये पत्ते' शीर्षक रचना अनुशीलन के योग्य है। इन कविताओं के विषय प्रगतिशील विचारधारा के हैं और प्रक्रिया की शैली प्रयोग-वादी कही जा सकती है।

सामाजिक एवं राजनीतिक व्यंग्य की कविताओं के साथ मार्क्सवादी विवेचन को मिलाकर कवि ने इनमें प्रगतिशीलता का अच्छा समाहार किया है। 'गर्म पकौड़ी' और 'प्रेम संगीत' कविताओं में व्यंग्य की मनोहारी छटा है—

"पहले तूने मुझको खींचा दिल देकर कपड़े सा फींचा।"

इन प्रयोगों में कवि के अन्तर्मन पर पड़े संस्कार भी हैं और युग-संघर्ष से उद्भूत मनो-विकार भी। सामन्तवादी युग की प्रथा-परम्पराओं पर चोट करते हुए कवि की वाणी में मार्क्सवाद का गुंजन सुनाई पड़ता है किन्तु दूसरी ओर मार्क्सवाद को भी कवि अछूता नहीं छोड़ता। कुछ कविताएं ऐसी हैं जो वर्तमान युग में हुए विविध आन्दोलनों का आभास देती हैं। 'स्फटिक शिला' एक अनूठी कविता है जिसमें कवि ने अनेक सुन्दर चित्र अंकित किये हैं। ग्रामीण युवती का एक स्थान पर वर्णन करते हुए उस पर सीता का आरोप करके अपने मन की अवदात भावना का परिचय दिया है—

वर्तुल उठे हुए उरोजों पर जड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और कहा तुम राम की।।

गीति-काव्य को समृद्ध बनाने वाली विविध रचनाओं के साथ आख्यानक गीति (खंड-काव्य) प्रबंध-काव्य, नाट्य-कविता और रेखाचित्र भी कवि ने लिखे हैं। इनमें पंचवटी-प्रसंग, राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास और अणिमा (रेखाचित्र श्रद्धांजलि आदि) उल्लेखनीय हैं।

नाटक काव्य के अन्तर्गत पंचवटी प्रसंग पर संक्षेप में विचार करना आवश्यक है। पंचवटी प्रसंग पांच दृश्यों में विभक्त नाट्य-काव्य है। इसमें राम सीता के प्रेम-संवाद अति मर्मस्पर्शी शब्दावली में अंकित हुए हैं। इस प्रसंग की मुख्य घटना है शूर्पणखा का आगमन और रूप वर्णन। शूर्पणखा के रूप का वर्णन सुनिए—

मीन मदन फांसने की वंशी-सी विचित्र नासा
फूल दल तुल्य कोमल लाल ये कपोल गोल
चिबुक और हंसी बिजली सी
योजन गंध पुष्प जैसा प्यारा वह मुख मंडल
फैलते पराग दिङ्मंडल आमोदित कर
खिंच आते भौंरे प्यारे।

पंचवटी प्रसंग लिखते समय निराला के सामने मानव कथा का पहलू रहा है। निराला ने कथा को ईश्वरीय या अतिमानवीय नहीं बनाया है। इस प्रसंग का काव्य-शिल्प अति समृद्ध और छायावादी उपलब्धियों से भरा हुआ है।

राम की शक्ति-पूजा निराला की सबसे प्राणवान, ओज गुण प्रधान रचना है। इस कविता की टक्कर की दूसरी कविता हिन्दी में नहीं मिलती। पौराणिक कथानक को कवि ने अपनी कल्पना और काव्य-सौष्ठव द्वारा पल्लवित करके जो रूप दिया है वह सर्वथा नूतन है। जिस छन्द, लय, स्वर और पदावली में कविता बांधी गई है वह प्रक्रिया ही हिन्दी के लिए अभिनव है। द्वन्द्व और संघर्ष नाटक के प्राण तत्व होते हैं। इस कविता में वर्णित राम का अन्तर्द्वन्द्व नाटकीयता में अपने चरम बिन्दु को स्पर्श करने वाला है। नाटक की पांचों कार्यावस्थाओं का विधिवत् पालन करते हुए कवि ने इस कविता को उत्कर्ष के सर्वोच्च धरातल पर ले जाकर खड़ा किया है। युद्ध के वातावरण की उत्तेजना और उसकी भूमिका में राम की सभा का विषादपूर्ण चित्रण प्रारम्भ है; राम की निराशा, हनुमान की उत्तेजना और विभीषण के द्वारा उद्बोधन प्रयत्न हैं; जाम्बवन्त के द्वारा राम को शक्ति-पूजा का परामर्श प्रत्याशा है; राम द्वारा पूजा का विधान नियताप्ति है; और अन्त में शक्ति द्वारा विजय-मंगल का वरदान फलागम है।

कविता का प्रारम्भ और अन्त एक ऐसे नाटकीय ढंग से होता है कि पाठक के मन में कुतूहल, विषाद, हर्ष, उत्कंठा, औत्सुक्य आदि नाट्य-संचारियों का तांता बंधा रहता है। भाषा और शैली में आदि से अन्त तक महाकाव्य सदृश उदात्त गरिमा अनुस्यूत है। भाषा को महाप्राण वर्णा के प्रयोग द्वारा ओजस्वी बनाया गया है। दीर्घ समासों की छटा से वाक्यावली को युद्ध-संघर्ष के अनुकूल किया है, अमूर्त्त अन्तर्द्वन्द्व को सघन एवं सुदृढ़ प्रतीकों द्वारा मूर्तिमत किया गया है। एक उदाहरण देखिए—

है अमानिशा, उगलता गगन घनांधकार
खो रहा दिशा का ज्ञान स्तब्ध हैं पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल,
भूधर ज्यों ध्यान मग्न, केवल जलती मशाल ॥

संक्षेप में, 'राम की शक्ति-पूजा' केवल एक लम्बी आख्यानक-कविता ही नहीं-अपितु वह अभिव्यंजना सौष्ठव का चरम उत्कर्ष प्रस्तुत करने वाली ऐसी कविता है जिसे छाया-वादी अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम निदर्शन कहा जा सकता है।

'तुलसीदास' निराला का प्रबंध काव्य है जिसमें कवि ने मध्यकालीन भारतीय इति-हास पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है। हिन्दू संस्कृति के पतन का चित्र अंकित करते हुए कवि ने तुलसीदास को उस पतनोन्मुखी संस्कृति का रक्षक बताया है। संध्या के वर्णन से कविता प्रारम्भ होती है, जैसे भारतीय गगन पर संध्या के बादल छा गये हों। प्रकृति के परिवेश में जो संश्लिष्ट वर्णन हैं उनमें संस्कृति के पतन का अध्याहार करके पाठक मध्ययुग के ह्रास को अपने मानस में देखने लगता है। मुगल-सभ्यता के

विकास से कवि का अन्तर इसलिए मर्माहत है कि वह भारतीय हिन्दू-संस्कृति के विनाश पर पनप रही है। कुसंस्कारों की कालिमा देश पर छा रही है, मतमतान्तरों के घटाटोप से देश आच्छन्न है। इस वर्णन के बाद कवि ने रत्नावली के प्रेम का चित्र खींचा है। रत्नावली के नारी-भाव को निराला नवीन दृष्टिकोण से परखते हैं और रीतिकालीन परम्पराओं को समाप्त कर दिया है। तुलसी के मन को ऊर्ध्वगामी बनने की प्रेरणा कवि ने दी है और उसे एक ऐसी भूमि पर ले जाकर खड़ा कर दिया है जहाँ से उनका कवि सार्वभौम रूप भास्वर हो उठा है।

तुलसीदास का काव्य-शिल्प निराला की सामर्थ्य के सर्वथा अनुकूल है। तुलसी का वर्णन देखिए—

भारत के नभ का प्रभा पूर्य शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य।
अस्तमित आज रे, तमस्तूर्य दिङ्मंडल

संक्षेप में, निराला ने छायावादी कविता में नूतन भाववस्तु के साथ कला के रूप विधान में भी नवीनता का वरदान दिया। उनकी भाषा, उनके छन्द, उनकी वर्ण-योजना, सब कुछ मौलिक होने के साथ दीप्ति और कान्ति के उस शिखर को स्पर्श करती है जिसे प्रसाद की 'कामायनी' को छोड़कर और किसी कवि का काव्य नहीं कर सका।

मुक्तक छन्द का श्रीगणेश निराला जी ने किया, छन्दों की विविधता और प्रयोग-वादी परम्परा उन्होंने प्रारम्भ की। तुक और लय-स्वर में नूतनता का प्रवेश करने में निराला सबसे आगे हैं। स्वच्छन्द छन्द तो उनकी कविता का प्राण रहा है। छन्द के बंधनों को तोड़ने में निराला जी का प्रयत्न जागरूकतापूर्ण है।

भाषा को संवारने और प्रसंगानुकूल ढालने की कला तो निराला को बंगला और संस्कृत ज्ञान के कारण सिद्ध हो गई थी। जटिल, दुर्बोध, दुरूह, क्लिष्ट सब प्रकार के शब्दों से अनमिल वाक्यावली बनाने की त्रुटि होने पर भी निराला की शक्तिमत्ता इसमें है कि वे भाव की जटिलता को तथा वर्णन की संश्लिष्टता को शब्दों के चयन से पूरा कर देते हैं।

संस्कृत शब्दों का प्रचुर प्रयोग कविता को जटिल भले ही बना दे किन्तु प्रसंगानुकूल गति और प्रवाह अवश्य देता है। 'राम की शक्ति-पूजा' कविता हमारे इस कथन का प्रमाण है। युद्ध वर्णन के प्रसंग की शब्दावली ध्यान देने योग्य है—

आज का तीक्ष्ण शर, विधृत क्षिप्रकर, वेग प्रखर
शत शैल संवरणशील, नील नभ गर्जित स्वर
प्रति पल परिवर्तित, व्यूह भेद कौशल समर॥

निराला जी लगभग पिछले पैंतालीस वर्ष से काव्य सृजन में लीन हैं। शारीरिक एवं मानसिक रुग्णता के दिनों में भी उनकी लेखनी ने विराम लेना नहीं सीखा है। अस्वस्थ दशा में भी शेर और गजल लिखकर उन्होंने अपनी गतिशीलता का परिचय दिया है। निराला का महाप्राण व्यक्तित्व इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी भाषा में अभिव्यंजना की

पूर्ण शक्ति विद्यमान है, आवश्यकता है प्रतिभाशाली कवि और लेखक द्वारा उसके उपयोग की।

छायावादी कवियों में निराला का स्थान अपनी कई विलक्षणताओं के कारण सबसे अलग दिखाई देता है। वे छोटे से छोटे विषय को अपनी प्रतिभा और काव्यमेधा के बल पर मूर्तिमत बनाकर खड़ा करने में समर्थ हैं। चित्रमयता का प्रभाव सभी छायावादी कवियों पर पड़ा है किन्तु प्रसाद और निराला ने इस कला को पूर्णता पर पहुंचाया है। छन्दों में अनुप्रास, लय स्वर की रक्षा वे इस शैली से करते हैं कि मुक्त छन्द भी छन्द-सौन्दर्य का उदाहरण बन जाता है। महाकाव्य की उदात्त शैली पर कविता लिखने का श्रेय निराला को ही है। पंचवटी प्रसंग और 'राम की शक्ति-पूजा' में यह तथ्य देखा जा सकता है। जितना विरोध निराला ने सहन किया वैसा किसी और कवि को नहीं देखना पड़ा किन्तु वे पर्वत की भांति अटल खड़े रहे और अन्त में सभी विरोधियों को उनके सामने झुक कर उनके महत्व को स्वीकार करना पड़ा।

प्रकृति-वर्णन

छायावादी कवियों में महाप्राण कवि निराला की कविता काव्य-शिल्प की दृष्टि से भी पर्याप्त मौलिक है। निराला किसी पथ का अनुसरण न करके स्वयं नया मार्ग, नई शैली और नूतन अभिव्यंजना को स्वीकार कर रचना में प्रवृत्त हुए। कुछ समालोचकों का मत है कि बंगला भाषा की भंगिमा निराला के काव्य पर छाई रही है किन्तु यह मत सर्वथा तर्क एवं प्रमाण सम्मत नहीं है। निराला जी बंगला के अच्छे ज्ञाता हैं और शैशव में बंगाल में रहे भी हैं किन्तु बंगला भाषा के शिल्प या रचना-विधान का उन्होंने अनुकरण कदापि नहीं किया। प्रकृति-वर्णन या दृश्याङ्कन में निराला ने छायावादी शैली ही रखी है, किसी पुरातन काव्य-सरणी का अनुगमन उन्होंने नहीं किया। नारी छायावादी कवियों का प्रिय विषय रहा जिसमें प्रकृति को भी नारी के रूप में कवियों ने चित्रित किया है। निराला ने संध्या-वर्णन में एक युवती का चित्र इस प्रकार अंकित किया है—

सखि नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर पथ से चली,
वह संध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे, धीरे, धीरे।

प्रकृति का मानवीकरण तो छायावादी कवियों की परिपाटी ही रही है। प्रकृति के प्रायः सभी रूपों को इन कवियों ने ग्रहण किया है। निराला जी की 'संध्या-सुन्दरी', 'शेफालिका', 'यमुना के प्रति', 'जुही की कली' आदि कविताओं में यह मानवीकरण देखा जा सकता है—

विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी, स्नेह स्वप्न मग्न,

अमल कोमल, तनुतरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में ।

प्रकृति-वर्णन के द्वारा कवि ने अपनी आन्तरिक भावनाओं को भी बड़ा मोहक रूप प्रदान किया है । निशागम का दृश्य निम्नलिखित कविता में कवि के आन्तर उन्मेष से रंगीन होकर सामने आता है—

एक टक चकोर कोर दर्शन प्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
अस्ताचल ढले रवि,
शशि छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख यामिनी गंधा जगी ।

वातावरण की सृष्टि तथा भावों के उद्दीपनार्थ भी कवि ने बहुत सुन्दर शैली से प्रकृति-वर्णन किया है । 'जागो फिर एक बार' कविता इस तथ्य का सुन्दर निदर्शन है—

जागो फिर एक बार ।
प्यारे जगाती हुई हारी तारिकाएं तुम्हें,
अरुण पंख, तरुण किरण, खड़ी खोलती हैं द्वार ।

सूर्यास्त का वर्णन करते हुए कवि ने जीवन की नश्वरता का वर्णन बड़ी कारुणिक शैली से किया है—

ढल रहे थे मलिन मुख रवि, दुख किरण,
पद्म मन पर थी, रहा अवसन्न वन,
देखती थी यह छवि खड़ी मैं साथ के,
कह रहे थे हाथ में यह हाथ ले
एक दिन होगा, जब मैं न हूंगा ॥

पतझर, वसन्त, वर्षा आदि के वर्णन प्रसंगों में भी कवि ने जीवन की दशाओं का चित्र अंकित किया है । वसन्त-वर्णन का यह चित्र जीवन की आशा से उद्वेलित करने वाला है—

भर रेणु रेणु में नभ की फैला दो जग की आशा,
खुल जाय खिली कलियों में नव-नवजीवन की भाषा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि निराला का काव्य प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है । प्रकृति को कवि ने अनेक रूपों में देखा और वर्णित किया है ।

काव्य-सौष्ठव

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से निराला की कविता अति समृद्ध है । उनका काव्य-शिल्प अपेक्षाकृत परुष और ओजगुण प्रधान है । छायावादी कवियों की कोमल-कान्त पदावली को पौरुष और प्राण से वर्चस्वी बनाने का श्रेय निश्चय ही निराला जी को दिया जा सकता है । अलंकार, प्रतीक-विधान, गुण, शब्द-शक्ति, शब्द-चयन सभी दृष्टियों से निराला जी अपनी

मौलिक सृष्टि के लिए विख्यात हैं।

छायावादी कविता में प्रतीक-योजना की नूतनता प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है। निराला जी ने भी अनेक मौलिक प्रतीक दिये हैं। आशा के लिये प्रातःकाल और शीतलता के लिए रेणु को निम्न पंक्तियों में कवि ने प्रतीक बनाया है—

वहां नयनों में केवल प्रात, चन्द्र ज्योत्स्ना ही केवल गात।
रेणु ही छाये रहते पात, मन्द हों बहती सदा बयार॥

निराला जी की 'जुही की कली' एक आध्यात्मिक संकेत से परिपूर्ण प्रतीकात्मक कविता है। कुकुरमुत्ता में सामाजिक यथार्थ गुलाब और कुकुरमुत्ता के प्रतीकों द्वारा व्यंग्य किया गया है।

भाषा में संगीत की सृष्टि के लिए छन्द, अनुप्रास और विशिष्ट शब्द-योजना पर भी निराला जी का ध्यान रहा है। भाषा को विषयानुकूल प्रसाद, माधुर्य और ओजमयी बनाने की कला भी आपके पास है।

अलंकारों की दृष्टि से यदि निराला जी की कविता पर विचार किया जाय तो उसमें अर्थालंकारों का सुन्दर चयन मिलेगा। निराला जी अलंकार को बाहरी तौर पर ही ग्रहण नहीं करते वरन् शब्द-शक्तियों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करके उसे चमत्कृत करने के पक्ष में हैं। दो एक उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो सकेगी—

'बिछे हुए थे कांटे उन गलियों में
जिन से मैं चल कर आई,
पैरों में छिद जाते जब
आह भर मैं तुम्हें याद करती तब
राह प्रीति की अपनी—वही कंटकाकीर्ण,
अब मैं तय कर पाई।"

यहां कंटकाकीर्ण विशेषण लक्षणा से यह साम्य उपस्थित करता है कि कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलना जितना कष्टकर है प्रीति का मार्ग भी उतना ही कष्टकर है। कविता में विशेषण को उपमान बनाकर रखा है।

अलंकार योजना में भाव की गम्भीरता और स्वरूप की स्पष्टता दोनों ही निराला जी में मिलती हैं—

"अश्रु बह जाते थे कामिनी के कोरों से।
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों।"

यहाँ कामिनी के नेत्रों की कमल के कोषों से तुलना कमल की कमनीयता तथा उज्ज्वलता आदि धर्मों का भी द्योतन कराती है। यह उपमा का सौन्दर्य है जो लक्षणा द्वारा उद्घाटित होता है। मूर्त रूप में उपमान एकत्र करके अमूर्त या मूर्त को स्पष्ट करने वाले उदाहरण तो निराला जी के काव्य में भरे पड़े हैं। विधवा कविता इसका सुन्दर उदाहरण है। मूर्त विधवा के लिए अमूर्त और मूर्त दोनों प्रकार के सुन्दर उपमान इसमें हैं—

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा सी
वह दीप शिखा सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूर काल तांडव की स्मृति रेखा सी।

उपमेयोपमा और अनन्वय में भी निराला जी ने इसी प्रकार के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। निराला जी की अलंकार-सृष्टि सर्वत्र नूतन और शिल्प की दृष्टि से अभिनन्दनीय है। छायावाद युग में शक्ति और तेज का वरदान लेकर काव्य-रचना करने वाले सबसे अधिक समर्थ कवि के रूप में हम निराला जी को ही पाते हैं। उनकी प्रतिभा में व्यापकता के साथ महाप्राण शक्ति का स्वर गुंजित होता स्पष्ट सुनाई देता है।

६. श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त'

छायावादी कवियों में काव्य शिल्प का सर्वाधिक सौन्दर्य पन्त के काव्य में दृष्टिगत होता है। पन्तजी ने जिस काल में कविता-क्षेत्र में पदार्पण किया वह द्विवेदी-युग के चरमोत्कर्ष का समय था। ब्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ी बोली काव्य का माध्यम बन चुकी थी। ब्रजभाषा-काव्य की शृंगार-भावना को तिलांजलि देकर खड़ी बोली के द्विवेदी-युगीन कवि पौराणिक आख्यानों या समाज-सुधार विषयक समस्याओं को पद्यबद्ध करने में लगे हुए थे। कल्पना और भावुकता के स्थान पर आख्यानात्मक या वर्णनात्मक विषयों को कविता में स्थान मिलता था। नैतिकता का नारा इतना बुलन्द था कि शृंगार, प्रेम आदि विषयों का समावेश काव्य-क्षेत्र में सर्वथा निषिद्ध ठहरा दिया गया था। भाषा और भाव-परिवर्तन के इस आन्दोलन ने अव्यक्त रूप से काव्य पर भी औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था। कविता भी यंत्रवत् परिचालित होकर यांत्रिक युग की प्रतीक मात्र बनकर रह गई थी। जीवन में रस और भाव का अभाव होता जा रहा था। समस्त अभिव्यक्ति गद्यमयी या इतिवृत्तात्मक होकर जड़ बनती जा रही थी। कविता की इस सीमित मर्यादा को स्वीकार न करने वाले कवियों में छायावादी कवि पन्त का प्रमुख स्थान है। प्रेम, शृंगार और विलास-वैभव जीवन में केवल अनैतिकता का ही विधान नहीं करते वरन् इनके स्वस्थ और शोभन प्रभाव से जीवन दीप्त हो उठता है। प्रेम का व्यापक प्रभाव, शृंगार का मोहक आकर्षण और प्राकृतिक वैभव का अतुल स्पन्दन भला कौन भावुक व्यक्ति स्वीकार न करेगा। छायावादी कवियों ने द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मक कविता में परिवर्तन लाने का बीड़ा उठाया और उसे शुष्कता और नीरसता की सीमाओं से बाहर लाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में कवि पन्त का स्थान उल्लेखनीय है।

जीवन-वृत्त

श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म कूर्मांचल प्रदेश के अलमोड़ा जिले के कौसानी नामक गांव में मई सन् १९०० ई० में हुआ। गांव की पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के बाद अलमोड़ा के सरकारी स्कूल में पढ़े, किन्तु हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए काशी चले गये और काशी के जयनारायण हाई स्कूल से मैट्रिक पास किया। आगे अध्ययन करने के लिए प्रयाग गये और वहां के म्योर सेंट्रल कालेज में भर्ती हो गये। इंटरमीजिएट तक पढ़ने के बाद अध्ययन क्रम नहीं चल सका और अलमोड़ा वापस आकर घर पर ही स्वतंत्र

रूप में हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं के अध्ययन में प्रवृत्त हुए। शैशव से ही आपकी रुचि साहित्य और दर्शन की ओर रही है। साहित्य-क्षेत्र में कालिदास, रवीन्द्र, शेली, कीट्स, वर्डस्वर्थ, टेनीसन इनके प्रिय कवि हैं। दर्शन के क्षेत्र में शंकर, विवेकानन्द, रामतीर्थ और अरविन्द पर इनकी विपुल आस्था है। पार्वत्य प्रदेश में जन्म लेने और जीवन-यापन करने के कारण प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति आपके अन्तर में एक विशिष्ट प्रकार का गहरा अनुराग है। प्रकृति के सभी रूपों का आपने दर्शन किया है और उसे अपने काव्य का विषय बनाया है।

पन्तजी ने अपने जीवन के पचास वर्ष स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना में ही व्यतीत किये। इधर सात-आठ वर्षों से आकाशवाणी में हिन्दी परामर्शदाता के रूप में कार्य करना स्वीकार कर लिया है, किन्तु इस कार्य के साथ-साथ आपकी साहित्य-साधना निरन्तर चल रही है और कविता के विविध प्रयोग आपकी लेखनी द्वारा हो रहे हैं। पन्तजी का व्यक्तित्व सौम्य और आकर्षक है, वैसा ही उनका व्यवहार-बर्ताव भी मोहक और शालीन है। निसर्ग ने उन्हें कवि का रूप, मन, वाणी, रुचि और आकर्षण प्रदान किया है। वे सचमुच निसर्ग-सिद्ध कवि हैं।

पन्तजी ने अपनी प्रतिभा के उन्मेष के लिए कविता के साथ गद्य को भी स्वीकार किया है। गद्य के क्षेत्र में पन्तजी के गंभीर विचारोत्तेजक निबंध, कविता-संग्रहों की भूमिकाएं, कहानी और नाटक विशेष रूप से उल्लेख्य हैं। पन्तजी का गद्य काव्य की सरसता से ओत-प्रोत होने के कारण बहुत ही सुष्ठु और प्रांजल होता है। इस लेख में हम उनकी काव्य-प्रतिभा पर ही विचार व्यक्त करेंगे।

पन्तजी ने किशोरावस्था से ही काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में ही कविता लिखने की प्रवृत्ति हुई और अध्ययन के दिनों में ही कवि की वाणी गूंजने लगी। प्रयाग में पढ़ते समय प्रोफेसर शिवाधार पांडे ने आपकी प्रतिभा को पहचाना था और भावी कवि को प्रोत्साहित किया था। अभी तक पन्तजी के लगभग एक दर्जन कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं,जिनके नाम इस प्रकार हैं—'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'युगपथ', 'स्वर्ण धूलि', 'स्वर्ण किरण', 'मधुज्वाल', 'उत्तरा', 'अतिमा' और 'शिल्पी'।

पन्तजी की काव्य-साधना का क्रमिक विकास

पन्तजी ने अपनी काव्य-प्रेरणा के विषय में 'आधुनिक कवि—पन्त' की भूमिका में लिखा है कि—"कविता की प्रेरणा मुझे सबसे पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी मुझे याद है, घंटों एकान्त में बैठा प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था, और कोई आकर्षण मेरे भीतर, एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था।...प्रकृति के साहचर्य ने जहाँ एक ओर मुझे सौन्दर्य, स्वप्न और कल्पनाजीवी बनाया, वहाँ दूसरे ओर जन-भीरु भी बना दिया। यही कारण है कि जन-समूह से अब भी मैं भागता हूं।...स्वामी विवेकानन्द

और रामतीर्थ के अध्ययन से प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विश्वास में भी अभिवृद्धि हुई है।"

कवि पन्त ने काव्य-क्षेत्र में पदार्पण करने पर किसी परम्परा का आश्रय नहीं लिया। भाषा और भाव दोनों क्षेत्रों में उनका पथ-प्रदर्शन करने वाली उनकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियां और सहज प्रेरणाएं ही थीं। कवि सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर उसके वर्णन-अंकन में प्रवृत्त हुआ। उसने किसी परम्परा के रूप में चित्र-चयन नहीं किये वरन् जो कल्पित चित्र उसके मानस में स्वतः उभर कर आते गये उन्हीं को वह रूप देता गया। ग्रंथि, उच्छ्वास और आँसू के उद्गार उसकी अपनी यौवन-सुलभ अनुभूतियों की नैसर्गिक अभिव्यक्ति है। जिस विरह-व्यथा का वह अनुभव कर रहा है वह रीतिकालीन बिहारी, पद्माकर आदि श्रृंगारी कवियों की ऊहात्मक, अस्वाभाविक विरह वेदना न होकर स्वस्थ कवि की व्यापक विरहानुभूति है जिसमें पाठक सहज रूप से निमज्जित हो जाता है। वह विरह को असीम शक्ति सम्पन्न मानकर गा उठता है :

वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान।
उमड़कर आखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान॥

कवि ने स्वानुभूति को व्यापक बनाने के लिए जो अभिव्यक्ति की, वह पूर्णरूपेण सफल हुई। पन्त की वाणी जन-जन की वाणी में विलीन हो गई। अश्रु और गीति का, कल्पना और वेदना का, मधुर आह का और छन्द का एकीकरण करने में कवि को इसी कारण सफलता मिली कि उसने अनुभूति की प्रखरता के साथ भाव का अंकन किया था, परिपाटी-पालन के लिए नहीं :

कल्पना में है कसकती वेदना
अश्रु में जीता सिसकता गान है,
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है ?

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि पन्त एक विशेष दृष्टिकोण लेकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए थे। उनके अन्तर्नेत्रों के सामने सौन्दर्य का असीम सागर लहरा रहा था। वे चाहते थे कि प्रेम और सौन्दर्य के इस उर्मिल सागर की लहरों में संसार का समस्त शोक-संताप समा जाय और संसार सुख-समृद्धि का सुहावना स्थल बन जाय। 'संसार से तामसी विनाश उठ जाय और यह सृष्टि प्रेम की पलकों में, अपने ही स्वरूप पर मुग्ध, सौन्दर्य का स्वप्न बन जाय।' ऐसी कोमल-कान्त कल्पनाशील भावनावाले कवि के काव्य में यदि सौन्दर्य और प्रेम के चित्र अनुरंजित हो उठे हों तो आश्चर्य ही क्या! पन्त की कविता का यह श्रृंगार-काल था। श्रृंगार को काव्य की पिच्छल भूमि कहा जाता है। किन्तु कवि पन्त का श्रृंगार और रूप-वर्णन प्राकृतिक उपादानों से उद्भूत समष्टि में व्याप्त रहनेवाला है, रूप और सौन्दर्य की किसी इकाई को कवि ने स्वीकार नहीं किया। पन्त का स्नेह साहचर्य के लिए व्याकुल होता हुआ भी उपभोग की व्याकुलता उसमें नहीं है। पन्त के

प्रेम और सौन्दर्य में आलिंगन और चुम्बन की मदमाती पुकार कहीं नहीं है—वे सर्वत्र संयत भाव से भावना में लीन होना चाहते हैं।

'वीणा' कवि की प्रारम्भिक रचना है। सन् १९१८-२० के बीच कवि ने इसे लिखा। रवीन्द्र और सरोजिनी नायडू की रचनाओं का कवि पर गहरा प्रभाव था, सम्भवतः उसी प्रभाव की प्रतिध्वनि इसमें रही हो। कवि 'वीणा' की कविताओं में द्विवेदीयुगीन कर्कश भाषा और रीतिकालीन सीमित-रूढ़ भाव-योजना पर व्यंग्य करते हुए अपनी अभिव्यक्ति को उनसे पृथक् बताता है :

यह अति अस्फुट ध्वन्यात्मक है
बिना व्याकरण बिना विचार।

* * *

इन नयनों को समझाओ
इन्हें न लड़ना सिखलाओ,
प्रेयसि कविते! हे निरुपमिते!
कमल कली में इन्हें डालकर
हाय! न यों ही ढुलकाओ
अज्ञाता की केश-राशि में
इन्हें न कस-कस बंधवाओ॥

रीतिकालीन संकीर्ण रूढ़िप्रियता पर पन्त जी का सुन्दर व्यंग्य द्रष्टव्य है।

पन्त ने अपनी कला-शिल्प के लिए द्विवेदी-युग और रीति-युग दोनों के भीतर से सुरुचिपूर्ण सामग्री का चयन किया है। साहित्य के लिए स्वाभाविक और स्वस्थ उपकरणों के चयन में उन्हें संकोच नहीं होता। इसीलिए कवि पन्त ने 'वीणा' के गीतों में इसी कारण भक्ति, प्रेम, अध्यात्म, वैराग्य, प्रकृति, सौन्दर्य, माधुर्य आदि को सुरुचि के साथ प्रस्तुत किया है। 'वीणा' की प्रत्येक कविता के पीछे इन्हीं भावों में से किसी की प्रेरणा देखी जा सकती है। लोकानुरक्ति और संस्कार-भावना के साथ कवि गाता है :

विश्व प्रेम का रुचिकर राग
पर सेवा करने की आग
इसको सन्ध्या की लाली सी
मा! न मन्द पड़ जाने दे।
द्वेष-द्रोह को सान्ध्य जलद सा
इसकी छटा बढ़ाने दे॥

'वीणा' के बाद कवि का स्वर प्रणय-काव्य की दिशा में और अधिक प्रखरता के साथ गुंजित हुआ। 'पल्लव' की रचनाओं में प्रणय-भावना और प्राकृतिक सौन्दर्य को कवि ने बड़ी दृढ़ता के साथ पकड़ा और उसे समष्टिगत सौन्दर्य में अंकित करने का प्रयास किया। 'पल्लव' की 'आंसू' शीर्षक कविता प्रणय की जो रूप-रेखा प्रस्तुत करती है, वह जितनी मांसल है, उतनी ही उदात्त भी है :

बिन्दु में भी तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त संगीत
एक कलिका में अखिल वसन्त,
धरा में भी तुम स्वर्ग पुनीत

प्रणय-गीत का चरम सौन्दर्य ग्रंथि में देखने को मिलता है। अतीत की मधुर स्मृति को कल्पना द्वारा जागृत करते हुए कवि ने काव्य-शिल्प का अनुपम रूप खड़ा किया है :

तरणि के ही संग तरल तरंग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में;
सान्ध्य निःस्वन से गहन जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।

⚘ ⚘ ⚘

अनिल कल्पित कमल कोमल गात को
अंक भर कर रसिक ! किसकी चाह की
बांह तृप्त हुई ? तुहिन जल से हसित
किसलयों को चूम किसका मन बुझा।

दुःखान्त कविता 'ग्रन्थि' में कवि ने विरह, विक्षेप, उन्माद और उद्भ्रान्त दशा के चित्र प्रस्तुत करते समय सभी भावों और मनोविकारों को साकार करने में कौशल का परिचय दिया है। छायावदी काव्य सौष्ठव का इस कविता में उज्ज्वल भविष्य झाँकने लगा है। शृंगारिक कविता के पुराने उपकरणों को कवि ने नया रूप देकर छायावाद की सार्थकता की घोषणा कर दी है।

'ग्रंथि' में पन्त की शब्द-सम्पत्ति तथा राग-शक्ति प्रचुर मात्रा में समृद्ध हुई। 'ग्रन्थि' का अलंकरण संस्कृत की तत्सम पदावली तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि प्राचीन अप्रस्तुत योजना द्वारा हुआ। सारी प्रसाधन सामग्री पर कालिदासीय शैली का अस्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। 'वीणा' और 'ग्रन्थि' के बाद 'पल्लव' पन्त जी की तरुण काव्य कृति है। कवि ने 'पल्लव' में अपनी भावनाओं को अपेक्षाकृत अधिक व्यक्त रूप देकर प्रस्तुत किया है। जिस अनजान बालिका का वर्णन 'वीणा' में कवि ने किया था उसे 'पल्लव' में अधिक स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। 'वीणा' में ब्रजभाषा का अव्यक्त प्रभाव कवि की अभिव्यक्ति पर बना हुआ था। कहीं-कहीं वह दिखाई भी दे जाता है। जैसे :

गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषन
श्रवण तक आ जाता है मन
स्वयं मन करता बात श्रवन।

ये पंक्तियां ब्रजभाषा की सुप्रसिद्ध पंक्ति 'कानन लौं अँखियाँ ये तुम्हारी, मूंदे तऊ तुम देखति हो' का स्मरण दिला देती है। 'पल्लव' में ब्रजभाषा का प्रभाव 'बादल' शीर्षक

रचना में देखा जा सकता है। ब्रजभाषा के पुराने उपादान 'धूम धुम्रारे, काजर कारे' 'मदनराज के वीर बहादुर पावस के उड़ते फणिधर' आदि में देखे जा सकते हैं। 'पल्लव' की अभिव्यंजना के लिए स्वयं कवि ने अंग्रेजी कवियों का आभार स्वीकार किया है—"शेली, कीट्स, टेनीसन आदि कवियों से मैंने बहुत कुछ सीखा। मेरे मन में शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध पैदा हुआ।' "पल्लव' में कवि ने कुछ लम्बी और वर्णन-चिंतन-प्रधान रचनाएँ भी लिखी हैं जो कवि के आभ्यंतर आग्रह का द्योतन करती हैं।

'गुंजन' में कवि की सौन्दर्यानुभूति और प्रेमानुभूति सामाजिक धरातल पर आ टिकी है। व्यक्ति की सीमाओं से बाहर समाज के भीतर प्रवेश करके उसे समझने की बलवती स्पृहा कवि के भीतर उत्पन्न हो गई है। व्यक्तिवाद को छोड़कर वह लोकसाधना की दिशा में अपनी कविता को प्रेरित करना चाहता है। 'सुख-दुःख' शीर्षक कविता में कवि का सामाजिक दृष्टिकोण निखरा हुआ और स्पष्ट है :

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित है अति सुख से
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से

'गुंजन' में कवि ने आध्यात्मिक चिन्तन के मूल प्रश्नों को भी उठाया है अर्थात् त्याग और वैराग्य के अतिवाद से छूटकर वह अनासक्ति की संयत सीमा में रहना चाहता है। वैराग्य और अनासक्ति से संसार में रहस्यवाद भले ही उत्पन्न हो जाय किन्तु शाश्वत सुख और शान्ति सम्भव नहीं :

क्या यह जीवन ? सागर में
जल भार मुखर भर देना।
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा
व्रीड़ा से तनिक न लेना॥

'गुंजन' पन्त जी की एक विशेष प्रगति का सूचक है। भाव से कवि विचार की ओर बढ़ा है। 'वीणा' और 'पल्लव' की भावनाएँ 'गुंजन' में मर्यादित होकर व्यक्त हुई हैं। 'पल्लव' की भाषा में भावना की सुकुमारता और पेशलता थी, 'गुंजन' की भाषा में मनन और चिन्तन की शक्ति है। भाषा के साथ पन्त जी के छन्दों और काव्य-शैली में भी परिवर्तन हुआ है। 'पल्लव' में जिन रूढ़ छन्दों को पन्त जी ने बनाए रखा था, उन्हें 'गुंजन' में छोड़ दिया है और नए छन्दों की योजना की है। रसानुकूल छन्द-योजना पन्त जी की विशेषता है। करुण और शान्त रस के वर्णन में मन्द गति से चलनेवाले छन्द और शृंगार, वीर, वात्सल्य आदि के वर्णन में द्रुत गति से चलने वाले छन्द रखकर पन्त जी ने छन्द को रस के साथ जोड़ दिया है। स्वर और व्यंजनों के प्रयोग की कला 'पल्लव' के समान 'गुंजन' में भी बनी रही है। प्रतीक-योजना भी 'पल्लव' के समान ही 'गुंजन' में भी है। संक्षेप में, 'गुंजन' पन्त जी की बौद्धिक चेतना की सजगता का आभास देने वाली रचना

है। इसमें हृत्तंत्री के तारों पर बौद्धिकता का नियंत्रण रहा है।

'युगान्त' पन्त जी की दिशा-परिवर्तन की सूचना देने वाली रचना है। इसमें कवि को हम जीवन की ठोस भूमि पर खड़ा पाते हैं। "अब वह दुःख, पीड़ा, अन्याय-अत्याचार के अन्धकार को फाड़कर मंगल ज्योति फूटती देखना चाहता है। मंगल का अमंगल के साथ संघर्ष देखना चाहता है, जो गत्यात्मक जगत् का कर्म-सौन्दर्य है।" ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का जीवन सांसारिक संघर्षों के कारण श्रान्त और श्लथ हो गया है और उसका ध्यान उन लोगों की ओर जाने लगा है जो इसी प्रकार जीवन-संघर्ष में जूझ रहे हैं। कवि ने 'युगान्त' की कविताओं के विषय में स्वयं लिखा है—"'युगान्त' में मैं निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है।" कवि जिस युग का अन्त देख रहा था वह सामन्त युग और पूँजीवादी युग है; इन्हीं का अन्त 'युगान्त' है। पुरातन युग को जीर्ण-शीर्ण मानकर कवि ने 'युगान्त' की प्रथम कविता में कहा है :

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र!
हे स्रस्त-ध्वस्त! हे शुष्क शीर्ण!
हिम ताप पीत, मधु वात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन!

कला की दृष्टि से भी 'युगान्त' में पन्त ने परिवर्तन उपस्थित किया है। कवि ने लिखा है—"'युगान्त' में 'पल्लव' की कोमल-कान्त कला का अभाव है। इसमें मैंने जिस नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, मुझे विश्वास है, भविष्य में मैं उसे अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकूंगा।"

छायावादी कवि द्वारा भाववस्तु को प्रगतिशील और जीवनमय बना लेने पर भी अपनी अभिव्यंजना कला को आमूल बदलना कठिन था। इसलिए छायावादी सभी सुन्दर उपकरण कवि ने छोड़े नहीं हैं। नीचे की पंक्तियों में छायावादी शब्द-सजीवता और प्रतीकों की योजना छायावादी शैली के चरम सौन्दर्य का आभास देती है :

पतझड़ के कृश पीले तन पर,
पल्लवित तरुण लावण्य-लोक।
शीतल हरीतिमा की ज्वाला
दिशि दिशि फैली कोमलालोक॥

'युगान्त' जीवन के प्रगतिमय चित्र प्रस्तुत करने वाले गीत-संग्रह है किन्तु प्रकृति सौन्दर्य को कवि ने यहां भी छोड़ा नहीं है।

कवि पन्त के जीवन में 'युगवाणी' का महत्वपूर्ण स्थान है। इस रचना को कवि के जीवन-दर्शन का मोड़ कहा जा सकता है। कवि ने छायावादी सौन्दर्य और गांधीवादी आध्यात्मिक चेतना को पाकर भी जीवन में पूर्णता का अनुभव नहीं किया था। उसे जीवन के लिए मार्क्सवाद का आधार दिखाई दिया और उसने अनुभव किया कि इस

अवलम्ब द्वारा समाज में सुख-समृद्धि की किसी सीमा तक स्थापना की जा सकती है। फलतः उसका दृष्टिकोण एक साथ परिवर्तित हुआ और हिन्दी कविता में प्रगतिवादी विचारधारा को बड़े संयम किन्तु वेग के साथ पन्तजी ने प्रवाहित किया। स्मरण रहे कि पन्त ने मार्क्सवाद को अन्धानुकरण द्वारा ग्रहण नहीं किया था। वे इस सिद्धान्त को ऐकान्तिक सत्य के रूप में स्वीकार करके नहीं चले थे वरन् वे अध्यात्म और साम्यवाद का समन्वय चाहते थे। उनका मानस साम्यवादी सीमाओं से परिचित था और वे प्रश्न-शील होकर ही इस दिशा में प्रवृत्त हुए थे :

वस्तुवाद ही सत्य, मृषा सिद्धान्तवाद, आदर्श ?
बाह्य परिस्थिति के आश्रित अन्तरजीवन-उत्कर्ष।

कवि ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को समझकर भी एकान्त सत्य नहीं माना और उसकी नीरसता की उसने बार-बार शिकायत की। भौतिकवाद जीवन के लिए सुख-समृद्धि का सारे उपकरण जुटा सकता है, इसमें उन्हें सदा सन्देह रहा। इसी कारण गान्धीवाद की ओर कवि बार-बार मुड़-मुड़कर देखता रहा है। उसके अडिग विश्वास की भूमि गांधीवादी विचारधारा के भीतर है जो साम्यवाद के साथ मेल करके विश्व-कल्याण कर सकती है। प्रगतिवादी विचारों में यह नूतन क्रान्ति थी जिसे हिन्दी कवि और काव्य ने अभी तक नहीं पहचाना था।

'युगवाणी' विश्व-प्रेम, मानव-प्रेम और अध्यात्म-प्रेम का काव्य है। कवि 'बहिरन्तर' का विकास चाहता है, वह वस्तु-जगत् और मनोजगत् दोनों के अभ्युदय की कामना करता है। इसलिए वह एक ऐसी नवसंस्कृति का शिलान्यास करना चाहता है, जिसमें मानव-मानव का भेद-भाव दूर होकर विश्वैक्य की भावना स्थापित हो सके।

क्षुद्र व्यक्ति को विकसित हो बनना है अब जन-मानव।
सामूहिक मानव को निर्म्मित करनी है नव संस्कृति॥

मानव की दुर्बलताओं के प्रति कवि का भाव घृणा का न होकर स्नेह और सराहना का है। वह दुर्बल व्यक्ति को त्याज्य कहकर दूर नहीं करना चाहता। मानवतावाद का यह सिद्धान्त भावनाओं के परिष्कार की चरम परिणति है। बुद्ध, ईसा, गांधी सबके जीवन में इस प्रकार की उदार भावना देखी जा सकती है :

रक्त-मांस का जीव, विविध
दुर्बलताओं से पोषित,
मनुष्यत्व दुर्लभ सुरत्व से
निष्कलंकता पीड़ित॥

प्रगतिवादी जीवन-दर्शन का 'युगवाणी' में जयघोष होने पर भी यह राजनीतिक धरातल की रचना नहीं है। इसका आधार सामाजिक और प्राकृतिक है। कला के माध्यम से युग-चेतना को वाणी प्रदान करना ही कवि को इष्ट रहा है, किसी वाद विशेष के आग्रह को कवि ने स्वीकार न करके काव्यात्मा को अक्षुण्ण रखा है।

'युगवाणी' के बाद पन्तजी की उसी दिशा में एक और कृति 'ग्राम्या' सामने आई। 'ग्राम्या' अपने नाम से ही विषय-वस्तु का संकेत प्रस्तुत करनेवाली रचना है। भारतीय ग्राम इस देश की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक माने जाते रहे हैं किन्तु आज गांवों की जैसी स्थिति है, वह दर्शक को इस बात को सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या संस्कृति को पालने-पोसने वाले गांव दुःख-दैन्य, धनाभाव, दरिद्रता, रोग और मृत्यु का दंड ही भोगने के लिए शेष हैं। पन्तजी ने गांवों के साथ बौद्धिक सहानुभूति रखते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि वर्तमान युग में बनावटी अर्थशास्त्र के दुष्परिणाम से पीड़ित गांव की आत्मा और शरीर दोनों छटपटा रहे हैं। गांव का जीवन निःशेष हो गया, संस्कृति ढूहों में कराह रही है। नगरों की आर्थिक राजनीति ने गांवों को ग्रस लिया है। गांव के निवासी इस शोषण नीति से आक्रान्त होकर चेतना-विहीन, शापित जीवन का भार ढो रहे हैं। यांत्रिक युग का भी गांवों की संस्कृति और आर्थिक स्थिति पर घातक प्रभाव कवि ने देखा है। गांवों के इस विपन्न जीवन को कवि ने 'वे आंखें', 'गांव के लड़के', 'वह बुड्ढा', 'ग्राम वधू' आदि कविताओं में बड़ी सजीवता से व्यक्त किया है। गांव आज मरणोन्मुखी संस्कृति के अवयव रूप रह गये हैं—सामन्त युगीन संस्कृति के खंडहर गांव आज हमें अपनी दयनीयता के कारण ही आकर्षित करते हैं।

'ग्राम्या' की कविताओं में कवि के मानस की समवेदना जिस रूप में व्यक्त हुई है वह भाव-सृष्टि का ही प्रतिफल है। भावात्मक शैली से कवि ने अपनी ममता, करुणा, समवेदना को ध्वनित किया है। 'ग्राम्या' की रचना छायावादी कवि द्वारा हुई यह आश्चर्यजनक भले ही प्रतीत हो किन्तु इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि इतना मार्मिक जनवादी साहित्य उस समय द्विवेदी-युगीन कवि भी प्रस्तुत नहीं कर सके थे। हिन्दी के जन-साहित्य में 'ग्राम्या' की टक्कर की दूसरी रचना नहीं है। ग्राम-जीवन के विविध चित्र प्रस्तुत करके कवि पन्त ने अपनी बौद्धिक सहानुभूति को काव्य द्वारा क्रियात्मक सहानुभूति तक पहुंचा दिया है। धोबी, चमार, कहार, गूजर सभी प्रकार के नृत्य-वर्णन में कवि की दृष्टि और वर्णन की सजीवता, सांगोपांगता देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। इन कविताओं को पढ़कर लगता है कि जैसे कवि सचमुच पूर्णरूपेण ग्राम जीवन में समाया हुआ है। ग्रामश्री का एक चित्र देखिए :

हंसमुख हरियाली, हिम आतप-
सुख से अलसाये-से सोये—
भीगी अंधियाली में निशि की—
तारक स्वप्नों में से खोये।
मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,
निरुपम हिमान्त में स्निग्ध शान्त—
निज शोभा से हरता जन-मन॥

'ग्राम्या' में भी कवि जीवन्त प्रकृति से विमुख नहीं रहा है। प्रकृति के विविध चित्रों की पृष्ठभूमि में कवि ने ग्राम-श्री का वर्णन किया है। 'ग्राम्या' में कुछ राष्ट्रीय कविताएं भी हैं जिनमें 'भारत माता ग्रामवासिनी' तो पर्याप्त प्रसिद्ध है। 'ग्राम्या' के द्वारा श्रमिक और कृषक दोनों की भावनाएं कवि ने व्यक्त करके इस संग्रह को पूर्णता दे दी है।

'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की समीक्षा से यह बात स्पष्ट है कि इनमें पन्तजी का ध्यान जीवन-संघर्ष के बाह्य पक्ष की ओर रहा है और वे प्रगतिवाद के प्रोत्साहक रहे हैं। साम्यवादी विचारधारा से पूर्णतः सहमत न होने पर भी उसके साधु उपयोग की वे इनमें चर्चा करते रहे। साम्यवाद को उन्होंने वर्ग-क्रान्ति के रूप में उपादेय नहीं माना, क्योंकि वर्ग-युद्ध के रूप में यह फासिज्म और साम्राज्यवाद से भिन्न नहीं रहेगा। इन तीनों रचनाओं के बाद फिर एक बार पन्तजी की विचारधारा में प्रबल आन्दोलन हुआ और उनके भीतर बाह्य संघर्ष की अपेक्षा अन्त:संघर्ष की प्रधानता हुई। दृश्य जगत् के स्थूल प्रश्नों से हटकर उनका ध्यान अन्तर्जगत् (भाव-जगत्) के सूक्ष्म प्रश्नों की ओर गया। फलतः 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' और 'युगपथ' नामक रचनाएं क्रमिक विकास के साथ हमारे सामने आईं। इन चारों कविता-संग्रहों में उत्तरोत्तर भावभूमि का विकास होता गया है। पन्तजी ने अपने इस परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए स्वयं लिखा है— "'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्वमानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर, जो तत्वतः एक ही दिशा की ओर निर्देश करते हैं।" इन रचनाओं के अन्तर्जगत् की ओर ध्यान देने के विशेष कारण का पन्त जी इस प्रकार संकेत करते हैं—"'स्वर्ण किरण' में मैंने अन्तर्जीवन, अन्तश्चेतना आदि को इतना महत्व इसलिए भी दिया है कि इस युग के भौतिक दर्शन के प्रभाव से हम उन्हें बिल्कुल ही भूल गये हैं।" किन्तु जिस आध्यात्मिक चेतना का पन्त जी पोषण कर रहे हैं वह प्रवृत्तिमयी है, वैराग्यमयी नहीं। इसके विषय में वे स्वयं कहते हैं—"इस अध्यात्म चेतना का मूल तत्व है—समन्वय; व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और सम-दिक् विकास का समन्वय, बहिरन्तर अर्थात् भौतिक और आध्यत्मिक जीवन का समन्वय।"

'स्वर्ण किरण' की कविताओं का वातावरण सांस्कृतिक है। उसकी प्रतीक योजना रहस्यवाद की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करती है :

विश्व चेतना में प्रकाश तम
परम चेतना में न द्वन्द्व भ्रम।

यहां परम चेतना की उपलब्धि की बात रहस्यवादियों के समान ही प्रस्तुत की गई है। प्रकृति की परमात्म सत्ता का वर्णन भी कवि ने इसी धारा में किया है। 'रजतातप', 'इन्द्र धनुष', 'व्यक्ति और विश्व' आदि कविताएं प्रकृति के परमात्म रूप का आभास देने वाली हैं।

'स्वर्ण धूलि' के विषय में पन्तजी लिखते हैं : "'स्वर्ण धूलि' का धरातल सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के

रूप में अंकुरित हो उठी है।"

चीर आवरण भू के तम का स्वर्ण शस्य हों रश्मि अंकुरित।
मानस के स्वर्णिम पराग से धरती के देशान्तर गर्भित ॥

पन्त जी कला के क्षेत्र में प्रयोगशील रहे हैं। 'स्वर्ण धूलि' में उनकी कविता के कई रूप दृष्टिगत होते हैं। गीतिकाव्य, गीतिनाट्य, गीत, गद्य, पद्य, निबंध आदि। पद्य का सहज रूप उनकी 'पतिता', 'परकीया', 'ग्रामीण', 'लोक सत्य', 'आशंका', 'स्वप्न निर्मल' आदि कविताओं में देखा जा सकता है। इन कविताओं में कवि ने अपना समाज-दर्शन प्रस्तुत किया है।

'स्वर्ण धूलि' के गीतों में कवि का अन्तर-दर्शन है। सौन्दर्य, प्रेम और भक्ति में कवि का क्रमिक मनोविकास हुआ है। प्रारम्भिक कविताओं में सौन्दर्य के शृंगारी चित्र भी कवि ने अंकित किये हैं, उसके बाद प्रेम की भावना भी उसमें आई है, अन्त में भक्ति में उसका काव्य उदात्त हो गया है। 'स्वर्ण धूलि' को पढ़कर पन्तजी की काव्य-निपुणता का अच्छा परिचय मिलता है। पन्त जी छन्द, भाषा, रससृष्टि, अवलम्ब विधान, अप्रस्तुत योजना आदि में कितना वैविध्य ला सकते हैं इसका सबसे अच्छा प्रमाण 'स्वर्ण धूलि' ही है। सीधी-सादी पद्यात्मक रचनाएं भी इसमें हैं और गंभीर कलात्मक कृतियों का भी अभाव नहीं है। दोनों के उदाहरण देखिए:

सन्ध्या का गहराया झुटपुट
भीलों का सा धरे सिर मुकुट
हरित चूड़ कुकड़ूं कूँ कुक्कुट।

दूसरा उदाहरण है :

यह विदेह प्राणों का बन्धन
अन्तर्ज्वाला में तपता तन !
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण।

'उत्तरा' पन्त की अध्यात्म-यात्रा का प्रौढ़ पदन्यास है। इस काव्य कृति में जिस दार्शनिक चिन्तन को कवि ने प्रस्तुत किया है उसका मूलाधार क्या है यह जानना आवश्यक है। पन्तजी बहिरन्तर के समन्वय की आवश्यकता पर 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में पर्याप्त बल दे चुके थे। 'उत्तरा' में उनकी भावधारा और अधिक गम्भीर हो गई है। कवि ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि अन्तर्मुखी जीवन का विकास पदार्थमात्र (मैटर) की उपलब्धि से नहीं हो सकता। उसके लिए जीवन के स्थूल भौतिक समतल मानों को छोड़कर 'ऊर्ध्व संचरणशील' बनना पड़ेगा। इस ऊर्ध्व संचरण के लिए हमें जीवन के समस्त बाह्य आन्दोलनों को नूतन सांस्कृतिक धारा में परिवर्तित करना होगा। जीवन की इन बहिरन्तर मान्यताओं का प्रकृत समन्वय ही मानव विकास का सोपान है। जीवन-विकास के लिए आज एक ऐसे सूक्ष्म सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता है जो मानव

चेतना के बाह्य धरातलों में मानवीय सन्तुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जन-वाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सके।

बदल रहा अब स्थूल धरातल, परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल।
विस्तृत होता बहिर्जगत् अब, विकसित अन्तर्जीवन अभिमत॥

'मानववाद' का पोषण पन्तजी की रचनाओं में बहुत पहले से दृष्टिगत होता है किंतु प्रगतिकालीन रचनाओं के बाद जब पन्तजी का स्वर अध्यात्म की दिशा में गूंजने लगा तब से मानववाद की नवीन रूप-रेखा उभरती आई। सार्वभौम मानववाद की परिष्कृत कल्पना करके पन्तजी ने संसार को सुख-शान्ति का शाश्वत निकेतन बना दिया है :

अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त देवत्व रहा रे शनैः निखर।
भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग फिर विचरण करने को भू पर॥

* * *

देवों को पहना रहा पुनः मैं स्वप्न मांस के मर्त्य वसन।
मानव आनन से उठा रहा अमरत्व ढके जो अवगुंठन॥

'उत्तरा' में आध्यात्मिक दृष्टिकोण करते हुए पन्तजी ने जिस जीवन-दर्शन को उपादेय माना है वह अरविन्द का अनासक्ति दर्शन है जिसमें आत्मा के विकास के लिए ऐसी अन्तरसाधना का उपदेश है जो संघर्ष और द्वन्द्व को स्वीकार नहीं करती। जिस साधना की एक जड़ अपरिग्रह है तो दूसरी जड़ सांस्कृतिक उन्नयन के भीतर पैठी हुई है। अरविन्द की साधना को व्यवहार्य बनाने के लिए कवि ने ऊर्ध्व संचरणशील बनने तथा समदिक् जीवन की मानसिक उपत्यकाओं में विचरण करने का मार्ग सुझाया है, जो भौतिकवादी युग में किस प्रकार चरितार्थ होगा यह विचारणीय है।

काव्य-शैली की मनोहारिता 'उत्तरा' में किसी प्रकार न्यून नहीं हुई है। पन्तजी की कल्पनाएं, उपमाएं, उत्प्रेक्षाएं इस काव्य में भी वैसी ही हैं जैसी उनके पूर्ववर्त्ती काव्यों म थीं। प्रकृति के चित्रोपम वर्णनों द्वारा कवि ने चिन्तन-मनन के शुष्क अध्यात्म को सरस बना दिया है। इन कृतियों के अनुशीलन से कवि का नैतिकता के अटल आग्रह जिस रूप में पाठक के अन्तर्मन पर अंकित होता है वह 'कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे' का अच्छा निदर्शन है।

कवि पन्त की अध्यात्म चेतना से उद्बुद्ध इन तीनों कृतियों को यदि आज से शताब्दियों बाद भी कोई पढ़ेगा तो उसे लगेगा कि यह युग-कवि अपने काव्य-कौशल और जीवन-दर्शन के आधार पर मनोरम काव्य सृष्टि ही नहीं कर रहा था वरन् वह मानव जाति के पुनरुत्थान के लिए युग-निर्माण भी कर रहा था। उसकी सरस वाणी मानव को स्थूल जगत् के सम्बन्धों से उठाकर अन्तःसाधना में लीन कर रही थी। विकासोन्मुख काव्य के प्रणेता ने वर्ग-संघर्ष एवं भौतिक भोग तक ही अपने को सीमित नहीं रखा वरन् इन्द्रियों की विवशता से मिटने वाले मर्त्यों को संजीवन शक्ति का आस्वाद कराकर अमरत्व प्रदान किया था। युग-जीवन की गति-विधि को उसने उन उपयुक्त स्थलों पर घुमाव दिया जब

वह भौतिकवादी दैत्य के विकराल मुंह में समाई जा रही थी। उससे मानव को नाश के स्थान पर निर्माण का, जड़ के स्थान पर चेतन का, विषमता के स्थान पर समता का, अनैक्य के स्थान पर ऐक्य का, घृणा के स्थान पर प्रेम का, भौतिक शक्ति के स्थान पर आत्म-शक्ति के पुनरुत्थान का सन्देश दिया। कवि की इन कविताओं में शताब्दियों बाद भी आध्यात्मिक क्रान्ति-ज्वाला दिखाई देगी——उसे लगेगा कि सृजनशील बनने के लिए मानवता को किस प्रकार संकीर्णता का परित्याग करना होता है।

'युगपथ' कवि पन्त की नवीन रचनाओं का संग्रह है। 'युगान्त' और 'युगान्तर' दो खंडों में पुस्तक विभाजित है। बापू (महात्मा गांधी) को श्रद्धांजलि अर्पण करने के लिए 'युगान्तर' में १६ गीत लिखे गये हैं। कुछ राष्ट्रीय गीत भी 'युगान्तर' में संकलित हैं। 'युगान्तर' में भारत का सांस्कृतिक और कलात्मक वातावरण पुंजीभूत हो गया है। भारतीय त्यौहार-पर्वों के साथ महापुरुषों का स्तवन इसकी विशेषता है। 'शिल्पी' पन्तजी का नाट्य-गीति रूपक है जो उनकी कला-साधना का सुन्दर रूप प्रस्तुत करता है।

'अतिमा' पन्तजी की सबसे नवीन काव्य-कृति है। इस संग्रह में प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त, अधिकतर ऐसी रचनाएं भी संकलित हैं जिनकी प्रेरणा युग-जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है। पन्तजी ने आल इंडिया रेडियो के लिए बीच-बीच में विविध प्रकार की रचनाएं लिखकर जो प्रयोग किये हैं उनमें भाषा और भाव दोनों में प्रयोग-वैविध्य है। यह उसका ही निदर्शन है।

काव्य-साधना के चरण

पन्तजी ने अपनी काव्य-कला का स्वयं परिचय देते हुए लिखा है——"जब मैंने लिखना प्रारम्भ किया तब मेरे चारों ओर केवल प्राकृतिक परिस्थितियां और प्राकृतिक सौन्दर्य का वातावरण ही ऐसी सजीव वस्तु था जिससे मुझे प्रेरणा मिलती थी।…………………। मेरी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रूप धरकर चपल, मुखर, नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है।……………………। पर्वत-प्रदेश की निर्वाक् अलंघ्य गरिमा तथा हिमराशि की स्वच्छ शुभ्र चेतना ने मेरे मन को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर उसमें अपने रहस्यमय मौन संगीत की स्वरलिपि भी अंकित की है।……………………………। 'पल्लव'-काल की रचनाओं में (प्रकृति के उपकरणों का) साहचर्य छूट जाने के कारण वे स्मृति-चित्र तथा भावना के प्रतीक भर रह गये हैं। उनके शब्दों में कला का सौन्दर्य है, प्रेरणा का सजीव स्पर्श नहीं।………… 'युगान्त' में मेरा विश्वास बाहर की दिशा में भी सक्रिय हो गया है। 'युगान्त' की क्रान्ति-भावना में आवेश है और एक मनुष्यत्व के प्रति संकेत।…………………। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को प्रगतिवाद की तुतलाहट कहना पड़ेगा।…………। सन् १९४२ के केवल असहयोग आन्दोलन में भारत को जिस पाशविक अत्याचार का

सामना करना पड़ा उससे हिंसात्मक बाह्य क्रान्ति के प्रति मेरा समस्त उत्साह अथवा मोह विलीन हो गया। मेरे हृदय में यह बात गंभीर रूप से अंकित हो गई कि नवीन सामाजिक संगठन, राजनीतिक-आर्थिक आधार पर होना चाहिए। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की रचनाओं में यह धारणा अभिव्यक्त हुई है।.................। इसी समय में अरविन्द के जीवन-दर्शन के सम्पर्क में आया और मेरा विश्वास धीरे-धीरे दृढ़ हो गया कि नवीन सांस्कृतिक आरोहण इसी नवीन चेतना (अरविन्दीय जीवन-दर्शन) के आलोक में सम्भव हो सकता है।''

उपर्युक्त लम्बे अवतरण को प्रस्तुत करने का हमारा उद्देश्य स्पष्ट है। हम यह लक्ष्य कराना चाहते हैं कि प्रकृति के स्थूल सौन्दर्य से सूक्ष्म सौन्दर्य पर, सूक्ष्म सौन्दर्य से बाह्य जीवन पर, बाह्य जीवन से अन्तर्मुख जीवन पर कवि ने शनैः-शनैः पदन्यास किया है। अतः उसकी काव्य-शैली में भी भावानुकूल आरोह-अवरोह आते रहे हैं। प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेमानुभूति, रहस्यानुभूति, सामाजिक जीवन-दर्शन (प्रगतिवाद), आध्यात्मिक जीवन-दर्शन, गांधी और अरविन्द-दर्शन यही पन्तजी की काव्य-साधना के प्रमुख संस्थान हैं। इन पांच संस्थानों में पन्तजी की समस्त काव्य-कृतियों का हमने पीछे मूल्यांकन किया है।

काव्य-सौष्ठव

पन्तजी मुक्तक काव्य के प्रमुख छायावादी कवि हैं। गीति-काव्य की समस्त विशेषताओं जैसा सुन्दर रूप हमें पन्त के गीतों में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। एक ही भाव को विविध रूपों में उपयुक्त अलंकरणों से सज्जित करके गेय बना देना आपकी विशेषता है। ब्रजभाषा के पद-साहित्य की रागबद्धता में गेयता थी, छायवादी गीतों के पद-विन्यास में ताल, लय, स्वर का नैसर्गिक संगीत है। ब्रजभाषा में व्यक्ति की प्रधानता थी, छायावाद में प्रकृति की। अतः प्रकृति के माध्यम से जिन भावों को कवि ने व्यक्त किया वे व्यापक पृष्ठाधार पर खड़े होने के कारण विविध और विशद रूप में सामने आये। कवि पन्त के गीतों में प्रकृति मनुष्य की भाँति सामाजिक बन गई है। वह सांस्कृतिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने में भी सहायक होती है। फलतः पन्त के गीत विषय-वस्तु और शिल्प दोनों में ही उच्चकोटि के बन पड़े हैं।

रस की दृष्टि से पन्तजी मुख्यतः शृंगार और शान्त रस के कवि हैं। शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों पर उन्होंने सुन्दर गीत लिखे हैं। रति भाव को चरमोत्कर्ष तक पहुंचा देने की कला पन्तजी को सिद्ध है। शृंगार रस के लिए 'ग्रन्थि' कविता को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस कविता में शृंगार के रति स्थायी के साथ संचारी भावों का व्यापक चित्रण देखकर कवि की कल्पना और अनुभूति पर विस्मय विमुग्ध हुए बिना नहीं रहा जाता। रस-योजना के लिए 'परिवर्तन' शीर्षक कविता की ओर भी ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक है। इसमें वीर, रौद्र, भयानक, करुण आदि अनेक रसों की सृष्टि करके कवि ने अपने काव्य-कौशल का परिचय दिया है। शान्त रस के लिए उनकी

आध्यात्मिक भावों की रचनाओं को प्रस्तुत किया जा सकता है। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की सामाजिक रचनाओं में करुण रस का संचार दृष्टिगत होता है।

अप्रस्तुत योजना की दृष्टि से छायावादी साहित्य बहुत समृद्ध है। छायावादी कवियों ने प्राचीन रूढ़ उपमान और प्रतीक ग्रहण नहीं किये वरन् सूक्ष्म और वायवी प्रतीकों की योजना कर अपनी अप्रस्तुत योजना को नवीन कलेवर प्रदान किया। सादृश्य मूलक अलंकारों का अधिक प्रयोग करने के कारण पन्तजी की कविता दमक उठी है। उपमा, उत्प्रेक्षा रूपक और सन्देह अलंकारों की नूतन शैली से कवि पन्त ने योजना की है। सन्देह का उदाहरण देखिए :

निद्रा के उस अलसित वन में वह क्या भावों की छाया,
दृग पलकों में विचर रही, या वन्य देवियों की माया।

पन्त ने कहीं-कहीं अपनी आलंकारिक सृष्टि को बहुत ही सूक्ष्म परिधान पहना दिया है। 'उच्छ्वास' शीर्षक कविता इसका सुन्दर उदाहरण है :

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन।

* * *

गिरा हो जाती है सनयन
नयन करते नीरव भाषन
श्रवण तक आ जाता है मन
स्वयं मन करता बात श्रवन।

'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' की कविताओं में कवि ने अत्यन्त समृद्ध काव्य सामग्री का प्रयोग किया है। कविताओं का कलेवर रूप-रंग की दीप्ति से जगमगा रहा है। एक उदाहरण देखिए :

कलरव, स्वप्नातप, सुर धनु-पट
शशिमुख, हिम स्मित, गात्र ले श्वसित,
षट्ऋतु देती थीं परिक्रमा
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित
शरद चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित
हिम की परियों का अंचल उड़
जग को कर लेता था परिवृत।

पन्तजी ने अपनी अप्रस्तुत योजना में प्रकृति के मनोरम रूपों को ही ग्रहण किया है, प्रकृति के विराट्, भयानक और दुर्द्धर्ष रूपों को नहीं। किन्तु अपने गृहीत रूपों को सूक्ष्मता

और परिपूर्णता के साथ लेने के कारण विराट् रूपों का अभाव खटकता नहीं है।

कवि पन्त ने अपने गीतों में इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि जहां किसी गतिमय चित्र को प्रस्तुत करना हो, वहां वैसी ही द्रुतगति वाली शब्द-योजना की जाय, जहां किसी स्थिर चित्र को अंकित करना हो वहां शब्द-योजना में भी स्थिरता हो। गत्यात्मक चित्र के लिए पन्तजी की 'नौका-विहार' प्रसिद्ध कविता है, जिसमें गतिशील, पानी में चलती नौका शब्दों के माध्यम से ही पाठक के मानस पर तिरने लगती है :

मृदु मंद-मंद मंथर-मंथर लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर
तिर रही खोल पालों के पर।

इसके अतिरिक्त शब्दों की ध्वनि, और उससे उत्पन्न अनुकूल अनुकरण का विधान भी पन्तजी ने शब्दों के माध्यम से ही किया है। ध्वनि-चित्रण का उदाहरण 'युगान्त' में है :

बांसों का झुरमुट, संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियां, टी वी-टी-टुट् टुट्॥

* * *

मर्मर करते तरुदल मर्मर
कल कल झरते निर्मल निर्झर !
कुहू कुहू उठती कोयल ध्वनि
गुंजन रह रह भरते मधुकर !

ध्वनि के साथ वर्ण, स्पर्श, गंध का भी वर्णन पन्तजी ने बड़ी सजीवता के साथ किया है। उनके प्रकृति-वर्णनों में इन सबका समवेत रूप देखा जा सकता है :

उड़ती है भीनी तैलाक्त गंध, फूली सरसों पीली पीली,
लो हरित धरा से झांक रही, नीलम की कलि, तीसी नीली।

छन्द-योजना की दृष्टि से भी पन्तजी की कला छायावादी कवियों में सबसे अधिक व्यापक है। पन्तजी कविता के लिए छन्द की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। उन्होंने कहा है—"कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृद्कम्पन। कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होता है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।" इससे स्पष्ट है कि पन्तजी छन्द के साथ राग और संगीत भी कविता के लिए अनिवार्य मानते हैं। मुक्त या अतुकान्त छन्दों में भी लय और संगीत की योजना पन्तजी की विशेषता है। पन्तजी ने इसी कारण गद्यात्मक कविता को लय, ताल में बांध कर द्विवेदीयुगीन कवियों को सजग किया था। पन्तजी हिन्दी भाषा की प्रकृति को स्वराश्रित मानते हैं। स्वर-प्रधान होने के कारण मात्रिक छन्दों का विधान स्वाभाविक है। संस्कृत में वार्णिक वृत्त भी चलते हैं किन्तु पन्तजी ने मात्रिक ही प्रायः स्वीकार किये हैं। पन्तजी ने प्राचीन छन्दों के अतिरिक्त अपनी रुचि के अनुसार छन्द में परिवर्तन भी किया है और दो-तीन

छन्दों को मिलाकर एक नया छन्द निर्मित कर लिया है। मुक्त छन्दों पर अंग्रेजी की छन्द-योजना का प्रभाव है। पन्तजी एक ही प्रकार के छन्दों को लेकर नहीं चले हैं। भाषा के साथ छन्द भी परिवर्तित होते रहे हैं। 'स्वर्ण धूलि' में छन्दों के विशेष प्रयोग द्रष्टव्य हैं। 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' में वर्ण मात्रिक छन्द का नया प्रयोग दिखाई देता है।

भाषा और शैली की दृष्टि से पन्तजी छायावादी भाषा के सबसे सफल शिल्पी माने जाते हैं। वे भाषा को केवल विचारों का वाहन ही नहीं मानते वरन् उसे संसार का नाद-मय चित्र और ध्वनिमय स्वरूप समझते हैं। लय, ताल, स्वर, संगीत के अभाव में कोई भाषा काव्य की भाषा नहीं हो सकती। कोमलता, मसृणता, पेशलता आदि गुणों से हीन भाषा को काव्य भाषा मानना उन्हें तनिक भी अभिप्रेत नहीं है। भाषा को चित्र-भाषा बनाने के लिए उन्होंने शब्द और स्वर दोनों को चित्रमय रखा है। संस्कृत की तत्सम पदा-वली को हिन्दी भाषा के सुसंस्कृत कलेवर में रखने में जैसी सफलता आपको मिली है वैसी अन्य किसी कवि को नहीं। व्रजभाषा के शब्दों का भी आपने संस्कार-पूर्वक ग्रहण किया है। कहीं-कहीं स्वर-संधान और लय-सृष्टि के लिए तत्सम शब्दों में प्रत्यय या उप-सर्ग जोड़कर नये शब्द भी गढ़े हैं—जैसे, स्वप्निह, पुराचीन, विहसित, अनिर्वच आदि। भाषा को गति देने के लिए व्याकरण के नियमों का उल्लंघन पन्तजी करते हैं किन्तु कविता के क्षेत्र में व्याकरण का शासन कभी कठोर नहीं होता। अत: यदि विपर्यय होता भी है तो वह क्षम्य समझा जाता है। भाषा को टकसाली बनानेवाले कहावतें-मुहावरे पन्तजी की भाषा में नहीं हैं। वे हिन्दुस्तानी भाषा के पक्ष में कभी नहीं रहे, फलत: मुहावरों की प्रासादिकता भी उन्हें सुलभ नहीं हो सकी। संस्कृत और अंग्रेजी से पन्तजी ने अपनी भाषा का संस्कार किया है, इसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं।

पन्तजी ने हिन्दी भाषा को परितुष्टि, प्रांजल और प्रौढ़ बनाने में अत्यधिक योगदान किया है। एक समय था कि कोमल भाव-विधान के लिए खड़ी बोली को सर्वथा अनुपयुक्त समझा जाता था किन्तु आज पन्तजी की समर्थ और प्रेषणीय भाषा को कौन कह सकता है कि यह भाषा किसी प्रकार के भाव-वहन करने में असमर्थ हो सकती है। भावों के साथ पन्तजी की भाषा में परिवर्तन आते रहे हैं किन्तु परिवर्तनों के साथ वे भाषा का स्तर सदैव ऊंचा करते गये हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कविता के विषय में प्रसिद्ध सूक्तिवाक्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कवि पन्त की कविता पर पूर्णरूपेण घटित होता है। कवि पन्त ने तीनों उपा-दानों को अपनी कविता में यथोचित रूप में समाविष्ट करके सच्चे कवि का नाम सार्थक किया है। उन्होंने सौन्दर्य को सबसे पहले स्वीकार किया। किशोर कवि का ध्यान सुन्दर पर जाना स्वाभाविक था, सुन्दर के बाद कवि ने समाज पर दृष्टिपात किया—शिव तत्व की साधना उन्हें अभीष्ट प्रतीत हुई। समाज की कल्याण भावना ही शिव तत्व की साधना है। उसके बाद शाश्वत सत्य की साधना में कवि प्रवृत्त हुआ। कवि ने सांस्कृतिक चेतना के प्रकाश में उस सत्य का अन्वेषण करना प्रारम्भ किया जो मानव-जाति के लिए वरेण्य होता है।

फलतः सुन्दर, शिव और सत्य को पन्त ने अपने वय-क्रम के साथ ग्रहण कर अपनी काव्य-साधना को पूर्णता पर पहुंचाया है। पन्त ने नवोन्मेषशाली प्रतिभा और कोमल कल्पना लेकर काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था। बाह्य-सौन्दर्य के मोहक चित्र अंकित करने के बाद कवि जीवन की ठोस भूमि पर अवतीर्ण हुआ, अनुभूति का योग होने से कल्पना का मोहक स्वप्न भंग हुआ। उसके बाद चिन्तन और मनन की प्रौढ़ता का युग आया। फलतः कवि की भावनाएं ऊर्ध्वमुखी हुईं और उसने अध्यात्म तत्व को कविता में सजाना प्रारम्भ किया। इस क्रमिक विकास में काव्य के अलंकरण-उपादान भी परिष्कृत और परिवर्तित होते गए। आज कवि पन्त अपनी काव्य-साधना की प्रौढ़ि पर हैं। वे कवि हैं, चिन्तनशील मनस्वी हैं, दार्शनिक हैं और युग-द्रष्टा कलाकार हैं।

७. कवयित्री महादेवी वर्मा

हिन्दी कवयित्रियों में श्रीमती महादेवी वर्मा का स्थान काव्य-प्रतिभा और काव्य-साधना की दृष्टि से मूर्धन्य पर है। कवित्व-शक्ति का दुर्लभ वरदान पाकर उसका जैसा सदुपयोग आपने किया वैसा विरले ही कर पाते हैं। हिन्दी-साहित्य के एक सहस्र वर्ष के दीर्घकालीन इतिहास में मीराबाई के बाद स्त्री-कवयित्रियों में आपका जन्म एक ऐतिहासिक घटना है।

जीवन-वृत्त

महादेवी जी का जन्म उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद नामक नगर में संवत् १९४६ वि० (सन् १९०७ ई०) को हुआ। आपके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा, एम० ए० एल-एल० बी० भागलपुर में एक हाई स्कूल के हैडमास्टर थे। माता श्रीमती हेमरानी हिन्दी की विदुषी और स्वभाव से भक्त थीं। माता जी की भक्ति-भावना का महादेवी जी पर गहरा प्रभाव पड़ा और माता जी की देखादेखी बचपन में ही तुकबन्दियां करने में आपकी सहज रुचि हुई। बारह वर्ष की अल्पायु में ही आपका विवाह हो गया, फलतः उच्च शिक्षा पाने की आकांक्षा को व्याघात पहुंचा। लेकिन तीन-चार वर्ष के भीतर ही आपने अपने आगे के अध्ययन का मार्ग निकाल लिया और सं० १९७७ में प्रयाग से प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त कर मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की।

तदनन्तर अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हो गया और मैट्रिक, इंटर परीक्षाएं भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। बी० ए० और एम० ए० परीक्षाएं प्रयाग विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण कीं। एम० ए० में आपने संस्कृत विषय चुना।

शिक्षा के साथ-साथ काव्य-रुचि को भी यथासमय पल्लवित होने का अवकाश मिलता रहा। आपकी रचनाएं धीरे-धीरे चांद, माधुरी, मनोरमा आदि विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। हिन्दी के साहित्यिकों का ध्यान आपकी काव्य-शक्ति की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। फलतः आपको उस समय के लोकप्रिय मासिक पत्र चांद के सम्पादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। अध्ययन-अध्यापन की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति के फलस्वरूप आपने प्रयाग महिला विद्यापीठ में कार्य करना प्रारम्भ किया और अद्यावधि उसी संस्था में आचार्या के पद पर बड़े मनोयोगपूर्वक कार्य कर रही हैं। समाज सेवा की ओर भी आपकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से रही है। साहित्यकार संसद की स्थापना इसी प्रवृत्ति का मूर्त्त रूप है।

महादेवी की काव्य-साधना का प्रारम्भ शैशव से ही हुआ किन्तु प्रारम्भिक रचनाओं को तुकबन्दी समझ कर उन्होंने प्रकाश में लाना उचित नहीं समझा। किन्तु जब से नियमित रूप से रचना करना प्रारम्भ किया वे एक उद्दिष्ट पथ की ओर पूर्ण विकास के साथ बढ़ती रही हैं।

कविता के साथ गद्य के क्षेत्र में भी उनका स्थान बहुत ऊंचा है। महादेवी के विवेचनात्मक गद्य को हिन्दी का उत्कृष्टतम कोटि का गद्य माना जाता है। उनके सामाजिक लेख तथा सरस रेखाचित्र हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। अभिव्यक्ति की प्रांजलता और चरम प्रौढ़ता उनके गद्य का प्राण है। कवि की सम्पूर्ण भावुकता और अध्ययनशील लेखक की सम्पूर्ण विद्वत्ता ने उनके गद्य को अलंकृत अभिव्यंजना के साथ भावगरिमा का मोहक रूप प्रदान किया है। हम यहां उनके कवि रूप पर ही अपने विचार व्यक्त करेंगे।

काव्य-कृतियां

महादेवी जी की प्रारम्भिक तीन कृतियों के नाम नीहार, रश्मि और नीरजा हैं। जिस क्रम से इनकी रचना हुई है, उसी क्रम से महादेवी जी की काव्य-साधना का निखार हुआ है। नीहार की कविताओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि कवयित्री अपना ध्येय निश्चित नहीं कर पाई है। कौतूहल, जिज्ञासा और व्याकुलता का अनुभव करते हुए संघर्ष-पथ पर उसके चरण स्वतः बढ़े चले जा रहे हैं। कल्पना की चित्रपटी पर अनोखे चित्र अंकित करके कवयित्री ने अपनी भावुकता का अच्छा परिचय दिया है।

'रश्मि' महादेवी जी की दूसरी रचना है। 'रश्मि' ने अपने आलोक से 'नीहार' के धुंधलेपन को हटाने की सफल चेष्टा की है। रश्मि के प्रकाश में कवयित्री को जैसे अपना ध्येय दृष्टिगोचर होने लगा है। भाषा और अभिव्यंजना के अन्य गुणों की ओर भी कवयित्री का ध्यान अपेक्षाकृत अधिक रहा है और सरस शब्दों की मृदुल-मोहक भाषा रश्मि की विशेषता बन गई है। कलात्मक-अभिव्यक्ति की दृष्टि से रश्मि अधिक पुष्ट रचना कही जा सकती है किन्तु नीहार की सहजता और कोमलता पर आघात पहुंचा है।

'नीरजा' महादेवी जी की तीसरी कृति है, जिसमें रसानुभूति के उत्कर्ष के साथ अभिव्यंजना का क्रमिक विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है। नीरजा में कवयित्री ने रहस्यवादी शैली से प्रेम का बड़ा ही सजीव और सुन्दर वर्णन किया है। करुणा, विरह, दुःख आदि भावों का वर्णन नीरजा में अधिक हुआ है। आत्मा का परमात्मा के प्रति आकुल प्रणय-निवेदन नीरजा के गीतों में प्रचुर मात्रा में है। नीरजा की काव्य-सामग्री भी समृद्ध है। प्राकृतिक उपकरणों के द्वारा काव्य-शिल्प का अत्यन्त प्रौढ़ रूप इसमें दृष्टिगत होता है।

'सांध्य-गीत' कवयित्री के नीरजा वाले दृष्टिकोण का अधिक व्यापक रूप प्रस्तुत करने वाला गीत-संग्रह है। अनुभूति और चिन्तन को सन्तुलित रूप में प्रस्तुत करने का

प्रयास ही साध्य-गीत की सफलता है। संध्या की चित्रमयी सामग्री का प्रचुर प्रयोग करने के कारण इसका नामकरण हुआ है। इन चारों गीत-संग्रहों का संग्रह ही 'यामा' नाम से प्रकाशित हुआ है।

'दीपशिखा' महादेवी जी की प्रौढ़तम कृति समझी जाती है। इसमें दीपक आत्मा का प्रतीक है, तेल आन्तरिक स्नेह का, अंधकार पीड़ा का और झंझावात सांसारिक विघ्न-बाधाओं के प्रतीक हैं।

'दीपशिखा' की भावना में आत्मविश्वास और दृढ़ता का स्वर निनादित हो रहा है। साधिका दीप की लौ के समान अविराम जल रही है। विहान होने पर उसका अस्तित्व अपने आराध्य प्रिय में विलीन हो जायगा ऐसा उसे पूर्ण विश्वास है। 'दीपशिखा' के गीतों में कवयित्री की काव्य-साधना का चरम उत्कर्ष होने के साथ छायावादी कविता के पूर्ण परिपाक के भी दर्शन होते हैं।

जीवन के इन्हीं विभिन्न सोपानों के संचरण का इतिहास महादेवी की कृतियों में अंकित है। 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत' और 'दीपशिखा' महादेवी की काव्य-साधना के क्रमिक पद-चिह्न हैं। काव्य के अन्तिम चरण तक पहुंचते-पहुंचते कवयित्री के प्राणों की शान्त भाव से मुस्कराती हुई दीप-शिखा ने झंझा और प्रलय से समझौता-सा कर लिया है। इन प्रमुख काव्य-कृतियों के बाद महादेवी जी ने वैदिक ऋचाओं के भाव-पूर्ण अनुवाद किये हैं जो उनकी आध्यात्मिक अभिरुचि के द्योतक हैं। इन अनुवादों में उनकी शैली में नवीनता का संचार हुआ है।

काव्य का प्रतिपाद्य

आत्म-निवेदन बनकर मुखरित हुए महादेवी के गीतों में उनके प्रेम, दर्शन, विरह की करुण कथा संगृहीत है। महादेवी छायावाद की प्रमुख कवयित्री हैं। छायावाद का जन्म स्थूल की आराधना की प्रतिक्रिया स्वरूप हुआ था; अतः जन-कोलाहल से दूर इस एकान्त संगीत के विषय में अनेक भ्रान्तियों का जन्म लेना स्वाभाविक था। कतिपय आलोचकों ने छायावाद की इस प्रवृत्ति को पलायनवादी कहकर तिरस्कृत किया किन्तु वास्तव पर अन्तर्मुखी दृष्टि डालते हुए उसे अतीन्द्रिय रूप देने की यह प्रवृत्ति ही छाया-वाद की मूल प्रवृत्ति है। यद्यपि महादेवी जी ने छायावाद-युग में अपने काव्य की रचना की है तथापि छायावाद के आगामी सोपान रहस्यवाद के भी उनके काव्य में प्रचुर संकेत मिलते हैं। महादेवी की रहस्यानुभूति के विषय में पर्याप्त मतभेद मिलता है। इन मत-मतान्तरों के बवण्डर में न पड़कर महादेवी की रहस्यात्मक साधना का विवेचन स्वयं उनकी मान्यताओं के आधार पर करना अधिक समीचीन होगा। महादेवी का रहस्यवाद कबीर, जायसी आदि रहस्यद्रष्टाओं से भिन्न होने पर भी सर्वथा बौद्धिक नहीं माना जा सकता। रहस्य-वाद को आत्मा का गुण प्रतिपादित करती हुई लेखिका 'यामा' की भूमिका में लिखती हैं—

"परन्तु इस सम्बन्ध में मानव-हृदय की सारी प्यास न बुझ सकी, क्योंकि मानवीय

सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरिमा सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसी से इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्मनिवेदन कर देना इस काव्य का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय रूप के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया। रहस्यवाद, नाम के अर्थ में छायावाद के समान नवीन न होने पर भी प्रयोग के अर्थ में विशेष भिन्न प्राचीन नहीं। प्राचीन काल के दर्शन में इसका अंकुर मिलता अवश्य है परन्तु इसके रागात्मक रूप के लिए उसमें स्थान कहां ? आज गीत में हम जिसे नये रहस्यवाद के रूप में ग्रहण कर रहे हैं वह इन सबकी विशेपताओं से युक्त होने पर भी उन सबसे भिन्न है। उसने पराविद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक दाम्पत्य-भाव-सूत्र में बांधकर एक निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को आलम्बन दे सका, उसे पार्थिव-प्रेम से ऊपर उठा सका तथा मस्तिष्क को हृदयमय और हृदय को मस्तिष्कमय बना सका। हम यह नहीं समझ सके हैं कि रहस्यवाद आत्मा का गुण है, काव्य का नहीं।"

रहस्यवाद

महादेवी की रहस्यात्मक साधना भी इस नवीन रहस्यवाद के प्रमुख तत्वों को लेकर चली है। जिस नवीन रहस्यवाद का प्रतिपादन उनकी काव्य-कृतियों में किया गया है उसके प्रमुख तत्व हैं--१. परा विद्या की अपार्थिवता, २. वेदान्त के अद्वैत की छाया, ३. लौकिक प्रेम की तीव्रता, ४. कबीर का सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र। इन्हीं सब खण्डशः अनुभूतियों को ग्रहण करते हुए महादेवी जी ने अपने गीतों की रचना की है, जिनमें मूर्त्त वा अमूर्त्त जगत् एकाकार होकर आए हैं। महादेवी के काव्य में प्रेम के जिस स्वरूप का प्राधान्य मिलता है वह है सगुण निराकार के प्रति मानव-आत्मा का रति-भाव। महादेवी ने जिस अनन्त को अपनी भावनाओं का आलम्बन स्वीकार किया है वह निराकार होते हुए भी प्रेम, विरह आदि गुणों से अभिभूत है--

म मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है !
मुझे न जाना अलि ! उसनें
जाना इन आंखों का पानी;
मैंने देखा उसे नहीं
पदध्वनि है केवल पहचानी;
मेरे मानस में उसकी स्मृति
भी तो विस्मृति बन आती;
उसके नीरव मन्दिर में

काया भी छाया हो जाती;
क्यों यह निर्मम खेल सजनि ! उसने मुझसे खेला सा है ?

—(नीरजा : २४)

कहीं-कहीं महादेवी जी ने निर्गुण निराकार के प्रति मानव-मन की आनन्दमयी जिज्ञासा को भी अभिव्यक्त किया है। कवयित्री की उत्तरोत्तर विकासशील रहस्य-साधना में इस प्रकार के मधुर व विरल संकेत मिलते हैं—

नाच उठते निमिष पल मेरे चरण की चाप से;
नाप ली निस्सीमता मैंने दृगों के माप से;
मृत्यु के उर में समा क्या
पाएंगे अब प्राण मेरे ?

महादेवी का रहस्यवाद आरम्भ में अधिक बौद्धिक था। रश्मि में दर्शन को पृष्ठभूमि बनाकर उपनिषद् के रहस्य-तत्वों को काव्य द्वारा व्यक्त किया गया है—

छिपा है जननी का अस्तित्व
रुदन में शिशु के अर्थविहीन,
मिलेगा चित्रकार का ज्ञान
चित्र की ही जड़ता में लीन,
दृगों में छिपा अश्रु का हार
सुभग तेरा ही उपकार !

—(रश्मि : यामा : ६४)

किन्तु बुद्धि का श्रेय धीरे-धीरे हृदय का श्रेय बन गया है। अन्तर्जगत में परिव्याप्त व्यापक अखण्ड और संवेदनात्मक धरातल पर सभी खण्डशः अनुभूतियां ठहर जाती हैं और उसी के संस्पर्श से काव्य में संवेदनीयता आती है। महादेवी के काव्य में प्राप्त रहस्यात्मक-साधना अनुभूति के संस्पर्श से युक्त है। इसका प्रमाण है महादेवी के काव्य की मधुर संवेदनशीलता। प्रकृति के अस्त-व्यस्त रूपों की समष्टि में व्यापक चेतना की प्रतिष्ठा करते हुए लेखिका ने रहस्यानुभूति का आस्वादन किया है। महादेवी के रहस्यवाद को पार्थिव प्रेम-भावना का उन्नयन न मानकर अधिक से अधिक उसके माध्यम से परिव्यक्त माना जा सकता है। कल्पना-प्रसूत, अध्ययन-प्रसूत तथा प्राकृत अनुभूतियों द्वारा प्रसूत प्रेम-भावना का मधुर समज्जन ही महादेवी की रहस्यात्मक साधना की मनोरम पृष्ठभूमि है, जिसमें वेदान्त, दर्शन, लौकिक प्रेमाभिव्यक्ति तथा कबीर का दाम्पत्य-भाव अभिन्न रूप में गुंथे हुए हैं। साधना के अविरत पथ पर बढ़ते हुए महादेवी की रहस्यानुभूतियां अधिक हृदयगत होती हैं। और 'दीपशिखा' तक आते-आते वे जीवन्त अनुभूति बन गई हैं। 'दीपशिखा' की विश्वासमयी वर्त्तिका में अविश्वास का कोई कम्पन नहीं है।

दुःखवाद

महादेवी के काव्य का दूसरा प्रमुख पक्ष है दुःखवाद। रहस्यात्मक साधना की पृष्ठ-भूमि पर आधारित होने के कारण महादेवी के दुःखवाद में भी पार्थिव व अपार्थिव जगत् की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति मिलती है। अपने दुःखवाद के विषय को स्पष्ट करते हुए कवयित्री ने यामा की भूमिका में लिखा है—

"अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख के धूपछांही डोरों में से मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है; उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी प्रिय लगने लगी है।

इसके अतिरिक्त बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्तिमय अनुराग होने के कारण उनके संसार को दुःखात्मक समझने वाले दर्शन से मेरा असमय ही परिचय हो गया था।"

किन्तु किसी वस्तु की प्रतिक्रिया न तो जीवन्त-अनुभूति बन सकती है और न इतनी तीव्र अभिव्यक्ति पा सकती है। वास्तव में महादेवी के दुःखवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या मानसिक-जगत् की विभिन्नता के आधार पर ही की जा सकती है। गद्य व संस्मरणों में विकीर्ण चतुर्दिक् वातावरण ने ही महादेवी के संवेदनशील हृदय का संस्पर्श कर उसे इतना अधिक करुणाप्लावित बना दिया है। बुद्ध के दर्शन से प्रभावित होते हुए भी महादेवी ने उसकी मान्यताओं को स्वीकार नहीं किया है। संसार की क्षणभंगुरता व क्षणिकता उनके मानस जगत् को अस्थिर अवश्य बना देती है किन्तु निर्वाण की ओर उन्मुख नहीं करती। दुःख महादेवी के निकट जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक सूत्र में बांधने की क्षमता रखता है—

एक सूत्र सबके बन्धन का,
संसृति के सूने पृष्ठों में करुण काव्य वह लिख जाता।

"मुझे दुःख के दोनों ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बन्धन में बांध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" इन्हीं दोनों रूपों की महादेवी के करुण काव्य में अभिव्यक्ति मिली है। दुःख लघु मानस में भी करुणा का पारावार छिपाए हुए है, अतः चिर दुःख का आवाहन करती हुई कवयित्री कहती है—

तुम दुःख बन इस पथ से आना।

तथा

अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

चिर-पथ का पंथी निर्वाण नहीं चाहता। दु:ख की मृगमरीचिका में भटकते हुए महादेवी जी ने सृष्टि के कण-कण का परिचय प्राप्त किया है। महादेवी की प्रणय-वेदनानुभूति में भी निराशा का धुंधलापन क्रमश: क्षीण होता गया है। युग-युग से अधीर होकर उस अलौकिक प्रियतम के विरह में प्रवाहित अश्रुधारा में सुख-दु:ख की असंख्य लहरों का आलोडन होने पर भी कवयित्री के प्राणों की जर्जर तरणी सभी संघर्षों का अतिक्रमण करती जाती है। विश्वास की दीप-शिखा अखण्ड भाव से टिमटिमाती रहती है, कभी-कभी मिलन की क्षीण आशा का झोंका उसे पल भर के लिए अस्थिर कर जाता है––

जो तुम आ जाते एक बार।

अथवा

तुम्हें बांध पाती सपने में।

किन्तु दु:ख की तन्द्रिल गम्भीरता में यह क्षणिक आवेश डूब जाता है––

मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ

* * *

प्राण आकुल के लिए संगी मिला केवल अंधेरा।

धीरे-धीरे यह वेदना साधना का रूप धारण कर लेती है। महादेवी की वेदनानुभूति भौतिक जगत् की सुख-दु:खात्मक अनुभूतियों से भिन्न मधुर व सरस आध्यात्मिक भूमि पर अधिष्ठित है। विरहजन्य उपादानों का उपहार लेकर साधिका अविराम पथ पर बढ़ती जाती है––

प्रिय मेरे गील नयन बनेंगे आरती।
श्वासों में सपने कर गुम्फित,
बन्दनवार वेदना-चर्चित,
भर दु:ख से जीवन का घट नित
मूक क्षणों में मधुर भरूंगी भारती।

महादेवी की वेदनानुभूति में उत्कण्ठा, तीव्रता वा आवेग का ज्वार नहीं है। अभिशाप की पीर का दंशन घुलकर हृदय का स्पन्दन बन गया है––

अब न लौटाने कहो
अभिशाप की वह पीर,
बन चुकी स्पन्दन हृदय में
वह नयन में नीर
अमरता उसमें मनाती है मरण त्यौहार
प्राण हँस कर ले चला जब चिर व्यथा का भार।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त हम देखते हैं कि अनन्त के विरह में, मूक प्राणों में दीप-शिखा का-सा अखण्ड विश्वास लिये, भटकने की विह्वलता तथा मिलन-वेला के समय सिक्ताकण-सी विलीन होकर चिर पथ का पंथी बनने की आतुरता ही महादेवी के काव्य

का अन्तिम सत्य है, उनकी जिज्ञासाओं का शाश्वत समाधान है। उनकी इस सत्व प्राप्ति का साधन है, प्रकृति। महादेवी की दृष्टि-सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त लता, वृक्ष, खेत, वन आदि सभी रूपों पर ठहरती हुई अनन्त के विस्तार का ज्ञान प्राप्त करती है। प्रकृति के अनेक रूपात्मक सौन्दर्य-जगत् की व्यापक पीठिका पर ही उस अनन्त के विस्तार का ज्ञान अधिष्ठित है। छायावाद में प्रकृति को जड़वस्तु न मानकर चेतना के संस्पर्श से मुक्त ऐसी जीवित शक्ति माना गया है जो मानव-मन के प्रत्येक भाव को अपने निर्मल व स्वच्छ दर्पण में प्रतिबिम्बित करती रहती है। महादेवी वर्मा ने भी प्रकृति के माध्यम से उस अनन्त का सन्धान किया है। आरम्भ में प्रकृति के अस्त-व्यस्त रूपों में रूप प्रतिष्ठा की, फिर प्राण प्रतिष्ठा; तदुपरान्त इनकी समष्टि में एक व्यापक चेतना का आरोपण कर रहस्यानुभूति का आस्वादन किया है। महादेवी ने प्रकृति को अखण्ड चेतन की आत्मा का प्रतिबिम्ब माना है। यही कारण है कि इनके काव्य में प्रकृति का एक-एक कण अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा है। प्रकृति का समस्त सौन्दर्य महादेवी की कविता में जलधारा की उर्मियों के समान अविद्रुत रूप में फट पड़ा है। उनकी कविता का प्रवाह तरलता से युक्त है जिसमें सुन्दरता, कोमलता, मधुरिमा व आत्मीयता की अलौकिक साधना मिलती है। प्रकृति ने महादेवी की भावनाओं को प्रेरणा प्रदान की है और महादेवी ने प्राकृतिक चित्रों में अपनी भावनाओं का सौन्दर्य मिलाकर उसे अध्यात्म की मधुर भूमिका पर अधिष्ठित किया है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण महादेवी के काव्य का अभिप्रेत नहीं, कारण उसमें प्रकृति के संस्पर्श से उद्बुद्ध छायाचित्रों व भावना का अलौकिक समज्जन मिलता है। तथापि वर्षा, रजनी व पर्वत आदि के सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। वेदों में मानवीकरण के अंकुर खोजते हुए महादेवी जी ने अनेक प्राकृतिक उपकरणों का मानवीकरण किया है। कहीं-कहीं प्रकृति का स्वतन्त्र निरूपण करते हुए एक शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति कर उसे विचारात्मक अन्विति भी प्रदान की है। प्रकृति के रम्य लघु उपादान उस अमिट सत्य की विवृत्ति कर जाते हैं जो महानतम परिवर्तन नहीं कर पाते। निरन्तरता से रहित होने के कारण ही किसी वस्तु की उपयोगिता तुच्छ क्यों मानी जाए? इसी शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति करते हुए कवियित्री लिखती है—

यह बताया झर सुमन ने
वह सुनाया मूक तृण ने
वह कहा बेसुध पिकी ने
चिर पिपासित चातकी ने
सत्य जो दिव कह न पाया था अमिट सन्देश में।
आँसुओं के देश में।

इसके साथ ही महादेवी जी ने प्रकृति में विश्वात्मा के दर्शन भी किए हैं। कभी प्रकृति के उपकरणों में अपने प्राणों का स्पन्दन खोजा है और कभी प्रकृति उस विराट् की छाया-मात्र प्रतिभासित हुई है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्यमय व्यापार, उस अनन्त का सन्धान पाने के लिए कवयित्री के मन को अस्थिर कर जाता है, और वह किरण-रथ द्वारा अपने सन्देश को अमिट बनाने का निरन्तर प्रयास करती रहती है—

अब धरा के गान सूने
मचलते हैं गगन छूने
किरण-रथ दो
सुरभि - पथ दो
और कह दो 'अमिट मेरा हो चुका सन्देश'।

और अन्त में प्रकृति का एक-एक स्पन्दन कवयित्री के मानस की धड़कन बन जाता है—

मेरी निश्वासों में रहती बहती झंझावात,
आँसू में दिन रात प्रलय के घन करते उत्पात,
कसक में विद्युत अन्तर्धान।

जिस प्रकार प्रकृति ने महादेवी के भाव-जगत् को भव्यता प्रदान की है, उसे दर्शन की उच्च-भूमि पर अधिष्ठित किया है उसी प्रकार उनके काव्य के कलापक्ष का शृंगार भी किया है। महादेवी ने सौन्दर्य के प्रसाधन प्रकृति की विराट् रंगस्थली से चयन किए हैं, यही कारण है कि इनके प्रतीकों में सर्वत्र एक तरलता, भीना सौरभ व पीयूष की चित्रित नीहारिका का धुंधला स्वर्णिम प्रकाश मिलता है। वास्तव में महादेवी के 'विहग से गान' प्रकृति के पंखों पर उड़ते रहते हैं। इसी प्रकृति ने उनके गीतों में झंकार भरी है। उनके प्रकृति-काव्य में जहाँ एक ओर चादर जैसी चांदनी में मुस्कराती हुई विभावरी का चित्रण है वहीं पर अंधेरे के स्तर पर स्तर ओढ़ कर विराट् बनी हुई श्यामा रजनी भी अपनी पूर्ण तरलता के साथ चित्रित है। 'फलों के भार से झुक-झुक पड़ने वाली लता' ने महादेवी के काव्य का शृंगार किया है किन्तु 'शस्य नीलिमा की ओर विस्मित बालक-सा ताकने वाला सुकुमार ठूंठ' भी उनके प्यार से वंचित नहीं रहा। 'अविरत जलदान से पृथ्वी को कंपा देने वाला मेघ' महादेवी के काव्य में नित्यप्रति झरता रहता है किन्तु इससे अश्रुबिन्दु तथा सुकुमार तृण का अस्तित्व विलीन नहीं हो पाता। गुलाब का भीना सौरभ और नवनीत की कोमलता के साथ शूलों का विस्तृत जाल भी महादेवी के काव्य में स्थान पा सका है। यही कारण है कि अन्तर्जगत् की कल्पना, स्वप्न व भावनाओं से युक्त इनके गीत प्रकृति की रम्य क्रोड में अलौकिक आनन्दानुभूति के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

प्रेम, विरह, प्रकृति-निरूपण व सृष्टि के सौन्दर्य पक्ष को अपने काव्य का विषय बनाकर महादेवी ने जीवन और जगत् के मधुर रूप का अभिव्यंजन किया है। अतः मूल-भावना के परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति का माध्यम भी स्वभावत: गीत बन सका है।

महादेवी ने भाव-मिश्रित कल्पना और बुद्धितत्व के माधुर्य को ही कला-गीतों के माध्यम से व्यक्त किया है। भावतत्व और बुद्धितत्व की संश्लिष्ट अभिव्यक्ति के कारण ही महादेवी की कला मीरा की कला की अपेक्षा अधिक समृद्ध तथा पन्त की अभियंजना की अपेक्षा अधिक सहज है। उनके कला-गीत न निराभरण हैं न अत्यन्त अलंकृत; वे सहज अलंकृत हैं।

गद्य में महादेवी का भावजगत् अत्यन्त विस्तृत व व्यापक भूमिका पर आद्धृत है किन्तु विस्तृत जगत् की विभिन्न भावमयी रंगस्थली महादेवी के काव्य में स्थान नहीं पा सकी है। उनके काव्य में एक ही भावधारा को अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। महादेवी का भावजगत् ऐसा सजल कोमल मेघ खण्ड है जो काव्य के पर्वत की अभिव्यक्ति रूपी प्रत्येक रंगभरी चोटी का शृंगार करता रहता है, किन्तु उनसे दबकर न तो नत होता है और न टूटता है। भावधारा की एकतारता के कारण महादेवी ने अत्यन्त सीमित क्षेत्र से अपनी काव्य-सामग्री का चयन किया है। उपमानों और प्रतीकों का वह वैविधय—जो उनके समसामयिक कवि प्रसाद, पन्त व निराला के काव्य की स्थायी निधि है—महादेवी के काव्य में नहीं मिलता। भावनाओं के अनुरूप ही उनकी काव्य-सामग्री के आधारभूत प्रतीक हैं, अन्धकार और दीप। विरह और निराश-प्रेम के क्षेत्र से चयन किए हुए इन प्रतीकों में एकतारता होते हुए भी अभिव्यक्ति व संयोजना में समृद्ध व भव्य सौन्दर्य मिलता है। परिष्कृत रुचि के द्वारा उन्होंने सीमित भाव क्षेत्र में रहकर भी सीमित साधनों का सुन्दर प्रयोग किया है। यही कारण है कि प्रतीकों के लौटने पर भी संश्लिष्ट चित्र कभी नहीं लौटता; समृद्ध कल्पना व भिन्न-भिन्न कलात्मक योजनाओं द्वारा वह नित नव रूप धारण करता रहता है।

महादेवी के चित्रों में सर्वत्र एक कोमलता व भावमयी विविधता मिलती है। पन्त के चित्रों की भास्वरता व प्रसाद के विराट्-फलकाधार के अभाव में भी चित्रों में कमनीयता रहती है। महादेवी की छाया अन्धकारमयी रजनी की कठोर कालिमा नहीं, वसन्त रजनी की सजल छाया है। उनका प्रकाश प्रचण्ड नहीं, भीना-भीना सौरभ बिखेरता हुआ धूम से बोझिल दीपक का मन्द प्रकाश है—

राग भीनी सजनी तू
निश्वास भी तेरे रंगीले।

महादेवी के विरहानुभूति के चित्रों में भी सर्वत्र एक कोमलता मिलती है। उनका दीपक-सा मन अविराम जला करता है किन्तु उसमें वासना की जलन नहीं, क्रोध का ताप नहीं, प्रतिशोध की ज्वाला भी नहीं; है केवल मूक स्वीकृति की सजल आभा। आवेश व आवेग का प्राधान्य न होने के कारण उनके काव्य में अभिधा शक्ति का प्रयोग अत्यन्त विरल है। प्राणों का आवेग-ज्वार कल्पना की गहन चादर के नीचे दब-सा गया है। यही कारण है कि भावों की अभिव्यक्ति में महादेवी ने लक्षणा व व्यंजना का आश्रय लिया है। सब मिलाकर महादेवी की कविता में शिक्षा, अभ्यास व निपुणता का अद्भुत

समञ्जन मिलता है। इनके गीत कुशल कलाकार द्वारा ढाले गए हैं अतः तत्सम शब्दों का प्राधान्य सहज स्वाभाविक है। इसके साथ ही अपनी कला को लोकगीतों की सहज वन्य-भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए महादेवी जी ने तद्भव व देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है। महादेवी के गीतों में व्यंजन की झंकार नहीं, स्वर की स्निग्धता अधिक है। शब्दालंकारों में अनुप्रास य यमक का प्रयोग भी प्रायः कोमल संगीत की सृष्टि के लिए किया गया है, अनुप्रास में वर्ण-मैत्री का सर्वत्र निर्वाह मिलता है।

जिस साधिका के काव्य में जलने की मधुर भावना का स्पन्दन हो, जिसके प्राण पुलकित होकर निरन्तर ज्वाला का स्वागत करने के लिए बिखरते रहते हों, जो सहज भाव से सारल्य की साकार प्रतिमा के समान जल-जलकर आलोक का वितरण करती रहती हो, उसकी कला में भास्वर चित्रों की योजना, पैनी रेखाओं की अवतारणा तथा जलती हुई भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रायः असम्भव ही है। महादेवी की अभिव्यंजना में विस्तार नहीं है किन्तु उसमें सूक्ष्म विन्यास की अद्भुत शक्ति है, भावों का दिव्य सौन्दर्य है।

काव्य-सौष्ठव

महादेवी वर्मा का कविता-काल छायावाद का उत्कर्ष काल है। इस काल में हिन्दी कविता नूतन प्रतीक, प्रांजल शब्द-विधान, अलंकृत वाक्य-विन्यास और अभिनव काव्य-शिल्प से समृद्ध हो रही थी। खड़ी बोली में भावाभिव्यंजन की नूतन क्षमता का दर्शन होने लगा था। द्विवेदी कालीन कवियों की इतिवृत्तात्मकता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखरित हो चुका था और प्रसाद, पन्त, निराला का काव्य अपना स्थान बनाता जा रहा था। छायावाद की इस वृहत्त्रयी के ठीक बाद महादेवी जी हिन्दी कविता-क्षेत्र में आईं और उन्होंने अपना स्वतंत्र स्थान बना लिया।

महादेवी जी के काव्य चिन्तन-प्रधान हैं। विचारों की गूढ़-गहन अभिव्यक्ति के कारण उनके काव्य में रहस्यमयी दार्शनिकता का आभास मिलता है। यद्यपि शुद्ध दार्शनिक चिन्तन की कोटि तक तो हम उनके काव्य को नहीं मानते किन्तु उनकी कविता की चरम परिणति अलौकिक भाव-व्यंजना में ही स्वीकार करनी होगी। इस अलौकिक भाव-व्यंजना के लिए महादेवी जी ने जो काव्य-शिल्प ग्रहण किया है वह लौकिक रूपक, प्रतीक और उपमानों पर ही आश्रित है। जिस प्रकार जायसी और कबीर में रहस्यवाद का वर्णन प्रिया-प्रियतम आदि लौकिक उपमानों के माध्यम से हुआ है वैसा ही महादेवी जी के काव्य में भी है। आत्मा और परमात्मा के स्वरूप का वर्णन-क्रम लौकिक अप्रस्तुत योजना द्वारा ही दृष्टिगत होता है—

तुम हो विधु के बिम्ब और मैं मुग्धा रश्मि अजान,
जिसे खींच लाते अस्थिर कर कौतूहल के बाण।

रहस्यमयी प्रवृत्ति के कारण महादेवी जी का काव्य-शिल्प अनलंकृत या कर्कश हो, ऐसी बात नहीं है। प्रत्युत वह तो बहुत ही सरस शैली से अलंकार पूर्ण है। उनकी भाषा में

जैसा मार्दव, जैसी मसृणता और जैसी पेशलता है वैसी पन्त के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र देखने में नहीं आती। छायावादी कवियों ने व्याकरण-सम्बन्धी जो त्रुटियाँ की हैं, महादेवी जी उनसे बची रही हैं। व्याकरण की दृष्टि से आपका काव्य सर्वथा निर्दोष है। तुक के आग्रह से दो-चार स्थलों पर शब्दों में कुछ हेर-फेर किया है किन्तु वह दोष की सीमा तक नहीं पहुँचता। कुछ शब्द उन्होंने लोक-गीतों से उठाये हैं और उसी रूप में उन्हें अपनी कविता में जड़ लिया है। बयार, नैन, बैन आदि लोकगीतों के चालू शब्द हैं।

मानवीकरण की प्रवृत्ति छायावादी युग में अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुई। यह शैली प्राचीन काल से काव्य का शृंगार करती आ रही थी किन्तु छायावादी कवियों ने इसे नया रूप देकर स्वयं इसी का शृंगार कर दिया। इच्छाओं की सिहरन, शून्य का गायन, नयन का श्रवण होना और श्रवण का नयनमय होना इनके काव्य में मानवीकरण का सौन्दर्य निखार रहा है। प्रतीक-विधान में महादेवी जी बहुत मौलिक हैं। उनकी यह मौलिकता कहीं-कहीं दुरूह प्रतीक भी उपस्थित कर देती है। शब्द-चित्र खड़े करने की कला तो कवयित्री को सिद्ध है। चित्रकार होने के कारण शब्दों द्वारा मूर्त विधान की कला उनके पास कवि की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में है। अमूर्त काव्य-कला को रेखा और रंग के माध्यम से वह चित्र में खड़ा करती हैं तो दूसरी ओर शब्दों के माध्यम से भी स्थूल चित्र को अंकित करती हैं।

लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से भी महादेवी जी का काव्य बहुत समृद्ध है। लक्षणा और व्यंजना काव्य की सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में सबसे अधिक योग देने वाली शब्द-शक्तियाँ मानी जाती है—

विद्युत के चल स्वर्ण पाश में
बंध हँस देता रोता जलधर,
अपने मृदु मानस की ज्वाला
गीतों से नहलाता सागर,
दिन निशि को देती निशि दिन को
कनक रजत के मधु प्याले हैं।

लक्षणा का सुन्दर उदाहरण देखिए—

गुलालों से रवि का पथ लीप जला पश्चिम में पहला दीप।
विहँसती संध्या भरी सुहाग दृगों से झरता स्वर्ण पराग॥

यहाँ अभिधेयार्थ से काम नहीं चलता, अतः दूसरा लाक्षणिक अर्थ ही काम आता है। अस्तोन्मुख सूर्य की लाली चारों ओर फैल रही है, यही अर्थ गुलाल से रवि पथ लीपने से निकलता है। प्रतीक के रूप में भी लाक्षणिक प्रयोग आपने खूब किये हैं—

इन हीरक के तारों को कर चूर बनाया प्याला।

इसमें तारे लौकिक भावों के प्रतीक हैं जिसे लक्षणा द्वारा ही पकड़ा जा सकता है।

अलंकारों के उदाहरण देना तो व्यर्थ ही होगा क्योंकि सम्पूर्ण काव्य विविध अलंकारों से परिपूर्ण है।

महादेवी जी के काव्य पर विचार करने के उपरान्त हम दो शब्द मीराबाई और महादेवी की काव्य-साधना के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक समझते हैं। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की परिपाटी स्थिर होने के कारण यह प्रथा-सी चल पड़ी है कि दो कलाकारों में यदि कहीं कुछ साम्य प्रतीत हो तो उनके काव्य-गुण पर तुलनात्मक दृष्टि से कुछ कहा जाय। यह शैली बहुत अधिक वैज्ञानिक नहीं कही जा सकती। इसके गुण दोष स्पष्ट हैं किन्तु अभी यह प्रवाह चल रहा है। अतः मीरा और महादेवी के काव्य पर तुलनात्मक दृष्टि निक्षेप बहुत अधिक अप्रासंगिक न होगा।

मीराबाई का जीवन साधिका का समर्पित जीवन था। गिरधर गोपाल के चरणों में आत्म-समर्पण करके मीरा को जो आनन्दानुभूति हुई वही उनकी वाणी से गीत बनकर फूट निकली। मीरा ने काव्य-सर्जन का कोई उपक्रम नहीं किया था। उनकी शिक्षा-दीक्षा भी काव्य-शास्त्रीय नहीं थी किन्तु अन्तर की नैसर्गिक प्रेरणा से जो शब्द संगीत-मयी शैली से निकले, गेयपद के रूप में कविता बन गये। साकार कृष्ण की उपासिका मीरा साधिका बन गई और बाद में कवयित्री के रूप में भी ख्यात हुई। महादेवी की काव्य-साधना का पक्ष इससे भिन्न है। वे साधिका नहीं कलाकार कवयित्री हैं। उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा के साथ विचार-चिन्तन की सरणि से जो रचनाएँ उन्होंने प्रस्तुत की हैं उनमें आत्मानुभूति का पुट न होकर तात्त्विक विचार का ही प्राधान्य है। कल्पनाओं की समृद्धि से महादेवी का काव्य, शिल्प और सौष्ठव में भले ही उच्चस्तरीय हो किन्तु तन्मयता और अनुभूति का प्रभाव उसमें मीरा से न्यून ही है। साथ ही दोनों के ध्येय का पर्यवसान भले ही अध्यात्म हो किन्तु मार्ग भिन्न है। एक सगुण साकार की उपासिका है तो दूसरी (महादेवी) निर्गुण निराकार ब्रह्म का चिन्तन-मात्र करने वाली है। साधना का न तो उनके पास सम्बल है और न उनका जीवन ही समर्पित कोटि का कहा जा सकता है। अतः दोनों की तुलना में वैषम्य अधिक है। हाँ, यदि अध्यात्म-चिंतन को प्रधान माना जाय तो दोनो में साम्य अवश्य मिलेगा। एक भक्ति-युग की साधिका, विभोर कोटि की भक्त देवी है तो दूसरी आधुनिक युग की मनीषा से युक्त विचार-प्रवण मनस्विनी देवी है।

८. श्री माखनलाल चतुर्वेदी

हिन्दी कविता में राष्ट्रीय-भावना का जयघोष करने वाले कवियों में श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से विख्यात हैं। आपने द्विवेदी-युग से कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था किन्तु उस युग में आपकी विशेष ख्याति नहीं हुई। यथार्थ में सन् १९२१-२२ के असहयोग आन्दोलन के समय ही आपकी राष्ट्रीय भावना को मुखरित होने का सुयोग मिला और उसी प्रेरणा ने आपको प्रेम और रहस्य के साथ राष्ट्रीय भावनाओं से आप्यायित कर दिया। चतुर्वेदी जी ने एक भावुक कविहृदय पाया है। प्रेम और सौन्दर्य के मार्मिक चित्र अंकित करने की आपकी अपनी सरस शैली है। छायावादी कवियों की सूक्ष्म-शैली को उसी परिधान में आपने स्वीकार नहीं किया। जिस युग में प्रसाद, निराला और पन्त अपनी कविता में काव्य-शिल्प की बारीकियां प्रस्तुत कर रहे थे, उसी समय एक भारतीय आत्मा, काव्य-शिल्प के मनोरम उपकरणों से देश की स्थिति और परतंत्रता से मुक्ति की कामना के गीत लिख रहा था। हिन्दी में राष्ट्रीय भावना का आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में यदि किसी कवि ने चित्रण किया है तो आप ही उनमें सर्वप्रथम कहे जा सकते हैं। आश्चर्य यह है कि आपके राष्ट्र-प्रेम की भावना विद्रोह की सीमा तक पहुंची किन्तु आपने अपने हृदय की अन्य कोमल भावनाओं को उस विद्रोह में विलीन नहीं होने दिया।

जीवन-वृत्त

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म संवत् १९४५ में मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद जिलान्तर्गत बनाई नामक गांव में हुआ। नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त आपने जिला बोर्ड के स्कूल में अध्यापक के रूप में कार्य प्रारम्भ किया। अध्यापन के समय आपने हिन्दी के उच्च कोटि के ग्रंथों के अतिरिक्त बंगला, मराठी, गुजराती, अंगरेजी आदि भाषाओं का भी ज्ञान अर्जन किया। कविता की ओर आपकी शैशव से ही नैसर्गिक अभिरुचि थी। फलत: आपकी प्रारम्भिक रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। खंडवा से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' पत्रिका में आप लिखते थे, कुछ काल बाद उसके सम्पादन में भी आपका योग रहने लगा। आपके सहयोग से प्रभा का साहित्यिक स्तर ऊंचा हुआ। सम्पादन के कार्य से आपकी पत्रकार वृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला और आप जबलपुर से प्रकाशित होने वाले 'कर्मवीर' नामक पत्र के सम्पादकीय विभाग में चले गये। वहीं कार्य करते समय सन् १९२१-२२ के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के

कारण आपको कारावास का दंड भी भोगना पड़ा। जेल से छूटने पर आप स्व० गणेश शंकर विद्यार्थी के बुलाने पर कानपुर चले गये। 'प्रभा' पत्रिका उस समय कानपुर से ही प्रकाशित होने लगी थी। 'प्रभा' और 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में आपकी नियुक्ति हो गई। विद्यार्थी जी ने आपकी प्रतिभा को भलीभांति पहचाना था। यथार्थ में आपको राजनीति का सक्रिय सिपाही बनाने वाले थे श्री माधवराव सप्रे और कर्मठ योद्धा का रूप दिया गणेश शंकर विद्यार्थी ने ही। कुछ समय के बाद आप खंडवा आ गये और 'कर्मवीर' को वहीं से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। 'कर्मवीर' आपकी अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बना था। उसे अनेक बार ब्रिटिश शासकों की वक्रदृष्टि का प्रकोप सहना पड़ा किन्तु आपने बड़ी निर्भीकता के साथ विगत वर्षों में सम्पादन किया है और आज भी उसका सम्पादन कर रहे हैं।

श्री चतुर्वेदी जी का जीवन एक समर्पित जीवन है जिसमें आत्म-लाभ का स्थान नहीं है। आत्म-निरपेक्ष भाव से राष्ट्रहित और राष्ट्र-कल्याण के लिए जीवित रहना ही आपका लक्ष्य बन गया है। अनेक बार जेल-यात्रा करके आपने जिस त्याग और बलिदान का परिचय दिया है वह एक काव्य-साधना करने वाले कवि की दृष्टि से अपूर्व है। आपकी कविताओं पर जेल की छाया स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है क्योंकि अधिकांश कविताएं आपने जेल की कोठरी में परतंत्रता के अभिशाप को चुनौती देते हुए लिखी हैं। भारतीय आत्मा के रूप में भारतवर्ष की पराधीनता को कवि ने सदैव असह्य समझा और अंग्रेज शासकों को उनकी दमन नीति के लिए ललकारा है। पत्रकार के रूप में भी निर्भीकता आपका सबसे बड़ा सम्बल रहा है। गांधीवादी विचार-धारा के प्रबल समर्थक होने के नाते सत्य और अहिंसा से आप डिगे नहीं, बल्कि इन्हीं दो शान्त शस्त्रों से आपने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का सामना किया।

जैसा कि हमने पहले निर्देश किया है, चतुर्वेदी जी ने द्विवेदी युग में कविता लिखना प्रारम्भ किया था। अर्थात् सन् १९१० से लेकर १९२० तक आपने जो कविताएं लिखीं उनका भाव और भाषा (अभिव्यंजना) दोनों दृष्टियों से अभी तक मूल्यांकन नहीं हुआ। उस काल में आपकी फुटकर कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपती थीं किन्तु उनका कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ था, फलतः आलोचकों का ध्यान आपके काव्य की ओर नहीं गया। इस अभाव को दूर करने के लिए इधर आपके पांच काव्य-संग्रह, दो गद्य-संग्रह और 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक प्रकाशित हुए हैं। हिमतरंगिणी, हिमकिरीटिनी, युगचरण, समर्पण और माता आपके प्रसिद्ध काव्य-संग्रह हैं। हिमकिरीटिनी को सन् १९५४ में सर्वश्रेष्ठ हिन्दी काव्य-कृति पर साहित्य अकादमी की ओर से पांच सहस्र रुपये का पुरस्कार भी मिला है। साहित्य-देवता और वनवासी, आपके गद्यकार तथा कथाकार रूप का परिचय देने वाली कृतियां हैं। इन सभी कृतियों में शैली की नूतनता चतुर्वेदी जी के अपने व्यक्तित्व का स्पष्ट परिचय देने वाली है। गद्य के क्षेत्र में चतुर्वेदी जी ने जिस भावुकतापूर्ण सरस शैली को स्वीकार किया है वह भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से कुछ दुरूह भले ही हो

किन्तु लाक्षणिकता और ध्वन्यात्मकता की गरिमा का उसमें विशेष चमत्कार दृष्टिगति होता है।

कविता का प्रथम चरण

'एक भारतीय आत्मा' के नाम से जिस समय कविता के क्षेत्र में आपने पदन्यास किया उस समय एक उत्साही युवक का हृदय आपके भीतर बड़े वेग से उद्वेलित हो रहा था। महात्मा गांधी ने अफ्रीका में अपने सत्याग्रह का पहला प्रयोग किया था और उसकी कहानी भारतवासियों को एक ओर उत्साह और शक्ति से भर रही थी तो दूसरी ओर विस्मय एवं कुतूहल का भी उनमें अभाव नहीं था। उस समय पत्रकारिता के क्षेत्र में लोकमान्य तिलक का सिक्का जमा हुआ था। हिन्दी के मराठी लेखकों में माधवराव सप्रे तिलक जी के समर्थक थे और राष्ट्रीयता की प्रबल प्रेरणा से लेख लिखते रहते थे। 'एक भारतीय आत्मा' नाम स्वीकार करके लिखने में सप्रे जी का चतुर्वेदी जी पर गहरा प्रभाव पड़ा और उन्हीं ने आपको राष्ट्रीय कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी। सप्रे जी को राजनीति में रहने का वचन देते हुए आपने ब्रजभाषा में एक पद्य लिखकर भेजा था जो कवि की भाषा विषयक प्रगति का भी संकेत देता है—

माधव दिवाने हाव-भाव पै बिकाने
अब चहै वन्दै चहै निन्दै काहू परवाहू॥
वीरन ते बातें जिन थीं जो नित आप आय,
ज्ञान, ध्यान, खान, पान काहू की रही न चाह॥
भोगन के व्यूह, तुम्हें भोगिवो हराम भयो
दुखये उमाह, इहां बाहिए सदा की आह॥
विपदा जो टूटे कोऊ सब सुख लूटे,
एक माधव न छूटै तो करअहू की सदा सराह॥

राजनीति के लिए जीवन उत्सर्ग कर देने के बाद, 'भारतीय आत्मा' ने पीछे मुड़कर कभी यह नहीं देखा कि जीवन में वैभव-विलास का आनन्द क्या है। 'मरण त्यौहार' को स्वीकार करने वाले कवि के लिए देश की बलिदेवी पर बलि हो जाना ही शेष रह गया। इस भाव को कवि ने अपनी प्रसिद्ध लघु कविता 'फूल की चाह' में व्यक्त किया है—

चाह नहीं है सुरबाला के गहनों में गूंथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूं, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में तुम देना फेंक,
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जायें वीर अनेक॥

इस कविता की आत्मा बलिदान के तन्तुओं से निर्मित हुई है। कवि की भावी साधना

का इसमें इंगित है, उसकी स्पृहा का मूर्तिमान रूप पाठक के मन में उतर आता है। उत्सर्ग-भावना का मनोरम चित्र खड़ा करने की इस कविता में अद्भुत क्षमता है। हिन्दी में यह कविता पर्याप्त प्रसिद्ध भी हुई।

'फूल की चाह' के समान कवि ने 'पर्वत की अभिलाषा' शीर्षक कविता में इसी प्रकार के आत्मोत्सर्ग की आकांक्षा प्रकट की है। पर्वत के द्वारा जिस अप्रस्तुत का सुन्दर विधान हुआ है वह अन्योक्ति का सुन्दर निदर्शन है—

तू चाहे मुझ को हरि, सोने का मढ़ा सुमेरू बनाना मत,
तू चाहे मेरी गोद खोद कर मणि-माणिक प्रकटाना मत,
तू मिट जाने तक भी मुझमें से ज्वालाएँ बरसाना मत,
लावण्य लाड़िली वन-देवी का लीला क्षेत्र बनाना मत,
जगती तल का मल धोने को
भू हरी-भरी कर देने को
गंगा-जमुनाएँ बहा सकूं
यह देना, देर लगाना मत।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की काव्य-साधना का विकास विविध रूप में हुआ। यदि आपके कवि-व्यक्तित्व का सबसे प्रमुख पक्ष निर्धारण करना हो तो आपको राष्ट्रवादी भावनाओं का कवि कहा जाना ही उचित प्रतीत होता है। राष्ट्रीयता आपके जीवन का सक्रिय पक्ष है। वही पक्ष काव्य में भी सबसे अधिक प्रस्फुटित हुआ है। अतः राष्ट्रीयता को हम आप की काव्यात्मा का मूल स्वर कह सकते हैं। किन्तु इस स्वर के साथ जो अन्य स्वर आपकी कविता में गुंजित होते हुए सुने जाते हैं उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन स्वरों में प्रेमानुभूति की मार्मिक अभिव्यंजना करने वाली स्निग्ध वाणी और रहस्यानुभूति को व्यक्त करने वाले भारती के स्वर प्रधान हैं। इस प्रकार राष्ट्रीयता प्रेम और रहस्य को हम आपकी कविता के वर्ण्य विषय पाते हैं। इन्हीं तीनों पक्षों को दृष्टि में रखते हुए हम काव्यालोचन में प्रवृत्त होंगे।

राष्ट्रीय-भावना

राष्ट्रीयता की भावना का विकास हिन्दी कविता में भारतेन्दु युग से प्रारम्भ हुआ। उस युग की राष्ट्रीय-भावना का आधार अतीत गौरव का वर्णन तथा देश-प्रेम तक ही सीमित था। परतंत्रता के प्रति विद्रोह का स्वर प्रखर नहीं हुआ था। पराधीनता-जन्य कष्टों का अनुभव करते हुए भी कवि-भारती ने उसे मुखरित नहीं किया था। बीसवीं शती के प्रारम्भ में राष्ट्रीयता की भावना ने इस देश में करवट ली और देश की एकता तथा विदेशी शासन की सत्ता दोनों को देशवासियों ने समझा। महात्मा गांधी ने अंग्रेजों के प्रति अहिंसात्मक प्रतिरोध का शान्तिमय उपाय खोज निकाला और उसका दक्षिण अफ्रीका में बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया। भारतवासियों को उस प्रयोग ने मान-

सिक बल प्रदान किया और देश में उत्साह एवं साहस की नई लहर दौड़ गई। इसी अवसर पर माखनलाल जी कविता के क्षेत्र में अवतरित हुए। सन् १९१४ में जब गांधी दक्षिण अफ्रीका में अपना सत्याग्रह-संग्राम चला रहे थे, चतुर्वेदी जी ने 'हृदय' शीर्षक लम्बी कविता लिखी, जिसमें गांधी जी के प्रति अपनी श्रद्धा-भावना को कवि ने व्यक्त किया है—

वीर सा गम्भीर सा यह है खड़ा,
धीर होकर यों अड़ा मैदान में,
देखता हूँ मैं जिसे तन दान में,
जन-दान में, सानंद जीवन दान में ॥

* * *

क्यों पड़ी परतन्त्रता की बेड़ियां ?
दासता की हाय हथकड़ियां पड़ीं।
न्याय के मुंह बन्द फांसी के लिए
कंठ पर जंजीर की लड़ियां पड़ीं।

इसी समय आपने राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए कई कविताएँ लिखीं। उनमें सत्याग्रह और अहिंसा की भावना का पक्ष ही प्रधान है। सत्य के आग्रह को गांधी ने जिस दृढ़ता के साथ ग्रहण किया था, भावुक कवि 'एक भारतीय आत्मा' ने भी उसे उतनी ही आस्था और दृढ़ता से पकड़ा। कदाचित् इस देश में अहिंसात्मक प्रतिशोध का यह दौर नया था और विश्व की आंखें खोलने वाला था। सामाजिक वैषम्य जिसमें अमीरी और गरीबी की भेदक दीवारें खड़ी हैं, कवि की दृष्टि से ओझल नहीं था। कवि यह समझ रहा था कि देशोत्थान के लिए सामाजिक वैषम्य को हटाना होगा, दरिद्रता का आंचल पकड़ कर राष्ट्रोत्थान के पथ पर बढ़ने में ही कल्याण है—

महलों पर कुटियों को वारी
पकवानों पर दूध-दही
राजपथों पर कुंजें वारो,
मंचों पर गोलोक मही,
छीनूंगी निधि नहीं किसी,
सौभागिनि, पुण्य प्रमोदा की,
लाल वारना नहीं कहीं तू
गोद गरीब यशोदा की।

राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत कविताओं में 'वीर-पूजा' 'बन्धन सुख' 'निःशस्त्र सेनानी' 'बलि-पन्थी से' आदि इस कोटि की रचनाएं हैं जिनका आधार अहिंसा मूलक आन्दोलन है। इन कविताओं पर गांधी की विचार-धारा का गहरा प्रभाव है। हिन्दी कविता में गांधीवादी विचार-धारा का सबसे अधिक और प्रबल समर्थन माखनलाल जी ने

ही किया है। जिस प्रकार उपन्यास साहित्य में प्रेमचन्द की रचनाएं गांधीवाद से परिपूर्ण हैं वैसे ही माखनलाल जी की कविताएं भी। 'बन्धन सुख' कविता के द्वारा कवि ने सत्याग्रह की अहिंसा मूलक भावना का बड़ी समर्थ शैली में वर्णन किया है। यह कविता गणेश शंकर विद्यार्थी की गिरफ्तारी पर लिखी गई थी—

आत्म देव ! प्यारी हथकड़ियां
और बेड़ियां दे परितोष,
उतनी ही आदरणीया हैं
जितना वह जय-जय का घोष।
तू सेवा है सेवाव्रत है,
तेरा जरा कसूर नहीं,
'शूली' वह ईसा की शोभा,
वह विजयी दिन दूर नहीं।

'निःशस्त्र सेनानी' कविता में भी कवि ने इसी भाव का प्रबल समर्थन किया है। महात्मा गांधी ही इस कविता में चित्रित हुए हैं—

प्यार ! उन हथकड़ियों से और
कृष्ण के जन्मस्थल से प्यार !
हार ! कन्धों पर चुभती हुई
अनोखी जंजीरें हैं हार !

लोकमान्य तिलक के स्वर्गारोहण पर कवि ने जो उद्गार व्यक्त किये थे उनमें भी भारतीय स्वाधीनता की पुकार गूंज रही है। तिलक के निधन से शोकार्त्त कवि देश के दुर्भाग्य पर दृष्टिपात करता हुआ भी उसके नव-निर्माण की कल्पना को छोड़ नहीं सका है—

बलि होने की परवाह नहीं
मैं हूं, कष्टों का राज्य रहे,
मैं जीता, जीता, जीता हूं
माता के हाथ स्वराज्य रहे।

इन कविताओं के अतिरिक्त ब्रिटिश साम्राज्य में भारतीय जनता को जिस अत्याचार और दमन का सामना करना पड़ रहा था उसका जीता-जागता चित्र चतुर्वेदी जी की अनेक कविताओं में अंकित हुआ है। कवि ने अनेक बार स्वयं अंगरेजी हकूमत के समय जेल की विषम यातनाएं सही हैं। उसने कोरी कल्पना से इस यातना का वर्णन नहीं किया बल्कि स्वानुभूति का पूर्ण योग होने से कविता की वर्ण्यवस्तु बड़े ही जीवन्त रूप में शब्दों में साकार हुई है। 'मरण त्यौहार', 'कैदी और कोकिला', 'सिपाही', 'सिपाहिनी', 'जलियां वाला बाग', 'जवानी', शीर्षक कविताओं के पढ़ते ही मन में राष्ट्रप्रेम की ऐसी उमंग पैदा होती है, कि उस पर कोई भी स्वाभिमान की भावना वाला युवक बलिदान हो सकता है। वीर-रस के

स्थायी भाव उत्साह का जैसा परिपाक इन कविताओं में है, दिनकर को छोड़कर, किसी अन्य कवि में दिखाई नहीं देता। कुछ कविताएं तो दृश्य और वस्तु विधान के माध्यम से भावोद्दीपन करती हैं और कुछ अनुभूति के अंकन द्वारा मन को आन्दोलित करने वाली हैं। किन्तु दोनों प्रकार की कविताओं का मूल उद्देश्य एक ही है, वह है राष्ट्र-प्रेम को जागृत कर पाठक को उत्साहपूर्ण बलिदान की भावना से परिपूर्ण करना। दृश्य और वस्तु-वर्णन द्वारा उत्साह की सृष्टि करने वाली ओजस्वी कविताओं में हम 'जवानी', 'सिपाही', 'सिपाहिनी' आदि को स्थान देते हैं। कवि वीर सिपाहिनी की मनोभावना का वर्णन इस प्रकार करता है—

चूड़ियाँ बहुत हुईं बहुत कलाइयों पर
प्यारे भुजदंड सजा दो।
तीर कमानों से सिंगार दो,
जरा जिरह बखतर पहना दो।।

'जवानी' का वर्णन करते हुए कवि ने सुन्दर अप्रस्तुत योजना से चित्रांकन किया है। जवानी का उभार आने पर पत्थर में से दूब फूट निकलती है, शाखा में फूल और फल निकल आते हैं। संसार में जवानी पर शासन नहीं होता वह तो स्वयं दूसरों पर शासन करने आती है। वीर-रस की निष्पत्ति का इस कविता में सुन्दरतम स्वरूप आंका जा सकता है—

वह कली के गर्भ से फल—
रूप में अरमान आया!
देख तो मीठा इरादा, किस
तरह सिर तान आया!
डालियों ने भूमि रुख, लटका
दिये फल, देख आली!
मस्तकों को दे रही
संकेत कैसे, वृक्ष डाली!
फल दिये, या सिर दिये? तरु की कहानी—
गूंथ कर युग में, बताती चल जवानी।"

इस कविता में जवानी का विश्लेषण करते हुए कवि ने उसे बलिदान का प्रतीक, मरण की चुनौती, इरादों की मशाल, आदि कह कर इतना दुर्धर्ष रूप दे दिया है कि पाठक की शिराओं में रक्त की गति कविता-पाठ के साथ बढ़ती जाती है। जवानी के लिए यह पृथ्वी क्या है—

धरा? यह तरबूज है दो फांक कर दे।

ब्रिटिश-शासन की दमन नीति के विरुद्ध कवि ने अपने भाव व्यक्त करते समय जिस शैली का प्रयोग किया है वह निर्भीकता की पराकाष्ठा है। 'कैदी और कोकिला' शीर्षक

कविता कवि की निर्भीकता का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कविता में एक ओर कारावास का भयावह चित्र है और दूसरी ओर ब्रिटिश शासकों की अन्याय-अत्याचारपूर्ण नीति का सशक्त भाषा में उद्घाटन। डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में बन्द कवि आधा पेट भोजन खाकर विवशता के साथ बन्दी का जीवन व्यतीत कर रहा है। जीवन पर नाना प्रकार के कठोर नियंत्रण हैं। शासन क्या है, मानो तम का गहरा प्रभाव ही देश पर छाया हुआ है। सन्तरी की पहरे की आवाज और बन्दियों की श्वास की घर-घर ध्वनि के सिवा कैद-खाने की काली दीवारों के घेरे में कुछ सुनाई नहीं दे रहा है। ऐसे समय कोकिल की तान सुन कर कवि का मानस प्रश्नों से आन्दोलित हो उठता है--

क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज्य का गहना,
कोल्हू का चर्रक चूं ? जीवन की तान,
गिट्टी पर अंगुलियों ने लिखे गान ?
मैं मोट खींचता लगा पेट पर जूआ
खाली करता हूं ब्रिटिश अकड़ का कूआ।

रहस्यवादी भावना

श्री माखनलाल चतुर्वेदी की कविताओं में रहस्यमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रारम्भ से ही रही है। इनके रहस्यवाद का आधार निर्गुणधारा का न होकर वैष्णव-सगुणधारा के मेल में है। ईश्वर की सगुण-शक्ति का रहस्य के आवरण में कवि ने वर्णन किया है। रहस्यमयी भावना की अभिव्यक्ति प्रायः सभी स्थलों पर अपूर्ण है अर्थात् कवि के मन का भाव अर्द्ध-अभिव्यक्त हो पाया है अतः पाठक उसे पूरी तरह समझ नहीं पाता। किन्तु उसका एक सबल पक्ष है जो कबीर आदि रहस्यवादी कवियों में प्रायः नहीं मिलता। वह है अभिव्यक्ति की सरसता। शब्दों के चयन और उनके विन्यास की शैली बड़ी मनोरम है। जहाँ रहस्य का आवरण सघन नहीं है, वहाँ अर्थ और अभिव्यंजना शैली दोनों का आनन्द उपलब्ध होता है--

अजब रूप धर कर आये हो, छवि कह दूं, या नाम कहूं।
रमण कहूं या रमणी कह दूं, रमा कहूं, या राम कहूं।

* * *

अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना सा।
अरे मेरे आराध्य ! खिला लूं मैं भी तुझे खिलौना सा।

रहस्यवाद के हलके पुट से संयुक्त इस कविता के आभ्यन्तर में प्रवेश पाना सामान्य पाठक के लिए दुरूह ही है। दूसरा उदाहरण देखिए--

बिन हरियाली के माली पर
बिना राग फैली लाली पर

बिना वृक्ष उगी डाली पर
फूली नहीं समाती तन में
उड़ने दे घनश्याम गगन में।

यहाँ कबीर की उलटबासियों का ग्राभास दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार 'वरदान या अभिशाप', 'खोज', 'मेरा उपास्य', 'छिपूं किसमें', 'उपालम्भ', 'अधिकार नहीं दोगे मुझको', आदि कविताओं में रहस्यवाद की छटा देखी जा सकती है। रहस्यवादी भावनाओं को कवि ने प्रकृति के माध्यम से भी प्रकट किया है। प्राकृतिक दृश्यों या विषयों पर लिखी हुई आपकी कविताएं अपने भीतर अध्यात्म का झीना तन्तु समेटे हुए हैं। कविता में प्रकृति के उपकरण कवि के सामने हैं किन्तु उनका वर्णन केवल वस्तु या दृश्य मात्र के अंकन से कवि ने नहीं किया है। इन कविताओं का वस्तु सत्य उतना महत्त्व पूर्ण नहीं है जितना इनका भाव सत्य है। यथार्थ में भाव सत्य की स्थापना के लिए ही कवि ने वस्तु सत्य को ग्रहण किया है। उषा कविता में भाव सत्य पर ध्यान दीजिए—

यह उषा निशा के जाने की अंगड़ाई
तम को उज्ज्वल कर जब आंखों पर आई
मैं बोला, चल समेट, तारों की ढेरी,
यह काल कोठरी खाली करदे मेरी।
मैं आहों में अँगार लिये आता हूं,
जग जागृति का व्यापार लिये आता हूं।

सौन्दर्य और प्रेमानुभूति

राष्ट्रवादी विचार-धारा के प्रबल समर्थक होने पर भी आपकी कविता में सौन्दर्य और प्रेम की मार्मिक व्यंजना दृष्टिगत होती है। कवि की पदावली तो सर्वत्र ही प्रेम की ध्वनि देने वाली है किन्तु जिन कविताओंमें प्रेम और सौन्दर्य चित्रणको ही कविने वर्ण्य विषय बनाया है,वहाँ कवि का मर्म हमें मिलता है। प्रेमानुभूति के चित्रण में कवि कोरी कल्पना को ग्रहण करके नहीं चला है, अनुभूति ही उसकी अभिव्यक्ति का आधार है। जीवन की वास्तविक अनुभूति का सम्बल लेकर चलने वाले कल्पना की रमणीयता से भले ही वंचित रह जायं किन्तु जीवन की यथार्थता का उनके पास अभाव नहीं होता। फलतः उनकी कविता प्राणवान होती है और भावनाओं के मूर्तविधान की क्षमताएँ उसमें अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती हैं। चतुर्वेदी जी अपनी सौन्दर्य एवं प्रेम सम्बन्धी कविताओं में भावुक रहे हैं। कवि का अन्तर्जगत् प्रेम की आभा से दीप्त हो रहा है, अतः उसे संसार की प्रत्येक वस्तु में सौन्दर्य और प्रेम व्याप्त हुआ दीखता है। कवि उस प्रेम का पुजारी है जो स्व-सुख का उत्सर्ग करके बलिदान भावना से ज्योतित होता है—

वे तुम्हारे बोल !
वह तुम्हारा प्यार चुम्बन, वह तुम्हारा स्नेह सिहरन !

वे अनमोल मोती
वे रजत कण
वे तुम्हारे आंसुओं के बिन्दु वे लोने सरोवर !

* * *

अपनी पत्नी के स्वर्गवास पर कवि ने जिस मार्मिक प्रेमानुभूति का वर्णन किया है वह वियोग की सुन्दर झांकी प्रस्तुत करता है--

पूजा के ये पुष्प गिरे जाते हैं नीचे,
यह आंसू का स्रोत आज किसके पद सींचे,
दिखलाती क्षणमात्र, न आती प्यारी प्रतिमा,
यह दुखिया किस भांति, उसे भूतल पर खींचे।

'आँसू' शीर्षक कविता में प्रेम की मार्मिक व्यंजना हुई है। 'वृक्ष और वल्लरी' शीर्षक कविता भाषा, भाव, शैली सभी दृष्टियों से एक स्वच्छ और सुन्दर कविता है। इसमें सौन्दर्य और प्रेम दोनों का सुन्दर शैली से निर्वाह हुआ है---

वृक्ष, बल्लरि के गले मत मिल कि सर चढ़ जायगी यह,
और तेरी मित भुजाओं पर अमित हो जायगी यह।
हरी-सी, मन भरी-सी मत–जान सख लख, राह लख तू,
मधुर तेरे पुष्प दल हों, कटु स्वफल लटकायगी यह।

काव्य-सौष्ठव

चतुर्वेदी जी की कविता का मूल स्वर वीर-रस है। ओजस्वी भापा में उत्साह की पूर्ण व्यंजना में आपको पूरी सफलता प्राप्त हुई है। वीर-रस के साथ प्रेम और शृंगार की भावना को आप सदा अपनाये रहे हैं, अतः अभिव्यंजना में सरसता और कांति बनी रही है। आध्यात्मिक तत्त्व का समावेश करने के कारण जहां रहस्यवादी प्रवृत्ति आई है वहां शान्त या निर्वेद की प्रतीति न होकर माधुर्य भाव की रहस्यमयी प्रतीति ही होती है।

चतुर्वेदी जी भाषा-विन्यास में व्याकरण के अनुगामी नहीं हैं। शब्दों में हेर-फेर करना आपका स्वभाव है। ह्रस्व-दीर्घ के विपर्यय के साथ द्वित्व की भी प्रकृति आपकी रचनाओं में है। उट्ठा, दुक्खा, लिक्खूं, आदि प्रयोगों के साथ मात्राओं में परिवर्तन तो भरा पड़ा है। दूरान्वय दोष भी आपकी कविता में बहुत है। छन्दोभंग को तो कदाचित् चतुर्वेदी जी दोष ही नहीं मानते। यति, गति का भी ठीक-ठिकाना नहीं है। कविता के बाह्य बन्धनों का आपने प्रारम्भ से ही खंडन किया है। यह खंडन काव्य-दोष की सीमा तक है और परम्परा की दृष्टि से खटकता है। छन्द विधान में नवीनता स्वीकार करके दो-तीन छन्दों के योग से आपने नये छन्द बना लिये हैं। तत्सम या तद्भव का भी कोई नियम नहीं मानते। जो शब्द जहां कहीं इन्हें अच्छा लगता है जड़ देते हैं। तत्सम पदावली के

मध्य देशज या उर्दू-फारसी का भी जमकर प्रयोग करते हैं। भाषा सरल रखने का प्रयास है किन्तु अर्थ के बोधगम्य रखने पर दृष्टि नहीं है। अर्थ दुरूह और सरल शब्द, यह विडम्बना आपकी कविता की विशेषता है। उर्दू, फारसी का अच्छा ज्ञान होने से कहीं-कहीं व्यंजक शब्द-चयन करने की कला आपके पास है। मुहावरों का प्रयोग भी आप खूब करते हैं। भाषा को सजीव बनाने की सजग चेष्टा आपके काव्य में है। सरल भाषा का एक उदाहरण देखिए——

धूल लिपटे हुए हँस-हँस के गजब ढाते हुए,
नंद का मोद, यशोदा का दिल बढ़ाते हुए,
दोनों की देखता, दोनों की सुध भुलाते हुए,
बाल घुंघरालों को मटका कर सर नचाते हुए।

इसमें मुहावरों की लड़ी की लड़ी लगी हुई है। शब्द सरलतम और व्यंजक हैं, यह उर्दू शायरी की शैली है। इसी प्रकार का एक और उदाहरण द्रष्टव्य है——

जहां से जो खुद को जुदा देखते हैं
खुदी को मिटाकर खुदा देखते हैं,
फटी चिन्थियां पहिने भूखे भिखारी,
फ़कत जानते हैं तेरी इन्तजारी।

नवीन प्रयोग की दृष्टि से भी आप की कविता पर विचार करना आवश्यक है। 'एक भारतीय आत्मा' नाम जिस प्रकार एक नया प्रयोग था वैसे ही छन्द,शब्द,भाव,यति,गति, शैली सभी दिशाओं में आपने नवीन प्रयोग किये हैं। एक रहस्यपूर्ण छोटी कविता में नवीन प्रयोग देखिए, यह प्रयोग इसलिए महत्वपूर्ण है कि सन् १६१० में आपने यह कविता लिखी थी——

गुनों की पहुंच के परे के कुओं में,
मैं डूबा हुआ हूं जुड़ी बाजुओं में,
जरा तैरता हूं तो डूबो हुओं में,
अरे डूबने दे मुझे आंसुओं में।

उपर्युक्त उदाहरणों में उर्दू की शैली का प्रयोग-बाहुल्य देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि हिन्दी की कविता से आप दूर हैं। यथार्थ में हिन्दी की छायावादी गीत-शैली के उन्नायकों में आपका नाम है। आपने सन् १६२० से ही तत्सम पदावली से परिपूर्ण गीत लिखना शुरू किया था और तब से आज तक विविध शैलियों में आप गीत लिखते चले आ रहे हैं। आप स्वर-ध्वनि के संधान में काव्य के भाव को बेचना नहीं चाहते, यही आपकी विशेषता है——

क्यों स्वर से ध्वनियां उधार लूं?
क्यों वाचा के हाथ पसारूं ?
मेरी कसक पुतलियों के स्वर,

बोलो तो क्यों चरण दुलारूं ?

छायावादी शैली से लिखी हुई आपकी अनेक कविताओं में कहीं पर भी अनुकरण का आभास भी नहीं है। शैली की मौलिकता में आपका विश्वास है, इसी कारण छायावादी परम्परा में आलोचकों ने इनका नाम नहीं गिनाया है। यदि इनकी कविताओं का छायावादी-काव्य की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाय तो प्रचुर सामग्री उसमें उपलब्ध होगी। एक गीत देखिए—

जो न बन पाई तुम्हारे
गीत की कोमल कड़ी।
तो मधुर मधुमास का वरदान क्या है ?
तो अमर अस्तित्व का अभिमान क्या है ?
तो प्रणय में प्रार्थना का मोह क्यों है ?
तो प्रलय में पतन से विद्रोह क्यों है ?

संक्षेप में, चतुर्वेदी जी हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावनाओं के अमर गायक कवि हैं। उनकी काव्य-सम्पदा भाव और भाषा दोनों दृष्टि से विपुल है। उनकी शैली सर्वथा मौलिक और नूतन है। वे किसी लीक के पुजारी नहीं हैं, यही उनकी विशेषता है। व्याकरण, पिंगल और अलंकार के बंधनों को उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया। बलिदान की भावना जो जीवन में थी वही काव्य में भी प्रतिफलित हुई। वे गद्य और पद्य में बड़ा भेद नहीं मानते। उनकी भाषा व्याख्यान, भाषण, पुस्तक, कविता सब में एक-सी चलती है। ओज उनका सम्बल है, माधुर्य से उन्हें प्रेम है। हां, प्रसाद गुण का उनके पास प्राय: अभाव रहता है। चतुर्वेदी जी की राष्ट्रीय-कविताओं का अभी तक समुचित मूल्यांकन नहीं हुआ है। जिस दिन भारतीय अहिंसात्मक आन्दोलन का सम्पूर्ण इतिहास लिखा जायगा, निश्चय ही माखनलाल चतुर्वेदी की राष्ट्रीय-कविता का उसमें अपना विशिष्ट स्थान होगा।

६. श्री रामधारीसिंह 'दिनकर'

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं के साथ क्रान्ति का आह्वान करने वाले कवियों में दिनकर का स्थान मूर्धन्य पर है। उनकी ओजस्वी वाणी ने हिन्दी कविता को प्रेम और शृंगार की गलियों से निकाल कर जीवन, जागृति, बल और बलिदान के राजपथ पर ला खड़ा किया है। प्राचीन काव्य-परम्परा की जर्जर रूढ़ियों को जितनी शक्ति और क्षमता के साथ दिनकर ने तोड़ फेंका है, उतनी दुर्द्धर्षता से हिन्दी का दूसरा कोई कवि नहीं कर सकता। युग-धर्म और युग-जीवन को भलीभांति हृदयंगम करके उसमें निर्माणोन्मुख परिवर्तन तथा सजग चेतना उत्पन्न करना आपकी कविता का प्रमुख लक्ष्य रहा है। अपने कवि-जीवन के शैशव में आपने भी प्रेम और शृंगार की आकर्षक झांकी देखी किन्तु आपके प्रबुद्ध तरुण हृदय को वह सर्वथा बांधकर न रख सकी। अन्तर्मुखी छायावादी कविता की रंगीनी और उसकी अकर्मण्यता का रहस्य शीघ्र ही आपको विदित हो गया और उस संकरी गली की सीमाओं में घुटना आपने स्वीकार नहीं किया। आपने कविता-परी को उसी समय सम्बोधित करते हुए उस देश में चलने को कहा जहां केवल स्वप्नलोक की विलास भावना न होकर कठोर सत्य पर आधृत भूमि-लोक की पुकार सुनाई देती हो।

जीवन-वृत्त

कवि दिनकर का जन्म बिहार प्रान्त के मुंगेर जिले के सेमरिया नामक गांव में संवत् १९६५ में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद पटना विश्वविद्यालय से बी० ए० परीक्षा उत्तीण की और बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी में जीवन व्यतीत किया। सरकारी नौकरी में भी कविता लिखने का क्रम सतत जारी रहा। भारतवर्ष के स्वतंत्र होने पर आपकी प्रतिभा और योग्यता का उचित सम्मान हुआ और आप भारतीय संसद के सदस्य चुने गये। सम्प्रति संसद-सदस्य के रूप में देश-सेवा में रत हैं। दिनकर जी अध्ययनशील कवि हैं। कवि की प्रतिभा आपको वरदान में मिली है, अध्ययन और मनन से आपने गहरा ज्ञान उपार्जित किया है। कविता के अतिरिक्त आपने गद्य में भी उच्चकोटि का साहित्य सर्जन करके अपनी भावयित्री प्रतिभा का तथा गवेषणात्मक मेधा का अच्छा परिचय दिया है। 'मिट्टी की ओर' आपके समीक्षात्मक कोटि के निबंध हैं जिनमें भावुक कवि दिनकर का समवेत रूप दृष्टिगत होता है। आपने ज्ञान-विज्ञान का विशाल ग्रंथ 'संस्कृति के चार अध्याय' लिखकर अपनी अध्ययनशीलता तथा गवेषणाशक्ति का

सिक्का जमा लिया है। यह विशाल ग्रंथ आज हिन्दी में अपने विषय का एकमात्र नवीन ग्रंथ समझा जाता है। कविता के क्षेत्र में अभी तक दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'कुरुक्षेत्र' खंडकाव्य आपकी काव्य-साधना का सर्वोच्च सोपान है। आपकी प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं : रेणुका, द्वन्द्वगीत, हुंकार, रसवन्ती, धूपछांह, कुरुक्षेत्र, सामधेनी, बापू, रश्मिरथी आदि।

दिनकर ने जिस युग में कविता लिखना प्रारम्भ किया वह छायावाद के चरमोत्कर्ष का काल था। खड़ी बोली की अभिव्यंजना इतनी पुष्ट और परिष्कृत हो चुकी थी कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव को अवदात और उदात्त शैली में प्रस्तुत किया जा सकता था। छायावादी कवि प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ शृंगार और रूप की पिपासा को बड़ी कोमल-कान्त पदावली में व्यक्त कर रहे थे। दिनकर के युवक मन पर इन विषयों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यौवन सुलभ सौन्दर्योपासना की ओर प्रारम्भ में यदि कवि आकृष्ट हुआ तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है; आश्चर्य की बात तो यह है कि वह सौन्दर्य की क्षणभंगुरता और जगत् की अनित्यता को उस वयक्रम में पहचान गया जबकि वह अपनी मोहनी से प्रत्येक युवक को भुलाये रहती है। दिनकर का प्रथम कविता-संग्रह सन् १९३५ में प्रकाशित हुआ। यौवन और सौन्दर्य के मोहक-मदमाते चित्रों के साथ दिनकर ने नश्वरता और क्षणभंगुरता की भावना जोड़कर कविता को नया मोड़ दिया। फलतः पहले संग्रह 'रेणुका' के आते ही हिन्दी जगत् की आंखें दिनकर की ओर गईं।

'रेणुका' कवि की प्रथम कृति होने पर भी भाव, भाषा और शैली में इतनी परिपुष्ट और असमर्थ है कि पाठक को अपने अनेक मनोमुग्धकारी धर्मों से जकड़ लेती है। 'रेणुका' में मुख्यतः तीन प्रकार की कविताएं हैं जो कवि के भावी प्रगति-पथ का परिचय देती हैं। यौवन और सौन्दर्य के चित्रों में जीवन और जगत् के प्रति वैराग्य की भावना का प्रतिपादन है। संसार की क्षणभंगुरता को व्यक्त करने के लिए जिस ललित पदावली और सरस काव्य-शैली को कवि ने स्वीकार किया है वह अपनी कान्ति-दीप्ति में अप्रतिम है। दूसरे प्रकार की कविताएं वे हैं जिनमें अतीत गौरव के साथ राष्ट्रीय भावना को अंकित किया गया है। इन कविताओं का स्वर एकदम नया है। 'भारत-भारती' या 'भारत-गीत' का स्वर उनमें नहीं है। इन कविताओं को पढ़ते ही मन में उत्साह, आशा और उमंग का संचार हो उठता है। तीसरे प्रकार की वे कविताएं हैं जो प्रकृति-चित्रण से सम्बन्ध रखती हैं। दिनकर ने प्रकृति के चित्र स्वानुभूति के आधार पर ही अंकित किए हैं। कल्पना की दुरारूढ़ प्रतीति से प्रकृति का नैसर्गिक वर्णन सम्भव नहीं होता यह कवि को जैसे गांव में जन्म लेते ही विदित हो गया था।

'रेणुका' में संसार की अनित्यता और क्षणभंगुरता को चित्रित करते समय कवि ने उपकरणों को एकत्र किया है जो हमारे दैनिक जीवन में स्नेह और आकर्षण के केन्द्र बने रहते हैं। कवि उन्हें नश्वर बताकर हमें चेतावनी देना चाहता है कि 'यत्सत् तत्क्षणिकम्'

को समझ लो और जीवन में जो नित्य और स्थायी है उसे प्राप्त करने में लगो। कवि ने भावुकतावश यह वैराग्य-दर्शन स्वीकार किया अथवा अन्तर की किसी प्रेरणा ने उसे भरी जवानी में विरक्ति का पाठ पढ़ने को बाध्य किया, इसका उत्तर कवि के जीवन सूत्रों के द्वारा ही संभव है। हो सकता है कि भारतीय मायावादी चिन्ताधारा ने कवि के मानस पर जगत् की नश्वरता का प्रभाव डाला हो। यह दार्शनिक दृष्टिकोण इस देश के अध्येता-कवि के लिए नया नहीं है। छायावादी कवियों ने भी अपनी प्रौढ़ि पर इसे देखा और परखा है। 'परदेसी' शीर्षक कविता में नश्वरता का राग सुनिए—

सृजन बीच संहार छिपा कैसे बतलाऊं परदेसी,
सरल कंठ से विषम राग कैसे मैं गाऊं परदेसी,
एक बात है सत्य कि झड़ जाते हैं खिलकर फूल यहां
जो अनुकूल वही बन जाता दुर्दिन में प्रतिकूल यहां।

'धूल के हीरे' कविता में यही भाव दूसरे शब्दों में है—

जीवन ही कल मृत्यु बनेगा और मृत्यु ही नवजीवन।
जीवन मृत्यु बीच तब क्यों द्वन्द्वों का यह उत्थान पतन ॥

'रेणुका' की 'हिमालय के प्रति', 'कलातीर्थ', 'कविता की पुकार' आदि कविताओं में निराशा के स्थान पर आशा, विषाद के स्थान पर हर्ष, अकर्मण्यता के स्थान पर उत्साह का भाव जिस प्रबल वेग से व्यक्त हुआ है वह पाठक को भी अपने साथ बहा ले जाता है।

'द्वन्द्वगीत' 'रेणुका' के बाद की रचना है, जिसमें कवि का अन्तर्द्वन्द्व ही कविता के माध्यम से व्यक्त हुआ है। 'द्वन्द्वगीत' में वैराग्य-भावना का वर्णन कवि ने दार्शनिक और मननशील के समान किया है। उसमें 'रेणुका' के समान सरलता और प्रवाह न होकर अपेक्षाकृत गंभीरता और जटिलता है। 'द्वन्द्वगीत' की कविताओं के पीछे कवि का अध्ययन-पक्ष प्रबल दिखाई देता है। जीवन और जगत् के विषय में जो मार्मिक उक्तियां कवि ने की हैं उनमें सौन्दर्य के दार्शनिक पक्ष का अच्छा उद्घाटन हुआ है। कवि के चिन्तन में एक ऐसी उदासी है जो 'दिनकर' के भावी कवि के अनुकूल नहीं कही जा सकती किन्तु जो है उससे निषेध क्योंकर किया जाय। कवि को अपनी अनित्यता पर गहरा विषाद है। वह कहता है—

दूब भरी इस शैल-तटी में,
उषा विहंसती आयेगी।
युग-युग कली हंसेगी,
युग-युग कोयल गीत सुनायेगी।
घुल-मिल चन्द्रकिरण में
बरसेगी भू पर आनन्द सुधा
केवल मैं न रहूंगा, यह
मधुधार उमड़ती आयेगी।

संसार के क्षणिक सौन्दर्य की ओर दृष्टि डालकर कवि ने जिस मार्मिक भाव की व्यंजना की है उसमें क्षणभंगुरतावादी दार्शनिक चिन्ताधारा और भोगवादी आकर्षण का सुन्दर समन्वय हुआ है—

मैं रोता था हाय, विश्व
हिमकण की करुण कहानी है
सुंदरता जलती मरघट में
मिटती यहाँ जवानी है।
पर बोला कोई कि जरा
मोती की ओर निहारो तो
दो दिन का ही सही किन्तु
देखो कैसा यह पानी है।

'रेणुका' और 'द्वन्द्वगीत' में कवि ने दार्शनिक भित्ति पर आधृत जिस नश्वरतावाद का स्वर अपनी कविता में गुंजित किया था वह उसकी काव्यवाणी का मूल स्वर नहीं था। वह एक प्रभाव था जो भावुक और संवेदनशील युवक को सौन्दर्य और माधुर्य की क्षणभंगुरता के कारण खींच ले गया था। इसी कारण हम देखते हैं कि 'रेणुका' और 'द्वन्द्वगीत' की कविताओं में वैराग्य की स्थायी प्रतिष्ठा नहीं हो सकी। कवि विरक्ति को अपने लिए वरण नहीं कर सका। उसके भीतर कर्मवाद की प्रखर किरणें भासमान हुईं और कर्मवाद को जीवन का वरेण्य वरदान मान वह जीवन और जगत् की ओर आकृष्ट हुआ। यह कर्मवाद या प्रवृत्तिपथ राष्ट्रीय भावनाओं को उद्बुद्ध करने वाली कविता के द्वारा फूटा। 'हुंकार' में हम कवि के इसी रूप का दिग्दर्शन करते हैं। 'हुंकार' में दिनकर ने प्राचीन वीर काव्यों की ओजमयी शैली को नया कलेवर दिया। उसने वीरतापूर्ण क्रान्ति का आह्वान करके हिन्दी की राष्ट्रीय कविता के अभावों को दूर किया और राष्ट्र की व्यापक कल्पना के साथ अंग्रेजी शासन की कठोर दमन-नीति पर भी प्रहार किये। भारत के प्राचीन इतिहास की उन कथाओं में से दिनकर ने उद्बोधन खोज निकाला जो आज मृत समझा जाता है। दिनकर ने भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का सन् १६२१-२२ का इतिहास भी उन कविताओं की गूंज में रख दिया। उसे प्रत्यक्ष रूप से वर्णित न कर सूक्ष्म संकेतों से अंकित करके राष्ट्रीय भावना को कर्मवाद के सिद्धान्त से संयुक्त किया। 'हुंकार' की कविताओं को पढ़कर लगता है दिनकर की वाणी में उस समय का युवक ही बोल रहा है जो उत्सर्ग की भावना से क्रान्ति-पथ पर निकल पड़ा है। 'हुंकार' की कविता 'आमुख' कवि की चिन्ताधारा को स्पष्ट करने वाली अर्थगर्भ कविता है। इसमें कवि ने अपनी पुरानी कविताओं को 'खंडहरों के गीत' कहा है क्योंकि उसमें वह अतीत में समाकर वर्तमान को भूल बैठा था। वर्तमान संघर्षमय है, उसकी उपेक्षा नहीं हो सकती। अतः कवि स्वयं काल का वैतालिक बनकर इन गीतों की ओर प्रवृत्त हुआ—

समय दूह की ओर सिसकते मेरे गीत विकल धाये।

आज खोजते उन्हें बुलाने वर्तमान के पल आये ।।

* * *

अमृत गीत तुम रचो कलानिधि ! बुनो रश्मियों की जाली
तिमिर ज्योति की समरभूमि का मैं चारण, मैं वैताली ।।

'असमय-आह्वान' इस संग्रह की पहली कविता है जो कवि की अन्तःप्रेरणा का ही शाब्दिक प्रतिफलन प्रतीत होती है । एक क्रान्तिकारी शक्ति उसे ललकार कर पुकार रही है और कवि संसार के तुमुल कोलाहल के बीच खड़ा इस पुकार का अर्थ समझने में अपने को असमर्थ पाता है । किन्तु ज्यों-ज्यों आह्वान की ध्वनि तीव्र होती जाती है कवि उसे समझता है और कोमल रागिनी वाली वीणा को तोड़-मरोड़कर फेंक देता है और रजत-शंख उठाकर स्वामिनी की सेवा में उपस्थित होता है—

फेंकता हूँ लो, तोड़-मरोड़, अरी निष्ठुरे बीन के तार ।
उठा चांदी का उज्ज्वल शंख, फूंकता हूँ भैरव हुंकार ।।

'अनल किरीट', 'वन फूलों की ओर', 'दिल्ली', 'हिमालय', 'सिपाही', 'विपथगा' आदि कविताएँ इस संग्रह की आत्मा हैं। दिनकर की ओजस्वी अभिव्यक्ति का रूप इन कविताओं में साकार हुआ है । क्रान्ति का मूर्तिमन्त रूप देखने के लिए हिन्दी में इन कविताओं से अच्छा उदाहरण शायद ही कहीं मिले । माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कुछ क्रान्ति-भावना की कविताएँ अवश्य इसी कोटि की हैं । 'वन फूलों की ओर' कविता में आर्थिक शोषण का बड़ा जीता-जागता चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है—

सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धरकर हल,
तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गंगाजल ।
उसके तन का दिव्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊंगी।
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊंगी ।।

* * *

ऋणशोधन के लिए दूध घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे,
बूंद-बूंद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ छोड़ेंगे ।
शिशु मचलेंगे दूध देख, जननी उनको बहलायेगी,
मैं फाड़ूंगी हृदय लाज से आंख नहीं रो पायेगी।
इतने पर भी धनपतियों की होगी उन पर मार,
तब मैं बरसूंगी बन बेबस के आंसू सुकुमार ।

'दिल्ली' और 'हिमालय' कविताएं कवि के राष्ट्र-प्रेम का ओजस्वी भाषा में परिचय देती हैं । अतीत-गौरव का स्मरण करता हुआ कवि हिमालय से कहता है—

पूछे सिकताकण से हिमपति, तेरा वह राजस्थान कहां !
वन-वन स्वतंत्रता दीप लिये, फिरनेवाला बलवान कहां !
तू पूछ अवध से राम कहां ? वृन्दा बोलो घनश्याम कहां ?

ओ मगध ! कहां तेरे अशोक ? वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहां ?

* * *

प्राची के प्रांगण बीच देख, जल रही स्वर्ण युग अग्निज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग तपी, मेरे नगपति मेरे विशाल !

'दिल्ली' कविता का मार्मिक व्यंग्य द्रष्टव्य है—

वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषक मेध की रानी दिल्ली,
अनाचार-अपमान व्यंग्य की, चुभती हुई कहानी दिल्ली।
आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी ! गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें !

'हुंकार' की कविताओं में ही 'दिनकर' की भावधारा का मूल स्वर निनादित हुआ है इन कविताओं में भाव की ऊर्जस्विता के साथ भाषा की तड़क और कड़क क्रान्ति औ संघर्ष को व्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है। प्रगतिशील भावनाओं का सच्चा रूप हं प्रगतिवाद होना चाहिए। यदि प्रगति का उदात्त रूप ग्रहण किया जाय तो उस सम 'दिनकर' को हम प्राणवान प्रगतिवादी कवि के रूप में पाते हैं जिसकी वाणी से क्रान्ि और बलिदान का घोष हुंकार उठा था।

दिनकर की काव्यधारा में 'हुंकार' के बाद फिर परिवर्त्तन पैदा हुआ। संघर्ष के कठो जीवन से हटकर कवि ने जीवन के सुख-भोग की ओर दृष्टिपात किया। सौन्दर्य के प्रि आकर्षण, प्रेम के प्रति मोह और विलास की लालसा ने कवि के अंतर में रोमांस की अभिव्यक्ि की प्रेरणा की। कवि 'हुंकार' के संघर्ष से हटकर 'रसवन्ती' के स्नेहसिक्त रस में निमज्जि हुआ। जीवन के कोमल पक्ष की ओर कवि का भावुक मन दौड़ा और उसने प्रेम, सौन्दर्य रूप और विलास की कविताएं लिखीं जो 'रसवन्ती' में संकलित हैं। कतिपय आलोच 'दिनकर' की इस प्रवृत्ति को संघर्ष से पलायन मानते हैं किन्तु मनोवैज्ञानिक सत्य को यि कसौटी बनाकर इस प्रवृत्ति-विपर्यय की परख की जाय तो प्रतीत होगा कि मानव-मन वे दो पक्ष हैं जिनमें सदैव कठोर या पौरुष का ही प्राबल्य नहीं रहता। मन की द्रवीभूत होने वाली वृत्तियां कोमल और स्निग्ध पक्ष को भी ग्रहण करती हैं। फलतः प्रेम और विला की मर्म छवियों का अंकन वही कवि करते हैं जो क्रान्ति और संघर्ष के परुष गीत गाते हैं 'रसवन्ती' में कवि ने भावुकता का आश्रय लिया है किन्तु कामुकता की पिच्छल भूि पर वह नहीं उतरा है। इस संग्रह की कविता 'नारी' मेरे इस कथन का अच्छा प्रमाण है-

हो गया मदिर दृगों को देख, सिंह विजयी बर्बर लाचार,
रूप के एक तन्तु में नारि, गया बंध मत्त-गयन्द कुमार !
एक इंगित पर दौड़े शूर, कनक-मृग पर होकर हतज्ञान,
हुई ऋषियों के तप का मोल, तुम्हारी एक मधुर मुसकान।

* * *

तुम्हारे अधरों का रस प्राण, वासना तट पर पिया अधीर !

अरी ! ओ मां ! हमने है पिया तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

'रसवन्ती' की कुछ कविताएं बड़े सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति करनेवाली हैं किन्तु उनकी शैली इतनी सरस एवं माधुर्यपूर्ण है कि भाव की गरिमा को तनिक भी बोझिल नहीं होने दिया है। 'गीत-अगीत' कविता का सौन्दर्य द्रष्टव्य है :

दो प्रेमी हैं यहां एक जब बड़े सांझ आल्हा गाता है।
पहला स्वर अपनी राधा को घर से यहां खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की छाया में छिपकर सुनती है।
हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की विधना ! यों मन में गुनती है।
वह गाता, पर किसी वेग से, फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत अगीत कौन सुन्दर है ?

'रसवन्ती' को यदि कवि की पलायन वृत्ति भी माना जाय तो वह स्वाभाविक एवं सार्थक ही है। 'रसवन्ती' कवि के सुकुमार मन की माधुर्यपूर्ण अभिव्यंजना है जिसमें काव्य-सौष्ठव का प्रांजल रूप लक्षित होता है। जिन मोहक कल्पनाओं द्वारा काव्य का ताना-बाना बुना गया है वे सभी स्वाभाविक और सजीव हैं। 'कवि', 'रहस्य', 'प्रतीक्षा' आदि कविताओं में कवि ने जो मर्म छवियां अंकित की है, उनमें कल्पना का अमित योग होने पर भी असंभाव्य को स्थान नहीं दिया गया है, यही कवि की सफलता है। कहीं-कहीं तो कवि ने इतने स्वाभाविक शैली से प्रसाद गुण में बात कही है कि पाठक को लगता है कि जैसे वह स्वयं बोल रहा हो—

रानी ! आधी रात गई है, घर है बन्द, दीप जलता है।
ऐसे समय रूठना प्यारी का प्रिय के मन को खलता है।।

* * *

जीवन के दिन चार, अवधि उससे भी अल्प जवानी की।
उस पर भी कितनी छोटी निशि होती प्रणय कहानी की।।

'रसवन्ती' की रचना के बाद कवि के मानस में फिर अन्तर्द्वन्द्व उपस्थित हुआ। 'दिनकर' की कविता का मूल स्वर क्रान्ति है, क्रान्ति को 'दिनकर' ने युग-विधायनी शक्ति के रूप में स्वीकार किया है अतः क्रान्ति युद्ध-संघर्ष का ही रूप न होकर नूतन निर्माण और सृजन का भी रूप है। 'दिनकर' के काव्य में प्रारम्भ से चिरन्तन प्रश्नों के प्रति कुतूहल और स्वस्थ जीवन-दर्शन प्राप्त कर लेने का आग्रह देखा जा सकता है। द्वितीय महायुद्ध के समय असंख्य नर-नारियों के संहार तथा विशाल साम्राज्यों के ध्वंस और नाश को देखकर एक बार कवि का मन प्रश्नशील हो उठा। उसने सोचना प्रारम्भ किया कि जिस सत्य, अहिंसा और प्रेम को हम सुख-शान्ति का आधार मानते आ रहे हैं क्या वह युद्ध और संघर्ष के विकराल दानव को समाप्त करने में कभी समर्थ हुआ है ! क्या युद्ध की विभीषिका को अहिंसा द्वारा दूर किया जा सकता है या अहिंसा केवल दुर्बलों के मन बहलाव का ही वाचिक साधन है ? कवि ने युद्ध और अहिंसा के पक्ष-विपक्ष पर तुलनात्मक दृष्टि

से विचार किया और अपने शंकाकुल मन की भावनाओं को 'कुरुक्षेत्र' नामक खंडकाव्य द्वारा प्रस्तुत किया। 'कुरुक्षेत्र' 'दिनकर' की प्रौढ़तम कृति होने के कारण साहित्य जगत् में सबसे अधिक विख्यात हुई और मीमांसकों ने 'कुरुक्षेत्र' में वर्णित विविध प्रश्नों पर तथा काव्य के प्रतिपाद्य पर भिन्न-भिन्न रूप से अपने विचार व्यक्त किये।

'कुरुक्षेत्र' में कवि ने महाभारत के आख्यान को आधार बनाया है। युद्ध-समाप्ति के बाद धर्मराज युधिष्ठिर का अन्तर युद्ध और संघर्ष से इतना विषण्ण हुआ कि उसे अपनी यह विजय ही पराजय-सी प्रतीत होने लगी। काव्य के प्रारम्भ में जिस दृश्य की अवतारणा की गई है उसके अन्तराल में युद्ध की निस्सारता पर गहरा व्यंग्य छिपा हुआ है। पांडव अपनी विजय पर हर्षोल्लास मना रहे हैं किन्तु इस हर्ष ध्वनि में युधिष्ठिर को नियति का व्यंग्य सुनाई देता है। हवा में लड़खड़ाती हुई हर्ष ध्वनि जब पांडवों के ही शिविर में वापस लौट आती है तो युधिष्ठिर को लगता है कि हम विजयी नहीं हुए वरन् हमने असंख्य पुरुषों की हत्या करके जो सिंहासन पाया है वह हमारी मानसिक ग्लानि का कारण है--

तीव्र हर्ष निनाद उठकर पांडवों के शिविर से,
घूमता फिरता गहन कुरुक्षेत्र की मृत भूमि में,
लड़खड़ाता-सा हवा पर एक स्वर निस्सार-सा,
लौट आता था भटक कर पांडवों के पास ही
जीवितों के कान पर मरता हुआ
और उन पर व्यंग्य-सा करता हुआ--
'देख लो बाहर महा सुनसान है।'

युधिष्ठिर का मन आत्मग्लानि की मर्मान्तिक पीड़ा से भरा हुआ है। उनके सामने युद्ध की निस्सारता मूर्तिमन्त होकर खड़ी है। वे समाधान चाहते हैं; शान्ति चाहते हैं, जीवन में सन्तोष की सांस लेना चाहते हैं। भीष्म ही ऐसे व्यक्ति थे जो युधिष्ठिर को सान्त्वना दे सकते थे और उनके शंकाकुल मन को युक्ति-तर्क द्वारा स्वस्थ कर सकते थे। फलतः युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह के सामने अपने मन की ग्लानि उपस्थित की और युद्ध की विनाशकारी परिणति रखते हुए अहिंसा तथा प्रेम के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। भीष्म ने युद्ध और शान्ति, हिंसा और अहिंसा का मार्मिक विश्लेषण करके युधिष्ठिर की ग्लानि को दूर करने का प्रयत्न किया। भीष्म ने पहले धर्म-युद्ध की सार्थकता पर बल दिया और त्याग-तपस्या को युद्ध के आगे व्यर्थ तक ठहरा दिया। इन स्थलों को पढ़कर प्रतीत होता है कि जैसे कवि को युद्ध की सार्थकता में विश्वास है, किन्तु बात यह नहीं है। कवि ने युद्ध की सार्थकता को यहां पूर्व पक्ष के रूप में ही रखा है, वह कवि का प्रतिपाद्य नहीं है। भीष्म की इस उक्ति को युद्ध के पक्ष में उद्धृत किया जाता है--

हिंसा का आघात तपस्या ने कब कहां सहा है?
देवों का दल सदा दानवों से हारता रहा है।

किन्तु इसके बाद भीष्म के मन में भी युद्धोत्साह संहार के लिए उत्पन्न नहीं होता। भीष्म भी चाहते हैं कि युद्ध का उत्पात समाप्त हो और समस्त संसार के मानव भ्रातृ-बन्धुत्व की भावना से प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। युद्ध को कर्तव्य की दृष्टि से स्वीकार करना अभिप्रेत है किन्तु युद्ध की ऐकान्तिकता पर वे स्वयं सन्देह की स्थिति में हैं :—

जियें मनुज किस भाँति परस्पर होकर भाई-भाई,
कैसे रुके प्रवाह क्रोध का कैसे रुके लड़ाई ?

भीष्म और युधिष्ठिर का यह युद्ध-विषयक संवाद आज के मानव की सबसे प्रमुख समस्या है। एक ओर निःशस्त्रीकरण की पुकार है तो दूसरी ओर युद्ध-लिप्सा भी दिनों-दिन बढ़ रही है। भीष्म ने जहां पहले गीता के कर्मयोग को दृष्टि में रख कर युधिष्ठिर को युद्ध की सार्थकता का उपदेश दिया था वहां वे अब युद्ध और संघर्ष में विनाश का भयंकर विस्फोट देखते हैं और उन्हें भी यही लगता है कि कर्म का आह्वान स्वीकार करके अपने पुरुषत्व का परिचय देना तो उचित था किन्तु युद्ध को मानव जाति का शान्तिदाता नहीं माना जा सकता। इसी प्रसंग में बुद्धि और हृदय के संघर्ष के अवतरण की उद्भावना करके कवि ने भीष्म के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण किया है। यह प्रसंग विचारोत्तेजक होने के साथ कवि की सूक्ष्मेक्षिका का अच्छा परिचय देता है। पांचवें सर्ग में कवि ने अतीत इतिहास के पृष्ठों को पलटते हुए युद्ध की विकरालता को खड़ा किया है। उसने अतीत युद्धों में भी निर्माण नहीं देखा बल्कि उसे लगा कि अतीतकाल के युद्ध भी संहार के ही द्योतक थे—

यह स्वस्ति पाठ है या नव अनल प्रदाहन ?
यह शान्ति स्नान है या कि रुधिर अवगाहन ?

युद्ध के बाद समाज को जिस भयंकर परिस्थिति का सामना करना पड़ता है उसका चित्र भी कवि ने बड़ी सजीव भाषा में अंकित किया है। युधिष्ठिर इस सर्ग में अपनी युद्धलिप्सा को कदर्थित समझते हैं और अपने युद्ध-प्रयत्नों की सराहना नहीं करते।

छठा सर्ग 'कुरुक्षेत्र' का सबसे प्रौढ़ एवं विचारोद्भावक सर्ग है। कुछ आलोचक इस सर्ग को अप्रासंगिक और कुरुक्षेत्र के आख्यान से असम्बद्ध मानते हैं। उनकी सम्मति में इसकी अवतारणा करके कवि ने कथानक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उचित रूप से निर्वाह नहीं किया है। कवि ने अपने चिन्तन-मनन को ही इसमें स्थान दिया है। किन्तु जिस मूल उद्देश्य को लेकर 'कुरुक्षेत्र' की रचना हुई यदि उसे ध्यान में रखा जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि बीसवीं शती में विज्ञान द्वारा युद्ध-साधनों का जैसा दुरुपयोग हो रहा है उसे कवि ने इस सर्ग में व्यक्त किया है। विज्ञान के असीम उपकरण मानव कल्याण के साधन न होकर विनाश के लिए काम में लाये जावें यह दैव की विडम्बना नहीं तो क्या है। यह मानव समाज के साधनों की भयंकर असंगति है और यही प्रश्न है जो विविध रूपों में समाज के सामने आता रहा है। यदि कवि छठा सर्ग इतने ओजस्वी रूप में न लिखता तो कदाचित् 'कुरुक्षेत्र' का मूल प्रश्न जो मानव की चुनौती बनकर आया है इस

रूप में सामने ही न आता। 'कुरुक्षेत्र' समस्या-मूलक काव्य है; विचारों की ऊहापोह के कारण पाठक उन सभी प्रश्नों को इसमें देखना चाहता है जो युद्धजन्य विभीषिकाओं से उसके मन में उठते रहते हैं। विज्ञान के इस युग में जब हम वैज्ञानिक आविष्कारों का दुरुपयोग देखते हैं तब सामान्यत: प्रत्येक पाठक के मन में इन साधनों के प्रति तरह-तरह के विचार उठना स्वाभाविक है—

इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल।

* * *

वह मनुज जिसका गगन में जा रहा है यान,
कांपते जिसके करों को देखकर परमाणु।
खोलकर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश,
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।।

कवि ने छठे सर्ग में मानव जाति के विकास को सभ्यता का चरम विकास नहीं माना है। उसकी दृष्टि में युद्धलिप्सु मानव आज भी असभ्य और बर्बर दानव ही है। बौद्धिक विकास के द्वारा मानव ने अणु-आयुधों का आविष्कार करके किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं की, वह निरुद्देश्य भटक रहा है अत: आज भी वह असफल ही है—

बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय?
लक्ष्य क्या? उद्देश्य क्या? क्या अर्थ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ?

वर्तमानकाल में मनुष्य की बौद्धिक प्रगति को कवि विडम्बना समझता है। उसे आज का ज्ञानी मनुष्य युद्ध, हिंसा और प्रतिहिंसा रत श्वान-शृगाल जैसा लगता है—

यह मनुज ज्ञानी, शृगालों-कुक्कुरों से हीन
हो किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन।

युधिष्ठिर के रूप में जिस शंकाकुल मानव को 'दिनकर' ने इस सर्ग में अंकित किया है उसका समाधान सातवें सर्ग में भीष्म की वाणी से कराया है। काव्य के पूर्वार्द्ध में जो भीष्म युद्ध को कर्म भावना की प्रेरणा से ग्राह्य मानते थे, वे अब मानव और मानवता में भी अपना विश्वास प्रकट करते हैं। भीष्म का कहना है कि मानव ने अपने ही हाथों मानव का भले ही महाभारत के युद्ध में संहार किया हो किन्तु स्मरण रहे कि मानवता आज भी जीवित है और मानव की अन्वेषिणी शक्ति के बल से ही पुन: मानव का कल्याण होगा। मानव का श्रम कभी विफल नहीं जाता। श्रम की महत्ता को पहचानने के बाद स्वेदकणों से ही स्वर्णकणों की प्राप्ति होती है। श्रम की चोरी करने से सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती है। युद्ध और संघर्ष के दिन आते हैं, अमीरी और गरीबी पैदा होती हैं अत: श्रम की मर्यादा स्थापित करके समाज में कल्याण की स्थापना करना मनुष्य का कर्तव्य

है। कवि ने इस स्थल पर समाज की आर्थिक व्यवस्था को बड़ी गहराई से नापा-जोखा है। श्रम-महिमा पठनीय है—

नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम, वह भुजबल है
जिसके सम्मुख झुकी हुई
पृथिवी, विनीत नभतल है।

'कुरुक्षेत्र' में कवि के समस्त चिन्तन को हम दो भागों में विभाजित करके देख सकते हैं। पहले भाग में चिन्तन का आधार युद्ध की निस्सारता और तज्जन्य युधिष्ठिर का मानसिक विषाद है। भीष्म की उक्तियों से उस प्रश्न का समाधान हुआ है। अहिंसा में आस्था रखने वाले युधिष्ठिर को सन्तुलित विवेक का पाठ भीष्म ने ही पढ़ाया है। दूसरे भाग का चिन्तन मानवता या मनुष्यत्व को अन्तिम सत्य स्वीकार करने में प्रवृत्त करता है। यदि सत्य का अनुसंधान करना है तो वह कर्मभूमि में ही उपलब्ध होगा और मनुष्य ही उसे खोज कर लायगा। यह समझना कि युद्ध में मनुष्य समाप्त हो जाता है, भूल है। मनुष्य मिटते हैं, मरते हैं, पर मनुष्यता नहीं मिटती और अन्त में वह कर्म की सुदृढ़ भूमि पर पांव जमाकर मानव को युद्ध और संघर्ष के बीच में भी जीवित रखकर ध्येय तक पहुंचाने में सफल होती है।

'कुरुक्षेत्र' के बाद 'दिनकर' की काव्यधारा में पुनः एक नवीन तरंग उत्पन्न हुई। 'सामधेनी' में संकलित गीत इसी हिलोर के प्रतीक हैं। काव्यपरिधान की नवीनता के साथ कवि की चिन्तन-मनन शैली में परिवर्तन दृष्टिगत हुआ। कविता में हार्दिकता का समावेश करके उसे शुष्क बौद्धिकता के केंचुल से कवि ने दूर रखा। जिन समस्याओं का समाधान बौद्धिक चिन्तन द्वारा ही सम्भव है उन्हें भी कवि ने अपनी सरस शैली से हार्दिकता के परिवेश में रखकर ही छन्दोबद्ध किया। जब कवि बौद्धिक युग के मानव को ललकारता है तब शुष्क बौद्धिक होकर कवि-कर्म क्यों करे! 'सामधेनी' में हृदय को मुग्ध करने वाली सुन्दर कविताओं के साथ 'हुंकार' की परम्परा वाली राष्ट्रीय कविताएं भी हैं। 'दिनकर' की परुष-भावना को इन कविताओं में पुनर्जीवन मिला है। भाषा की दृष्टि से 'सामधेनी' कवि की प्रौढ़ता का परिचय देती है। ज्यों-ज्यों कवि आगे बढ़ता गया है वह विचार और भाव के गंभीर तल को स्पर्श करने लगा है साथ ही भाषा में भी प्रेषणीयता की मात्रा बढ़ती गई है। सरलतम शब्दों से गंभीर भाव इस रचना में व्यक्त हुए हैं. सरलतम भाषा का उदाहरण देखिए—

कल्पना की जीभ में भी धार होती है।
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

* * *

विष का सदा लहू में संचार मांगता हूं,
बेचैन ज़िन्दगी का मैं प्यार मांगता हूं:

'सामधेनी' में कवि ने कुछ ऐसी राजनीतिक समस्याओं की ओर भी संकेत किये हैं जो आज के युग में भारतीय समाज में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। 'मास्को और दिल्ली' कविता में साम्यवादी विचारधारा पर भारतीय दृष्टि से कवि ने विचार किया है। 'कलिंग विजय' भी एक गंभीर कविता है जिसमें युद्ध की निस्सारता प्रदर्शित की गई है। अहिंसामूलक गांधीवाद की पोषक यह कविता 'कुरुक्षेत्र' का पृष्ठाधार कही जा सकती है।

'कुरुक्षेत्र' और 'सामधेनी' का अनुशीलन इस तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है कि 'दिनकर' की काव्य-साधना में क्रान्ति का जो स्फुलिंग पनप रहा था वह निर्माणोन्मुख चेतना का था। कवि को इस काल की राजनीतिक परिस्थियों ने यह स्पष्ट रूप से बता दिया कि इस युग में यदि शान्ति और समृद्धि का वातावरण पैदा किया जा सकता है तो वह केवल अहिंसा, प्रेम और शान्ति द्वारा ही सम्भव है। फलतः गांधीवादी जीवन-दर्शन की ओर कवि का रुझान हुआ और उसने 'बापू दर्शन' लिखा। इस संग्रह की कविताओं का विषय नाम से ही स्पष्ट है। 'बापू' की उस मनोदशा का कवि ने इसमें चित्रण किया है जो भारत-विभाजन से कुछ दिनों पूर्व नोआखाली और कलकत्ता में नर-मेध के प्रचंड तांडव को देखकर हुई थी। बापू की प्रशस्तियों में कवि ने उनके आन्तरिक भावनाओं को जीवन्त कर दिया है, यही इसकी विशेषता है। बापू की एक तस्वीर देखिए—

तू सहज शान्ति का दूत
मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी,
इसमें उँड़ेलकर सहजशील
देखती तुझे दुनियां सारी।
धरती की छाती से अजस्र
चिरसंचित क्षीर उमड़ता है
आंखों में भरकर सुधा तुझे
यह अम्बर देखा करता है।

बापू की पूजा-आराधना में आज का मानव किस प्रकार असमर्थ है इस भाव को कवि ने यों व्यक्त किया है—

लज्जित मेरे शृंगार तिलक
माला भी यदि ले आऊं मैं,
किस भांति उठूं इतना ऊपर
मस्तक कैसे छू पाऊं मैं।
ग्रीवा तक हाथ न जा सकता
उंगली न छू सकती ललाट
वामन की पूजा किस प्रकार

पहुंचे तुझ तक मानव विराट् !

बापू के बलिदान पर कवि ने बड़ी विषण्ण-भावना से जो भाव प्रकट किये उनमें बापू की दिव्यता स्वयं साकार हो उठी है--

यह लाश मनुज की नहीं
मनुजता के सौभाग्य विधाता की
बापू की अरथी नहीं चली
अरथी यह भारतमाता की।

'दिनकर' की बालोपदेशी कविताओं का एक संग्रह 'धूप-छांह' प्रकाशित हुआ है। इसमें हल्की-फुल्की आनन्ददायिनी शिक्षाप्रद सोलह कविताएं हैं। अनुवाद करके कवि ने कुछ कविताएं प्रवाहमयी भाषा में रखी हैं। इधर कविता के कई रूप 'दिनकर' के काव्य में दृष्टिगत हो रहे हैं। रुबाइयां, व्यंग्य, हास्य-पुलक तथा गंभीर चिन्तन सभी कुछ वे लिख रहे हैं। दो नवीन कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। 'चक्रवाल' पुराने संग्रहों में से चयन करके प्रतिनिधि संकलन तैयार किया गया है। इसकी विशद भूमिका में काव्य सम्बन्धी विचार पठनीय हैं। महाभारत के विख्यात पात्र कर्ण के चरित्र पर आधृत 'रश्मिरथी' काव्य 'दिनकर' की वर्णन शैली का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। काव्य में प्रवाह के साथ चिन्तन की सामग्री है।

काव्य-सौष्ठव

'दिनकर' की काव्यात्मा का विश्लेषण करते समय हमें उन प्रभावों पर भी विचार करना चाहिए जो उन्हें प्रेरणा और बल देते रहे हैं। कवि ने 'रसवन्ती' की भूमिका में एक संकेत किया है जो इस बात की सूचना देता है कि प्रत्येक कवि किसी न किसी प्रतिभा से प्रभावित अवश्य होता है और उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष असर उस पर पड़ता है। वे लिखते हैं--"शुद्ध मौलिकता में मेरा विश्वास नहीं है, तथा जिस प्रकार मैं हिमालय और हिंद महासागर का ऋणी हूं, उसी प्रकार रवीन्द्र, इक़बाल और दूसरे कवियों का भी ऋण मुझ पर है।" इन दो महाकवियों के अतिरिक्त 'दिनकर' के काव्य के अनुशीलन से स्पष्ट विदित होता है कि उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी और उर्दू के कवियों से अनेक दिशाओं में स्वस्थ प्रभाव ग्रहण किये हैं। कालिदास, कबीर, तुलसी, शेक्सपियर, शेली, कीट्स, काजी नज़रुल इस्लाम आदि इन कवियों में प्रमुख हैं। कुछ आधुनिक युग के कवि भी 'दिनकर' को प्रभावित करने में समर्थ हुए प्रतीत होते हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान की उत्साहमयी कृतियों के प्रति 'दिनकर' का स्नेह भाव स्पष्ट है। 'दिनकर' इकबाल को युग विधायक महाकवि मानते हैं। उनकी मूल प्रेरणा में 'दिनकर' की आस्था है अतः उनका प्रभाव ग्रहण करने में भी 'दिनकर' को संकोच नहीं है। 'दिनकर' की कविता से यह तो स्पष्ट लक्षित होता है कि उन्होंने उर्दू शायरी को गहराई के साथ पढ़ा है।

कवि 'दिनकर' की कविता का अंगी रस वीर है। उत्साह और शौर्य की व्यंजना करने वाले मनोरम गीतों से इनके संग्रह भरे पड़े हैं। 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने उत्साह—जीवन के प्रति निष्ठापूर्ण उत्साह—की ही अभिव्यक्ति की है। 'रसवन्ती' की कुछ कविताएं शृंगार रस की व्यंजक हैं और उनमें रति भाव की निष्पत्ति हुई है। वीर और शृंगार के अतिरिक्त क्रोध और भयानक की भी छटा यत्र-तत्र देखी जा सकती है। 'रेणुका' में संसार की नश्वरता के सम्बन्ध में जो गीत लिखे हैं उनमें शान्त रस का स्थायी निर्वेद भी अपनी छटा दिखा रहा है। किन्तु शृंगार और शान्त 'दिनकर' के काव्य की आत्मा नहीं माने जा सकते। कवि संसार की क्षणभंगुरता से कविता के क्षेत्र में आया, उसने जगत् को पहले मायावाद के दृष्टिकोण से देखा किन्तु शनैः-शनैः उसका दृष्टिकोण बदलता गया। सौन्दर्य और शृंगार के गीत भी उसने गाये। किन्तु क्रान्ति और निर्माण ही अन्त में उसे वरेण्य प्रतीत हुए। प्रगति का चिह्न यही है कि कवि किसी जड़ता या रूढ़ परम्परा में आबद्ध होकर न रह जाय वरन् वयक्रम और विवेक के साथ आगे भी बढ़ता रहे। 'दिनकर' में यह प्रगति स्पष्ट देखी जा सकती है।

उनकी शैली और छन्द-योजना भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि कवि 'दिनकर' ने अपने को किसी संकीर्ण सीमा में बांध कर नहीं रखा, वरन् वे संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू सभी का उपयोग करते रहे हैं। 'कुरुक्षेत्र' में मुक्तक छन्द का उन्होंने बड़ी सफलता से प्रयोग किया है। गीतों की सृष्टि में भी उन्हें अद्भुत सफलता है। उनकी शैली और परिधान में नवीनता है।

'दिनकर' ने काव्य के अलंकरणीय उपकरणों का प्रयोग अपने काव्य के प्रतिपाद्य को सामने रखकर किया है। वे छायावाद के चरमोत्कर्ष काल में आये और प्रगतिवाद के विकास के साथ पनपे। इन दोनों कालों की अभिव्यंजनात्मक प्रवृत्तियों की छाप उनके काव्य पर पड़ना स्वाभाविक था। 'रसवन्ती' और 'रेणुका' के गीतों का प्रसाधन छायावादी शैली से करने पर भी कवि ने सूक्ष्म उपमानों और प्रतीकों को अधिक स्थान नहीं दिया। 'दिनकर' की समस्त अप्रस्तुत योजना ऐसी है कि सामान्य पाठक भी उसका आधार पकड़ सकता है। लाक्षणिक प्रयोगों के आधार पर व्यंजना की शैली 'दिनकर' की प्रिय शैली है। शब्दों द्वारा भाव को सजीव, मूर्तिमन्त करने की कला में भी आप दक्ष हैं। छायावादी कवियों के समान मानवीकरण का कौशल भी आपमें पर्याप्त है। उपमानके लिए रूढ़ शब्दों के स्थान पर भाव-व्यंजक नवीन उपमानों की आपने उद्भावना करके कविता को समृद्ध बनाया है। अलंकारों में नवीनता का प्रयोग है। भाषा की लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता, मूर्तिमत्ता, नवीनता और प्रांजलता आदि सभी गुण आपकी कविता में हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

कुशल विधि के मन की नवनीत

'नवनीत' शब्द नारी की सुकुमारता और स्निग्धता के लिए सफल लाक्षणिक एवं प्रतीकात्मक प्रयोग है—

दम तोड़ती बुढ़िया-सी, दुनियां पड़ी हुई है।

⚘ ⚘ ⚘

हवा दमे की मारी कुछ चलकर थक जाती है।

⚘ ⚘ ⚘

विश्वास कांपता है रह-रह।

⚘ ⚘ ⚘

हिलती वसुंधरा की झांकी,

⚘ ⚘ ⚘

बुझती परम्परा की झांकी।

उपर्युक्त रेखांकित पदों में भाव की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने जिन सशक्त एवं मूर्तिमन्त शब्दों का चयन किया है वह काव्य की क्षमता का प्रमाण है। शब्दों द्वारा वस्तु या दृश्य का चित्र खड़ा करने में भी 'दिनकर' को अद्भुत सफलता मिली है—

देखती टुक टुक, खड़ी तस्वीर-सी।

⚘ ⚘ ⚘

यौवन की विनती-सी भोली, गुम सुम खड़ी शरम-सी।

⚘ ⚘ ⚘

फूंक-फूंक चलती न जवानी, चोटों से बचकर झुककर।

⚘ ⚘ ⚘

आह वासना की वे आकुलताएँ।

⚘ ⚘ ⚘

टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण।

⚘ ⚘ ⚘

बिखरी लट, आंसू छलके हैं,
देख वन्दिनी है बल खाती।

भाषा के एकरूपता को 'दिनकर' ने स्वीकार नहीं किया। जिस प्रकार 'दिनकर' के वर्ण्य-विषय बदले हैं वैसे ही भाषा में भी परिवर्तन को उन्होंने स्वीकार किया है। संस्कृत की तत्सम पदावली के प्राचुर्य के साथ उर्दू और फारसी के शब्दों का भी आपकी रचना में बाहुल्य है। उर्दू-फारसी के शब्दों में जो रवानगी आपने देखी है वैसी हिन्दी के बहुत कम कवियों के काव्य में देखने में आती है। तत्सम शब्दों के बाहुल्य का उदाहरण उनकी 'स्वर्ग दहन' कविता है—

मेरी ध्वनि के छा गये त्रिदिव में प्रतिध्वान,
सुरवर्त्म स्तब्ध, रुक गया, विभावसु का विमान।
मन्दार तप्त, तप रहा सुरों का गन्धवाह,
भ्रम रहा स्वर्ग में स्वरारूढ़ भू का प्रदाह।

उर्दू-फारसी के शब्दों का सहज-सरल प्रयोग उनकी क्रान्ति-भावना को व्यक्त करने वाली अनेक कविताओं में देखा जा सकता है--

है बँधी तकदीर जलती डार से
आशियां को छोड़ उड़ जाऊँ कहाँ।

* * *

मंजिल दूर नहीं अपनी दुख का बोझा ढोनेवाले।
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले।

* * *

जिन्हें देखकर डोल गई हिम्मत दिलेर मरदानों की,
उन मौजों पर चली जा रही किश्ती कुछ दीवानों की।

देशज शब्दों का प्रयोग 'दिनकर' को इसलिए प्रिय है कि उनमें से आत्मीयता और प्रगाढ़ परिचय का जो भाव फूटा पड़ता है वह कोप और काव्य के क्लिष्ट-श्लिष्ट शब्दों में भला कहाँ होता है। प्रयोग देखिए--

'भैया लिख दे एक कलम खत मो बालक के जोग।
चारों कोने खेम कुसल मांझे ठां मोर वियोग।'
वह देख-देख हर्षाती है कुछ छिगुन-छिगुन रह जाती है।

भाषा की क्षमता उसकी प्रेषणीयता में है। प्रेषणीयता के लिए अलंकार, प्रतीक, लक्षणा, व्यंजना आदि का व्यापार होता है। 'दिनकर' की भाषा में अपने अभिप्रेत भाव को प्रेषणीय बनाने की ऐसी शक्ति है जो बिना आयास के ही पाठक तक पहुँच जाती है। कुछ कविताओं में तत्सम (संस्कृत) शब्द क्लिष्ट अवश्य दीख पड़ते हैं किन्तु समवेत रूप में हम 'दिनकर' को सरल और सुबोध कवि मानते हैं। हिन्दी भाषा की प्रकृति को पहचान-कर 'दिनकर' ने उसमें प्रयोग किए हैं। वीर रसानुकूल खड़ी बोली का उर्जस्वी रूप यदि कहीं दृष्टिगत होता है तो वह 'दिनकर' के काव्य में ही है। ओज गुण का भावोद्दीप्त निखार करके 'कुरुक्षेत्र' में कवि ने उसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया है।

संक्षेप में, 'दिनकर' क्रान्ति का संदेश देनेवाले हिन्दी के समर्थ कवि हैं। उनके काव्य में निर्माण का संदेश है, विनाश का नहीं। वे जीर्ण-शीर्ण, पुरातन को ध्वस्त करके केवल उसकी रक्षा चाहते हैं जो हमारे भावी उत्थान में सहायक हो सके। उन्हें दानवता और दासता से विद्रोह करना है, मानवता से नहीं। मानवता की रक्षा के साथ वे संसार को विकास के पथ पर अग्रसर होते हुए देखना चाहते हैं। उन्होंने अपनी कविता में भाव, भाषा, छन्द और शैली के नवीन प्रयोग किए। हिन्दी कविता को नई दिशा दी किन्तु उस प्राचीन की रक्षा की जो भावी निर्माण में सहायक था। उनके प्रयोगों के भीतर स्वस्थ प्रवृत्तियों की रक्षा का आग्रह है। वे युगद्रष्टा और स्रष्टा कवि के रूप में निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर रहे हैं। देश को उनसे बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं।

* * *